

हिन्दुस्तानी एकेडेंमी, पुस्तकालय
इलाहाबाद

वर्ग संख्या.....२६४.७८२४०३.....

पुस्तक संख्या.....वसु।अ-२.....

क्रम संख्या.....४२८२.....

आचार्य वसुबन्धुकृत

अभिधर्मकोश

[लुई द ला वाले पुसैं के फ़्रेंच में सॉटप्पण अनुवाद का भाषान्तर]

नरेन्द्रदेव

द्वितीय कोशस्थान

हिंदुस्तानी एकेडेमी, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद

अभिधर्मकोश

२३

इन्द्रिय

[१०३] इन्द्रिय (१-२१), परमाणु (२२), चैत (२३-३४), चित्तविप्रयुक्त धर्म (३५-४८), हेतु-फल (४९-९३)

१. इन्द्रिय (१-२१)

धातुओं में (१.४८) हमने इन्द्रियों को परिगणित किया है ।

‘इन्द्रिय’ शब्द का क्या अर्थ है ?

‘इदि’ धातु का अर्थ परमैश्वर्य है (धातुपाठ, १.६४) । जिसकी परमैश्वर्य की प्रवृत्ति होती है वह इन्द्रिय कहलाता है । अतः सामान्यतः इन्द्रिय का अर्थ ‘अधिपति’ है ।^१

चतुर्वर्त्येषु पञ्चानामाधिपत्यं द्वयोः किल ।

चतुर्णां पञ्चकाष्ठानां संक्लेशव्यवदानयोः ॥१॥

प्रत्येक इन्द्रिय के आधिपत्य का क्या विषय है ?

१. सिद्धान्त के अनुसार पाँच का आधिपत्य चार अर्थों में है; चार का दो अर्थों में; पाँच, आठ का संक्लेश और व्यवदान में ।^२

१. चक्षुरिन्द्रियादि ५ इन्द्रियों में से—५ विज्ञानेन्द्रियों में से—प्रत्येक (१) आत्मभावशोभा, (२) आत्मभाव-परिरक्षण,

[१०४] (३) विज्ञान और तद्विज्ञान-संप्रयुक्त चैतसिकों का उत्पाद, (४) असाधारणकारणत्व, इन विषयों में अधिपति है (विभाषा, १४२, १०) ।

चक्षु और श्रोत्र (१) शोभा में अधिपति हैं क्योंकि जिस शरीर में उनका अभाव होता है वह सुरूप नहीं होता (१.१९); (२) परिरक्षण में अधिपति हैं क्योंकि देखकर और

^१ २.२ ए पर नीचे, आधिपत्य = अधिकप्रभुत्व ।

सेन्ट पीटर्सबर्ग डिक्शनरी में उद्धृत सिद्धान्तकौमुदी देखिए;

गार्बे : सांख्य फिलासफी २५७ । अथसालिनी, ३०४ इत्यादि में दिए हुए इन्द्रियों के व्याख्यान से तुलना कीजिए । ‘इदि’ के लिए जिस चीनी शब्द का प्रयोग हुआ है उसका अर्थ है ‘अधि-पति’ ।

^२ [चतुर्वर्त्येषु पञ्चानाम् आधिपत्यम्] द्वयोः किल ।

[चतुर्णां पञ्चकाष्ठानां] संक्लेशव्यवदानयोः ॥

समयप्रदीपिका की कारिका २.१ में ‘किल’ शब्द नहीं है; वसुबन्धु इस शब्द से सूचित करते हैं कि वह वैभाषिक मत से सहमत नहीं हैं । कारिका २.२-४ जहाँ वसुबन्धु सूत्रान्तिक मत का व्याख्यान करते हैं समयप्रदीपिका में नहीं हैं ।

सुनकर पुद्गल विषम-परिहार करता है; (३) चक्षुर्विज्ञान और श्रोत्रविज्ञान इन दो विज्ञानों के तथा उनके संप्रयोग चैतसिक धर्मों के उत्पाद में अधिपति हैं; (४) असाधारणकारणत्व में अधिपति हैं: रूपदर्शन, शब्दश्रवण।

घ्राण, जिह्वा और कायेन्द्रिय का (१) पूर्ववत् आत्मभावशोभा में आधिपत्य है; (२) कवडीकार-आहार (३.३९) के परिभोग से परिरक्षण में आधिपत्य है; (३) तीन विज्ञानों के उत्पाद में आधिपत्य है; (४) असाधारणकारणत्व में आधिपत्य है: गन्ध-घ्राण, रसों का आस्वादन, स्प्रष्टव्यों का स्पर्श।

२. चार इन्द्रिय अर्थात् पुरुषेन्द्रिय, स्त्रीन्द्रिय, जीवितेन्द्रिय और मन-इन्द्रिय इनमें से प्रत्येक का आधिपत्य दो अर्थों में है (विभाषा, १४७, १०)।

(१) पुरुषेन्द्रिय और स्त्रीन्द्रिय का आधिपत्य (१) सत्त्वभेद में है: इन दो इन्द्रियों के कारण सत्त्वों में स्त्री-पुरुष-भेद होता है; (२) सत्त्वविकल्प-भेद में है: इन दो इन्द्रियों के कारण स्त्री-पुरुष में संस्थान, स्वर और आचार का अन्यथात्व होता है।^१

अन्य आचार्य^२ इस व्याख्यान को स्वीकार नहीं करते। वास्तव में रूप-धातु के देवों में जो पुरुषेन्द्रिय-स्त्रीन्द्रिय में समन्वागत नहीं होते (१.३०) सत्त्व-विकल्प-भेद होता है और इन भेदों के कारण सत्त्व स्त्री-पुरुष में विभक्त होते हैं।

[१०५] अतः यदि पुरुषेन्द्रिय और स्त्रीन्द्रिय का आधिपत्य दो दृष्टि से है तो वह संक्लेश और व्यवदान में अधिपति हैं: वास्तव में स्त्री-पुरुषेन्द्रिय से वियुक्त-विकल, पण्ड, पण्डक और उभयव्यंजनों के (१) सांक्लेशिक धर्म नहीं होते: असंवर (४.१३ बी), आनन्तर्य (४.१०३), कुशलमूल-समुच्छेद (४.८०) और (२) वैयवदानिक धर्म यथा संवर (४.१३ बी), फलप्राप्ति (६.५१), वैराग्य (६.४५ सी) नहीं होते (२.१९ सी-डी देखिए)।

(२) जीवितेन्द्रिय का आधिपत्य (१) निकायसभाग (२.४२ ए) के सम्बन्ध में है अर्थात् निकायसभाग की उत्पत्ति में है; (२) निकायसभाग के संधारण में है अर्थात् जन्म से मृत्युपर्यन्त उसके अवस्थान में है।

(३) मन-इन्द्रिय का आधिपत्य (१) पुनर्भव-सम्बन्ध में है जैसा कि सूत्र में उक्त है: “जब गन्धर्व में, अन्तराभव के सत्त्व में, इन दो चित्तों में से एक चित्त, रागचित्त या द्वेषचित्त, उत्पन्न होता है” (३.१५); (२) वशीभावानुवर्तन में है: जैसा निम्न गाथा में उक्त है कि लोक और धर्म चित्त के वशीभूत हैं:—

^१ बुद्धघोष अथसालिनी (६४१) में बताते हैं कि बालकों के खेल बालिकाओं के खेल से भिन्न हैं इत्यादि। विभाषा, १४२ के अन्त में; अथसालिनी, ३२१—“स्त्रियों की आकृति स्त्रीन्द्रिय नहीं है। स्त्रीन्द्रिय के कारण आकृति का उत्पाद प्रवृत्ति-काल में होता है।”

^२ व्याख्या के अनुसार पूर्वाचार्य [व्या० ९४.१३]

“चित्त से लोक उपनीत होता है, चित्त से परिकृष्ट होता है: सब धर्म इस एक धर्म चित्त के वशानुवर्ती हैं।”^१

३. पाँच वेदनेन्द्रिय अर्थात् सुख, दुःख, सौमनस्य, दौर्मनस्य, उपेक्षा (२.७), यह ५ वेदना और श्रद्धादि ८ इन्द्रिय अर्थात् श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा (२.२४) और तीन अनाल्लव इन्द्रिय (२.१०)—यह यथाक्रम संक्लेश और व्यवदान में अधिपति हैं।

[१०६] वेदनेन्द्रिय का संक्लेश में आधिपत्य है क्योंकि रागादि अनुशय वेदनाओं में व्यासक्त होते हैं; वहाँ अनुशयन करते हैं (तदनुशयित्वात्) । [व्या ९५.२४ में तदनुशयित्वात् पाठ है] । श्रद्धा तथा अन्य सात इन्द्रियों का आधिपत्य व्यवदान में है क्योंकि इनके कारण विशुद्धि का लाभ होता है^१ । अन्य आचार्यों के अनुसार (विभाषा, १४२, ११) वेदनेन्द्रियों का आधिपत्य व्यवदान में भी है क्योंकि सूत्र में कहा है: सुखितस्य चित्तं समाधीयते^२ [व्या ९६.१], दुःखोपनिषच्छ्रद्धा^३, षण्णैःकम्याश्रिताः सौमनस्यादयः^४ [व्या ९६.१, ४] । यह वैभाषिकों का व्याख्यान है।

^१ चित्तेन नीयते लोकश्चित्तेन परिकृष्यते ।

एकधर्मस्य चित्तस्य सर्वे धर्मा वशानुगाः ॥ [व्या० ९५.२२]

संयुक्त, १.३९.

असंग (सूत्रालंकार, १८.८३, पृ. १५१, लेवी द्वारा संपादित) संस्कारों पर चित्त के आधिपत्य को प्रदर्शित करते हैं: चित्तेनायं लोको नीयते चित्तेन परिकृष्यते चित्तस्योत्पन्नस्य वशे वर्तते (अंगुत्तर, २.१७७) ।

मनस् संक्लेश और व्यवदान में अधिपति है, विभाषा १४२, पृ० ७३१, ७३२ (भदन्त कुशवर्मन्); सिद्धि, २१४ ।

^१ श्रुतानु चाडः “क्योंकि सर्वे अनाल्लव धर्म उनके पश्चात् उत्पन्न और विपुलता को प्राप्त होते हैं ।”

^२ “जो सुखावेदना का प्रतिवेदन करता है उसका चित्त समाहित होता है ।” विमुक्त्यायतन सत्र से उद्धृत; यह व्याख्या, पृ. ५६ (पेट्रोप्राड संस्करण) [व्या० ५४.७] (१.२७) में उद्धृत है; महाव्युत्पत्ति, ८१.

^३ “श्रद्धा दुःखहेतुका है,” संयुक्त, २.३१—‘उपनिषद्’ शब्द के इस अर्थ के लिए (=हेतु) नीचे २.४९ (हेतु और प्रत्यय पर टिप्पणी) देखिए, अंगुत्तर, ४.३५१=सुत्तनिपात (द्वयतानुपस्सनासत्त) (...का उपनिषा सवनाय), सूत्रालंकार, ११.९ (योगोपनिषद्=योगहेतुक)—‘तुलना’ ‘संयोग’ के अर्थ में पाणिनि, १.४, ७९, वज्रच्छेदिका, ३५, १०, ४२, ७ और हार्नले मैनुस्क्रिप्ट रिमेन्स, १. पृ. १९२ (उपनिषा न क्षमते), सुखावती व्याह, ३१, ९, महाव्युत्पत्ति, २२३, १५—‘उपांशु’ के अर्थ में यशोमित्र (२.४९ पर) बोध, २.२५९ का उल्लेख करते हैं (सूर्योपनिषदो देवाः=सुरियस्सूपनिस्सा देवा) : उपनिषच्छब्दस्तु कदाचित् उपांशौ कदाचित् प्रामुख्ये तद्यथा सूर्योपनिषदो देवा इत्युपांशुप्रयोग उपनिषत्प्रयोग इति (ई० लाएमान, जेड डी एम जी० ६२, पृ. १०१ के अनुसार उपनिषा=उपनिस्सा=गुण्डलागे, नाहे, जिससे विशेषण ‘उपनिस्स’ है)—मिनाएव, जापिस्की, २.३, २७७ देखिए; वोगिहारा, जेड डी एम जी० ५८, ४५४ (दानोपनिषदा शीलोपनिषदा....प्रज्ञया) और असंग की बोधिसत्वभूमि, पृ. २१; एस. लेवी, सूत्रालंकार, ११.९ पर

^४ सूत्र कहता है: चक्षुर्विज्ञेयानि रूपाणि प्रतीत्योत्पद्यते सौमनस्यं नैःकम्याश्रितम् ।...मनः

[१०७] सौत्रान्तिक^१ इसकी आलोचना करते हैं: (१) चक्षुरादि इन्द्रिय का आधिपत्य आत्मभाव-परिरक्षण में नहीं है। यहाँ आधिपत्य चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्रविज्ञान आदि विज्ञान का है अर्थात् जान कर ही विषम-परिहार होता है, जान कर ही कबडीकार-आहार का परिभोग होता है। (२) असाधारणकारणत्व अर्थात् रूप-दर्शन आदि विज्ञान से अन्य नहीं है, यह विज्ञान का (१.४२) है, इन्द्रिय का नहीं।—अन्य इन्द्रियों के आधिपत्य का व्याख्यान भी समान रूप से अयुक्त है।

अतः इन्द्रियों के आधिपत्य का क्या अर्थ है ?

स्वार्थोपलब्ध्याधिपत्यात् सर्वस्य च षडिन्द्रियम् ।

स्त्रीत्वपुंस्त्वाधिपत्यात् कायात् स्त्रीपुरुषेन्द्रिये ॥२॥

२ ए-बी. (१) अपने अर्थ की उपलब्धि में (२) सर्वार्थ की उपलब्धि में आधिपत्य होने से ६ इन्द्रिय हैं।^२

अर्थात् ६ विज्ञानकाय के सम्बन्ध में उनका आधिपत्य होने से। चक्षुरादि पाँच इन्द्रिय का चक्षु-विज्ञानादि ५ विज्ञानकाय में आधिपत्य है। इनमें से प्रत्येक रूपादि का अर्थात् अपने-अपने अर्थ का ग्रहण करता है। मन-इन्द्रिय का आधिपत्य मनोविज्ञान पर है जो सब अर्थों की उपलब्धि करता है। इस प्रकार ६ इन्द्रिय अधिपति हैं। किन्तु क्या यह कहा जाएगा कि रूपादि इन्द्रिय-विषय का भी विज्ञान पर आधिपत्य है और इसलिए इन अर्थों को भी इन्द्रिय समझना चाहिए? वास्तव में यह अधिपति नहीं है। 'आधिपत्य' का अर्थ 'अधिकप्रभुत्व' है। चक्षु का आधिपत्य है (१) क्योंकि सर्व रूपोपलब्धि का सामान्य कारण होने से यह रूपोपलब्धि की उत्पत्ति में इस अधिकप्रभुत्व का प्रयोग करता है किन्तु प्रत्येक रूप केवल एक विज्ञान की उत्पत्ति में ही कारण होता है; (२) चक्षु की पटुता या मन्दता के अनुसार उपलब्धि भी स्पष्ट या अस्पष्ट, पटु या मन्द होती है:

[१०८] रूप का ऐसा ऐश्वर्य नहीं है। अन्य विज्ञानेन्द्रिय और उनके अर्थ के लिए भी (१.४५ ए-बी) यही योजना करनी चाहिए।

२ सी-डी. पुंस्त्व और स्त्रीत्व पर उनका आधिपत्य होने से काय में पुरुषेन्द्रिय और स्त्री-न्द्रिय का विशेष करते हैं।^३

प्रतीत्य धर्माश्चोत्पद्यते सौमनस्यम् । . . दौर्मनस्यम् . . . उपेक्षा [व्या० ९६.७]
नैष्कर्म्य = 'अनास्रव या सास्रव मार्ग' अथवा 'निष्क्रमण अथवा धातु या संसार से वैराग्य'—
४.७७ बी-सी भी देखिए। आश्रित = 'जिसका आलम्बन है' या 'अनुकूल'। अतः यह अर्थ है: "रूपादि के कारण ६ सौमनस्य, ६ दौर्मनस्य, ६ उपेक्षा हैं जो नैष्कर्म्य के अनुकूल हैं।" मज्झिम, ३.२१८, संयुत, ४.२३२, मज्झिम, ३.२१७, मिलिन्द, ४५ (नेक्खम्मसित) से तुलना कीजिए।

^१ वसुबन्धु कहते हैं: "अन्य आचार्य . . ."

^२ [स्व] सर्वार्थोपलब्धौ [त्वाधिपत्यादिन्द्रियाणि षट्]

[व्या० ९६.२३ में स्वार्थोपलब्ध्याधिपत्यात् पाठ है]

^३ [स्त्रीत्वे पुंस्त्वे चाधिपत्यात्] कायात् स्त्रीपुरुषेन्द्रिये। [व्या० ९७.५]

पुरुषेन्द्रिय और स्त्रीन्द्रिय कायेन्द्रिय के भाग हैं। यह दो इन्द्रिय कायेन्द्रिय से पृथक् नहीं हैं। यह स्पष्टव्य विज्ञान के जनक हैं। किन्तु कायेन्द्रिय के एक भाग को पुरुषेन्द्रिय या स्त्रीन्द्रिय कहते हैं क्योंकि इस भाग का पुंस्त्व या स्त्रीत्व पर अधिक ऐश्वर्य है। स्त्रीत्व^२ स्त्री की आकृति-स्वर-चेष्टा-अभिप्राय है। पुंस्त्व को भी इसी प्रकार समझना चाहिए। काय के इन दो भागों के कारण दो स्वभावों में भेद है। इसलिए हम जानते हैं कि इन दो भागों का इन दो स्वभावों पर आधिपत्य है। अतः वह इन्द्रिय हैं।

३. निकाय-स्थिति, संक्लेश और व्यवदान पर इनका आधिपत्य होने से जीवितेन्द्रिय, वेदनेन्द्रिय और श्रद्धादि पंचक की इन्द्रियता मानी जाती है।^३

१. जन्म से मरणपर्यन्त निकायसभाग की स्थिति पर जीवितेन्द्रिय का आधिपत्य है। किन्तु इसका आधिपत्य निकायसभाग-सम्बन्ध पर नहीं है जैसा कि वैभाषिक कहते हैं। यह सम्बन्ध मनस् पर ही आश्रित है।

२. संक्लेश पर ५ वेदनाओं का आधिपत्य है क्योंकि सूत्र^४ कहता है कि “सुखावेदना [१०९] में राग अनुशयन करता है, दुःखावेदना में द्वेष, अदुःखासुखा में मोह^५”—यहाँ सौत्रान्तिकों का वैभाषिकों के साथ ऐकमत्य है।

निकायस्थितिसंक्लेशव्यवदानाधिपत्यतः ।

जीवितं वेदनाः पंच श्रद्धाद्याश्चेन्द्रियं मताः ॥३॥

३. श्रद्धादि पंचक—श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि, प्रज्ञा—का आधिपत्य व्यवदान में है क्योंकि उनके बल से क्लेश का विष्कम्भन (विष्कम्भ्यन्ते) और आर्यमार्ग का आवाहन होता है (आवाह्यते)^२।

आज्ञास्याम्याख्यमाज्ञाख्यमाज्ञातावीन्द्रियं तथा ।

उत्तरोत्तरसंप्राप्तिनिर्वाणाद्याधिपत्यतः ॥ ४ ॥

४. निर्वाणादि के उत्तरोत्तर-प्रतिलंब में इनका आधिपत्य होने से अनाज्ञातमाज्ञास्या-मीन्द्रिय, आज्ञेन्द्रिय, आज्ञातावीन्द्रिय उसी प्रकार इन्द्रिय हैं।^३

^२ धम्मसंगणि, ६३३ और अथसालिनी, ६४१ से तुलना कीजिए ।

^३ निकायस्थितिसंक्लेशव्यवदाना [धिपत्यतः ।

(जीवितवित्तिश्रद्धादिपंचकेन्द्रियता मता] ॥

^४ जापानी संपादक मध्यमागम १७, ११ का हवाला देते हैं।—

संयुक्त, ४. २०८ से तुलना कीजिए: यो सुखाय वेदनाय रागानुशयो सो अनुसेति ।

^५ सुखायां वेदनायां रागोऽनुशेते । दुःखायां द्वेषः । अदुःखा-सुखायां मोहः । ‘सुखा’ से सौमनस्य भी समझना चाहिए २.७ देखिए ।

५. २३ और ५४ से तुलना कीजिए; योगसूत्र, २. ७-८ से भी—सुखानुशयो रागः । दुःखानुशयो द्वेषः ।

^२ लौकिकमार्गगत श्रद्धादिपंचक क्लेशों का विष्कम्भन करते हैं; निर्वेधभागीयगत (६. ४५सी) श्रद्धादि से मार्ग का आवाहन होता है; जब यह अनाख्य हैं तब अनाज्ञातमाज्ञास्थामि आदि इन्द्रिय (२. ९ बी, ६. ६८) होते हैं ।

^३ परमार्थ और श्रुतान् चाङ्ग प्रथम पंक्ति का इस प्रकार अनुवाद करते हैं: “निर्वाणादि, उत्तरो-

“तथा” अर्थात् उसी प्रकार यह तीन इन्द्रिय माने जाते हैं। यह तीन अनास्रव इन्द्रिय हैं। इनका लक्षण २.१० ए-बी में बताया गया है।

१. द्वितीय के प्रतिलम्भ में प्रथम का आधिपत्य है।

तृतीय के प्रतिलम्भ में द्वितीय का आधिपत्य है।

निर्वाण अर्थात् निरुपधिशेषनिर्वाण के प्रतिलम्भ में तृतीय का आधिपत्य है। क्योंकि अविमुक्त चित्त का परिनिर्वाण नहीं होता।^४

[११०] २. ‘आदि’ शब्द सूचित करता है कि एक दूसरा व्याख्यान है। प्रथम का उन क्लेशों के क्षय पर आधिपत्य है जो दर्शनहेय हैं (५.४)। द्वितीय का उन क्लेशों के क्षय पर आधिपत्य है जो भावनाहेय हैं (५.५ ए)। तृतीय का दृष्टधर्मसुखविहार के प्रति अर्थात् क्लेशविमुक्ति से प्रीति (=सौमनस्य)-सुख (=प्रश्रब्धि-सुख, ८.९ बी) के प्रतिसंवेदन के प्रति आधिपत्य है। (पृ० ११२ देखिए)

चित्ताश्रयस्तद्विकल्पः स्थितिः संक्लेश एव च ।

संभारो व्यवदानं च यावता तावदिन्द्रियम् ॥५॥

केवल २२ इन्द्रिय क्यों परिगणित हैं ? यदि आप ‘इन्द्रिय’ उसको मानते हैं जिसका आधिपत्य है तो अविद्या और प्रतीत्यसमुत्पाद (३.२१) के अन्य अंग इन्द्रिय होंगे क्योंकि हेतु (अविद्यादि) का आधिपत्य कार्य (संस्कारादि) पर है। इसी प्रकार वाक्-पाणि-पाद-पायु-उपस्थ का भी वचन, आदान, विहरण (=चक्रमण), पुरीषोत्सर्ग, आनन्द के प्रति इन्द्रियत्व होगा।^१

हमारा उत्तर है कि जिस अर्थ से भगवत् ने २२ इन्द्रियाँ कहीं हैं उस अर्थ से इस सूची में अविद्यादि का अयोग है। इन्द्रियों की संख्या नियत करने में भगवत् ने निम्न बातों का विचार किया है:—

५. चित्त का आश्रय, चित्त के आश्रय का विकल्प, स्थिति और संक्लेश, व्यवदान-संभार और व्यवदान—एतावत् इन्द्रिय है।^२

त्तर मार्ग के प्रतिलम्भ में उनका आधिपत्य होने से”। तिब्बती=निर्वाणाद्युत्तरोत्तर-प्रतिलम्भेऽधिपत्यतः। धम्मसंगणि, २९६, ५०५, ५५३; नेत्तिप्पकरण, १५, ६०; काम्पेण्डियम्, पृ० १७७.

^४ आज्ञातावीन्द्रिय अहंत्व से मिश्रित है। इसमें क्षयज्ञान और अनुत्पादज्ञान संगृहीत हैं: यह ज्ञान कि क्लेशों का क्षय हो गया है और उनका अब और उत्पाद नहीं होगा, इत्यादि (६.४५, नेत्तिप्पकरण, पृ० १५)। वह क्लेशविमुक्ति और संतान-विमुक्ति से विमुक्त है: अतः उसका परिनिर्वाण या निरुपधिशेषनिर्वाण में आधिपत्य है।

^१ सांख्यों का आक्षेप—सांख्यकारिका, ३४.

^२ चित्ताश्रयस्तद्विकल्पः [स्थितिः संक्लेश एव च संभारो व्यवदानं च यावदेतावदिन्द्रियम्] ॥ [व्या० ९८.१] समयप्रदीपिका में इस कारिका की संख्या दो है।

१. चित्त का आश्रय अर्थात् ६ विज्ञानेन्द्रिय, चक्षु से आरम्भ करके यावत् मनस्। यह ६ आध्यात्मिक आयतन (१.३९, ३.२२) हैं जो मौल सत्त्व-द्रव्य हैं।^३

[१११] २. यह षड्विध आश्रय पुरुषेन्द्रिय-स्त्रीन्द्रिय के कारण विशिष्ट होता है।

३. जीवितेन्द्रियवश यह एक काल के लिए अवस्थान करता है।

४. पांच वेदनाओं से यह संक्लिष्ट होता है।

५. श्रद्धादि पंचक से इसका व्यवदान-संभरण होता है।

६. तीन अनास्रव इन्द्रियों से इसका व्यवदान होता है। सत्त्व और द्रव्यसत्त्व के विकल्पादि के विषय में जिन धर्मों का अधिपतिभाव होता है वह इन्द्रिय माने जाते हैं। वाक् आदि अन्य धर्मों में इस लक्षण का अभाव होता है।

प्रवृत्तेराश्रयोत्पत्तिस्थितिप्रत्युपभोगतः ।

चतुर्दश तथान्यानि निवृत्तेरिन्द्रियाणि वा ॥६॥

अन्य आचार्यों का दूसरा कल्प है:

६. अथवा १४ इन्द्रिय प्रवृत्ति के आश्रय, इस आश्रय की उत्पत्ति, स्थिति और उपभोग हैं; अन्य इन्द्रियों का निर्वाण के प्रति यही उपयोग है।^१

‘वा’ से अन्य आचार्यों के व्याख्यान का आरंभ सूचित होता है (अपरः कल्पः) [व्या० ९८. १२]

(१-६) चक्षुरायतन से यावत् मन-आयतन, यह षडायतन (३.२२), संसार के आश्रय हैं।^२

(७-८) पुरुषेन्द्रिय-स्त्रीन्द्रिय से षडायतन की उत्पत्ति होती है।^३

(९) जीवितेन्द्रिय से षडायतन की स्थिति होती है।

(१०-१४) ५ वेदनाओं से षडायतन का उपभोग होता है।

दूसरे पक्ष में :

[११२] (१५-१९) श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा यह पंचेन्द्रिय निवृत्ति (= निर्वाण) (१.६ ए-बी) के आश्रय (प्रतिष्ठा) हैं।

^३ यह शब्द हमको १.३५ में मिला है (पृ. १११ टिप्पणी २ भी देखिए)।

इन्द्रिय के ६ अधिष्ठान (इन्द्रियाधिष्ठान) अर्थात् चक्षुरूप आदि और ६ विज्ञान-काय (षड्विज्ञानकायाः) भी सत्त्वद्रव्य हैं किन्तु मौल नहीं हैं क्योंकि वह षडिन्द्रिय के आधिपत्य से संभूत हैं।

^१ प्रवृत्तेराश्रयोत्पत्ति [स्थित्युपभोगतोऽथवा ।

चतुर्दश तथान्यानि निवृत्ताविन्द्रियाणि च] ॥ [व्या० ९८.१३]

^२ षडायतनं मूलसत्त्वद्रव्यभूतं संसरतीति प्रवृत्तेराश्रयः । [व्या० ९८.२१]—

षडायतन प्रधानतः सत्त्व है जिसके बारे में कहते हैं कि संसरण करता है; अतः यह प्रवृत्ति का आश्रय है।

^३ प्रतिसन्धि-काल में केवल दो आयतन, काय और मनस्, होते हैं (२.१४)।

(२०) प्रथम अनास्रव इन्द्रिय से अर्थात् अनाज्ञातमाज्ञास्यामीन्द्रिय से निर्वाण का प्रभव आदिभाव होता है ।

(२१) द्वितीय अनास्रव इन्द्रिय-आज्ञेन्द्रिय-से निर्वाण की स्थिति, विपुलता होती है ।

(२२) तृतीय अनास्रव इन्द्रिय-आज्ञातावीन्द्रिय-से निर्वाण का उपभोग होता है क्योंकि इस इन्द्रिय से विमुक्ति के प्रीति-सुख का प्रतिसंवेदन होता है (देखिए पृ० ११०) ।

अतः इन्द्रियाँ एतावत् ही हैं और इसीलिए सूत्र में इनका यह अनुक्रम है । वाक्-पाणि-पाद-पायु-उपस्थ का इन्द्रियत्व नहीं है ।

१. वचन पर वाक् का आधिपत्य नहीं है क्योंकि वचन शिक्षाविशेष की अपेक्षा करता है^१ । २-३. पाणि-पाद का आदान और विहरण में आधिपत्य नहीं है क्योंकि जिसे आदान और विहरण कहते हैं वह पाणि-पाद से अन्य नहीं है । पाणि-पाद का द्वितीय क्षण में अन्यत्र अन्यथा अर्थात् अभिनव संस्थान के साथ (४. २ बी-डी) उत्पन्न होना आदान-विहरण कहलाता है । इसके अतिरिक्त हम देखते हैं कि उरग प्रभृति का आदान-विहरण बिना पाणि पाद के होता है ।^२ पुरीषोत्सर्ग में पायु का आधिपत्य नहीं है क्योंकि गुरु द्रव्य का सर्वत्र आकाश (=छिद्र) में पतन होता है । पुनः वायुधातु इस अशुचि द्रव्य का प्रेरण करता है और उसका उत्सर्ग करता है । ५. उपस्थ का भी आनन्द में आधिपत्य नहीं है क्योंकि आनन्द स्त्री-पुरुषेन्द्रियकृत है ।^३

[११३] यदि आप पाणिपादादि को इन्द्रिय मानते हैं तो आपको कंठ, दन्त, अक्षिवर्त्म, अंगुलिपर्व का भी अभ्यवहरण, चर्वण, उन्मेष-निमेष, संकोच-विकासक्रिया के प्रति इन्द्रियत्व मानना पड़ेगा । इसी प्रकार सर्वकारणभूत का जिसका जहां अपना पुरुषकार (२. ५८) होता है उस क्रिया के प्रति इन्द्रियत्व हागा । किन्तु उसी का इन्द्रियत्व इष्ट है जिसका आधिपत्य होता है ।

हमने चक्षुरादि और स्त्री-पुरुषेन्द्रिय का निर्देश किया है (१. ९-४४) । जीवितेन्द्रिय का निर्देश चित्तविप्रयुक्तों के साथ (२. ३५) होगा जिनमें यह परिगणित है । श्रद्धादि पंचक चैत हैं, अतः चैतों (२. २४) में उनका निर्देश होता है । वेदनेन्द्रिय और अनास्रवेन्द्रिय जो अन्यत्र नहीं पाये जाते उनका हम यहाँ निर्देश करेंगे ।

दुःखेन्द्रियमसाता या कायिकी वेदना सुखम् ।

साता ध्याने तृतीये तु चैतसी सा सुखेन्द्रियम् ॥७॥

^१ जातमात्र बालक चक्षु से रूप देखता है किन्तु बोलता नहीं । वचन जिह्वेन्द्रिय के अधिष्ठान का कर्म है—सांख्यो के अनुसार कर्मेन्द्रिय विज्ञानेन्द्रिय के समान अतीन्द्रिय द्रव्य हैं । वाक् वचन-सामर्थ्य है, पाणि आदान-सामर्थ्य है, इत्यादि । [व्या० ९८. ३२]

^२ आप कहते हैं कि सर्प के सूक्ष्म पाणि-पाद होते हैं किन्तु इसे सिद्ध करना आवश्यक है ।

^३ कायेन्द्रियैकदेशभूत पुरुषेन्द्रिय-स्त्रीन्द्रिय से व्यतिरिक्त उपस्थ कल्पित होता है ।

(कायेन्द्रियैकदेशस्त्रीपुरुषेन्द्रियव्यतिरिक्तकल्पित)

‘आनन्द’ ‘क्लिष्ट सौख्य’ है । (व्या० ९९. ११)

७ ए-बी. कायिकी असाता (उपघातिका) वेदना दुःखेन्द्रिय है ।^१
'कायिकी' अर्थात् काय में होनेवाली,^२ जो चक्षुर्विज्ञानादि पाँच विज्ञानकाय से संप्रयुक्त है ।

'असाता' अर्थात् उपघातिका ।

जिस वेदना का पंचेन्द्रिय आश्रय है और जो उपघातिका है उसे दुःखेन्द्रिय कहते हैं ।

[११४] ७ बी-सी. जो साता (अनुग्राहिका) है वह सुखेन्द्रिय है ।^१

'साता' अर्थात् अनुग्राहिका, जो अनुग्रह, उपकार करती है ।

साता कायिकी वेदना सुखेन्द्रिय कहलाती है ।

७ सी-डी. तृतीय ध्यान में चैतसी साता वेदना भी सुखेन्द्रिय है ।^२

चैतसी वेदना मनोविज्ञानसंप्रयुक्त वेदना है ।

तृतीय ध्यान की चैतसी साता वेदना भी सुखेन्द्रिय कहलाती है । अन्यत्र यह नाम कायिकी साता वेदना के लिए सुरक्षित है । किन्तु तृतीय ध्यान में कायिकी वेदना नहीं होती क्योंकि वहाँ पंच विज्ञानकाय का अभाव है । अतः जब हम तृतीय ध्यान के सुख का उल्लेख करते हैं तब हमारा अभिप्राय चैतसी साता वेदना से होता है (८.९ देखिए) ।

अन्यत्र सा सौमनस्यम् असाता चैतसी पुनः ।

दौर्मनस्यम् उपेक्षा तु मध्योभयविकल्पनात् ॥८॥

८ ए. अन्यत्र यह सौमनस्य है ।^३

अन्यत्र अर्थात् तृतीय ध्यान से अधर भूमियों में अर्थात् कामधातु और प्रथम दो ध्यानों में चैतसी साता वेदना सौमनस्य या सौमनस्येन्द्रिय है ।

तृतीय ध्यान से ऊर्ध्व चैतसी साता वेदना का अभाव है ।

तृतीय ध्यान में चैतसी साता वेदना क्षेम और शान्त है क्योंकि इस ध्यान में योगी प्रीति से वीतराग होता है (प्रीतिवीतरागत्वात्) [व्या १००.२६] । अतः यह सुखेन्द्रिय है, सौमनस्येन्द्रिय नहीं है ।^४

^१ [दुःखेन्द्रियम्] असाता या कायिकी वेदना । [व्या० १००.११] विभंग, पृ. १२३ के लक्षणों से तुलना कीजिए ।

^२ चक्षुरादि ५ विज्ञानेन्द्रिय काय हैं : वास्तव में यह इन्द्रियाँ परमाणुसंचयात्मक हैं, परमाणु के काय हैं ।—'काय' में जो वेदना उत्पन्न होती है या जो आश्रयभूत काय-सहगत है वह कायिकी कहलाती है (कायप्रश्रब्धि पर २.२५ देखिए) ।

^१ सुखम् । साता (व्या० १००.१७)

^२ ध्याने तृतीये तु चैतसी सा सुखेन्द्रियम् ॥ (व्या० १००.२२)

^३ अन्यत्र सा सौमनस्यम्

^४ सुख सात है क्योंकि यह अनुग्रह करता है (सा सत्त्वाद्धि सुखमुच्यते); सौमनस्य में प्रीति भी है—इस प्रश्न का पुनः विचार ८.९ बी में किया गया है ।

[११५] तृतीय ध्यान से अधर चैतसी साता वेदना औदारिक (रूक्ष ?) और क्षुब्ध होती है क्योंकि तृतीय ध्यान से अधर भूमियों में योगी का प्रीति से विराग नहीं होता : अतः यह सौमनस्य है ।—प्रीति जिसका स्वभाव संप्रहर्ष का है सौमनस्य से अन्य नहीं है ।

८ बी-सी. चैतसी असाता वेदना दौर्मनस्य है ।^१

मनोविज्ञान से संप्रयुक्त जो वेदना उपघातिका है वह दौर्मनस्य या दौर्मनस्येन्द्रिय है ।

८ सी-डी. कायिकी और चैतसिकी मध्या वेदना उपेक्षा है क्योंकि यहां विकल्पन नहीं है ।^२ मध्या वेदना जो न साता है, न असाता, अदुःखासुखा वेदना है । यह उपेक्षा वेदना या उपेक्षेन्द्रिय कहलाता है ।

क्या यह वेदना कायिकी है, क्या यह चैतसिकी है ?

चाहे यह कायिकी हो या चैतसिकी, मध्या वेदना उपेक्षा वेदना है । अतः उपेक्षा वेदना द्विविध है किन्तु यह एक ही इन्द्रिय है क्योंकि यहां कोई विकल्पन नहीं है ।

१. कोई विकल्पन नहीं है । कायिकी और चैतसिकी उपेक्षा-वेदना भी विकल्प (=अभिरूपणाविकल्प, १. ३३) से रहित है । प्रायेण^३ साता और असाता चैतसिकी वेदना प्रिय-अप्रियादि विकल्प से उत्पन्न होती है । इसके विपरीत कायिकी वेदना की उत्पत्ति चित्त की अवस्था से स्वतन्त्र विषयवश (विषयवशात्) होती है : अर्हत् राग-द्वेष से विनिर्मुक्त हैं; उन्होंने प्रिय-अप्रिय विकल्प का प्रहाण किया है । तथापि उनमें कायिक सुख-दुःख का उत्पाद होता है ।

[११६] अतः कायिक-चैतसिक और सुख-दुःख का इन्द्रियत्वेन भेद करना चाहिए ।

किन्तु उपेक्षा वेदना कायिकी हो या चैतसिकी, कायिकी वेदना के तुल्य स्वरसेन (अनभिसंस्कारेण)^४ उत्पन्न होती है । इसकी उत्पत्ति उस पुद्गल में होती है जो विकल्प से रहित है (अविकल्पयतः, अनभिन्निरूपयतः) : अतः कायिकी और चैतसिकी इन दो उपेक्षा-वेदनाओं के लिए एक ही इन्द्रिय मानते हैं ।

२. कोई विकल्पन नहीं है । कायिकी और चैतसिकी, साता-असाता, वेदना अपनी अपनी विशेष वृत्ति के अनुसार अनुग्रह करती है या उपघात करती है । इनका अनुभव एक रूप से नहीं होता । उपेक्षा-वेदना न अनुग्रह करती है, न उपघात । उपेक्षा में ऐसा विकल्प नहीं है; अतः कायिकी और चैतसिकी के अनुभव में अभेद है ।

दृग्भावनाशैक्षपथे नव त्रीण्यमलं त्रयम् ।

रूपीणि जीवितं दुःखे सास्त्रवाणि द्विधा नव ॥९॥

^१ असाता चैतसी पुनः । दौर्मनस्यम् [व्या० १००. ३१]

^२ उपेक्षा तु मध्योभ्यविकल्पनात् ॥ [व्या० १००. ३३]

^३ समाधिज और विपाकज (विपाकफल) (२. ५७) चैतसी साता वेदना का परिदजन करना चाहिए ।

^४ यह केवल विपाकफल और नैष्यन्दिकी (२. ५७ सी) है ।

९ ए-बी. दर्शन मार्ग, भावना मार्ग और अशैक्ष पथ में ९ इन्द्रियों की तीन इन्द्रिय करते हैं ।^२

मनस्, सुख, सौमनस्य, उपेक्षा, श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा यह ९ द्रव्य दर्शन-मार्गस्थ आर्य में अनाज्ञातमाज्ञास्यामीन्द्रिय व्यवस्थापित होते हैं, भावनामार्गस्थ आर्य में आज्ञेन्द्रिय और अशैक्ष (=अर्हत्) मार्गस्थ आर्य में आज्ञातावीन्द्रिय व्यवस्थापित होते हैं ।^३

[११७] दर्शनमार्गस्थ आर्य अनाज्ञात अर्थात् सत्यचतुष्टय के जानने में प्रवृत्त होता है (अनाज्ञातमाज्ञातुं प्रवृत्तः) [व्या १०१.३३] : “मैं जानूंगा” ऐसा यह विचार करता है । अतः उसकी इन्द्रिय अनाज्ञातमाज्ञास्यामीन्द्रिय कहलाती है ।^२

भावनामार्गस्थ^३ आर्य के लिए कोई अपूर्व नहीं है जिसे उसे जानना हो; वह आज्ञ है । किन्तु शेष अनुशायों के प्रहाण के लिए वह आज्ञात सत्यों को पौनःपुन्येन जानता है । उसकी इन्द्रिय आज्ञेन्द्रिय कहलाती है—आज्ञ पुद्गल की इन्द्रिय या आज्ञ इन्द्रिय (आज्ञ एवेन्द्रिय इति वा) [व्या १०२.५] ।

अशैक्षमार्गस्थ योगी को यह अवगम होता है कि वह जानता है : उसको इसका अवगम (आव=अवगम)^४ होता है कि सत्य आज्ञात हैं (आज्ञातमिति) । जिसके आज्ञाताव है वह आज्ञातावी है और उसकी इन्द्रिय आज्ञातावीन्द्रिय कहलाती है ।—अथवा वह आर्य आज्ञातावी

^२ दृग्भावनाशैक्षपथे [नव त्रीणि] [व्या० १०१.२०]

^३ वास्तव में तीन अनाल्लव इन्द्रियों के कलाप में केवल सात इन्द्रियाँ संगृहीत हैं क्योंकि तीन वेदनाओं का साहचर्य नहीं होता । जब योगी मार्ग की भावना करने के लिए प्रथम-द्वितीय ध्यानभूमिक होता है तब वह सौमनस्येन्द्रिय से ही समन्वागत होता है । जब वह तृतीय-ध्यानभूमिक होता है तब उसमें केवल सखेन्द्रिय होती है और जब वह अन्यभूमिक होता है (अनागम्य, ध्यानान्तर, चतुर्थ ध्यान, प्रथम तीन आरूप्य) तब वह केवल उपेक्षेन्द्रिय से समन्वागत होता है ।—२. १६ सी-१७ बी देखिए ।

^१ दर्शनमार्ग में सत्याभिसमय के प्रथम १५ क्षण संगृहीत हैं । इन क्षणों में योगी वह देखता है जिसे उसने पूर्व नहीं देखा था (६. २८ सी-डी) ।—यह केवल अनाल्लव है, ६.१

^२ अलुक् समासः । आख्यातप्रतिरूपकश्चायम् आज्ञास्यामीतिशब्दः । अभिधम्म में अनञ्जा-तञ्जस्सामीतीन्द्रिय है (विभंग, पृ. १२४) । [व्या० १०२.२]

^३ ‘भावना’ शब्द के अनेक अर्थ हैं—‘भावनामय’ शब्द में भावना समाधिवाची है ।—७. २७ में अन्य अर्थ दिए हैं (२. २५, २ से तुलना कीजिए)—‘भावनामार्ग’ में भावना का अर्थ ‘पुनः पुनः दर्शन, ध्यान’ है ।

दो भावना मार्ग हैं :

ए. अनाल्लव या लोकोत्तर भावनामार्ग । यहाँ यह भावनामार्ग इष्ट है : दर्शनमार्ग में जिन सत्यों का दर्शन हो चुका है उनकी यह भावना है । सत्याभिसमय (६. २८ सी-डी) के १६वें क्षण से इस मार्ग का आरम्भ होता है और अर्हत्व की प्राप्ति से इसकी परिसमाप्ति होती है ।

बी. साल्लव या लौकिक भावनामार्ग । सत्य इसके विषय नहीं हैं (६. ४९) ।

यह बिना समुच्छेद किए क्लेशों का विष्कम्भन करता है । यह दर्शनमार्ग के पूर्व और पश्चात् दोनों हो सकता है ।

^४ धातुपाठ, १. ६३१.

है जिसका शील यह जानता है (अवितुम्) कि सत्य आज्ञात है। वास्तव में जब आर्य को क्षयज्ञान और अनुत्पाद-ज्ञान का लाभ होता है तब यह यथाभूत जानता है कि 'दुःख आज्ञात है, मुझे और कुछ ज्ञेय नहीं है' इत्यादि।^{१५}

[११८] हमने इन्द्रियों के विशेष लक्षणों का निर्देश किया है। अब उनके भिन्न स्वभाव को बताना चाहिए : क्या वह अनास्रव हैं (९ बी-डी), विपाकज हैं (१०-११ बी), कुशल हैं (११ सी-डी) ? वह किस धातु के हैं (१२) ? उनका प्रहाण कैसे होता है (१३) ?

कितने सास्रव हैं ? कितने अनास्रव हैं ?

९ बी-डी. तीन अमल हैं; रूपीन्द्रिय, जीवितेन्द्रिय और दो दुःख (दुःख और दौर्मनस्य) सास्रव हैं; ९ द्विविध हैं।^{१६}

१. अन्तिम तीन इन्द्रिय एकान्त अमल या अनास्रव हैं। मल और आस्रव समानार्थक हैं।^{१७}

रूपी इन्द्रियों की संख्या सात है : चक्षुरादि पांच इन्द्रिय और पुरुषेन्द्रिय-स्त्रीन्द्रिय, क्योंकि यह सात इन्द्रिय रूपस्कन्ध में संगृहीत हैं। जीवितेन्द्रिय, दुःखेन्द्रिय और दौर्मनस्येन्द्रिय के साथ मिलकर कुल दस इन्द्रिय एकान्त सास्रव हैं। मनस्, सुखेन्द्रिय, सौमनस्येन्द्रिय, उपेक्षेन्द्रिय, श्रद्धादि (श्रद्धा, वीर्यादि) पंचक, यह ९ इन्द्रिय सास्रव-अनास्रव दोनों हो सकते हैं।

२. अन्य आचार्यों के^३ अनुसार (विभाषा, २, पृ० ७, कालम ३) श्रद्धादि पंचक एकान्त अनास्रव हैं क्योंकि भगवत् ने कहा है कि "जिसमें इन सब श्रद्धादि ५ इन्द्रियों का सर्वथा सर्वप्रकारेण अभाव है उसको मैं बाह्य कहता हूँ, वह पृथग्जन के पक्ष में अवस्थित है।"^४ अतः जिसमें यह होते हैं वह आर्य है। अतः यह अनास्रव हैं।

[११९] यह वचन ज्ञापक नहीं है क्योंकि भगवत् यहां उस पुद्गल का उल्लेख करते हैं जिसमें अनास्रव श्रद्धादि पंचक का अभाव है। वास्तव में इस वचन के पूर्ववर्ती वचन में भगवत् श्रद्धादि पाँच इन्द्रियों की दृष्टि से^१ आर्य पुद्गल का व्यवस्थान करते हैं। अतः वह आर्यों के विशेष ५ इन्द्रियों का अर्थात् अनास्रव पंचेन्द्रिय का ही उल्लेख करते हैं। जिनमें इनका अभाव है

^{१५} ऐसा प्रतीत होता है कि परमार्थ का श्रुतान चाङ्ग से मतभेद है।

^{१६} अमलं त्रयम्। [रूपणि जीवितं दुःखे सास्रवाणि] नव द्विधा [व्या० १०२.११]

^{१७} जापानी संपादक इस विषय में हरिवर्मन् के ग्रंथ का (नैन्जियो १२७४) उल्लेख करते हैं।

^३ जापानी संपादक के अनुसार महीशासक। कथावत्यु, १९, ८ के हेतुवादिन् और महीसासक।

—३.६ से भी तुलना कीजिए।

^४ संयुक्त, ५. २०४: यस्स खो भिक्खवे इमानि पंचिन्द्रियाणि सब्बेन सब्बं सब्बथा सब्बं नत्थि तमहं बाहिरो पुथुज्जनपक्खे ठितो ति वदामि।—२.४० बी-सी देखिए।

^१ पंचेमानि भिक्षव इन्द्रियाणि। कतमानि पंच। श्रद्धेन्द्रियं यावत् प्रज्ञेन्द्रियम्। एषां पंचानां इन्द्रियाणां तीक्ष्णत्वात् परिपूर्णत्वादर्हन् भवति। ततस्तनुतरैर्मुदुतरैरनागामी भवति। ततस्तनुतरैर्मुदुतरैः संकृदागामी। ततस्तनुतरैर्मुदुतरैः स्रोत आपन्नः। ततोऽपि तनुतरैर्मुदुतरैर्धर्मानुसारी। ततस्तनुतरैर्मुदुतरैः श्रद्धानुसारी। इति हि भिक्षव इन्द्रियपारमितां प्रतीत्य

वह स्पष्ट ही पृथग्जन है। अथवा यदि इस वचन में पंचेन्द्रियों का सामान्यतः उल्लेख है तो हम कहेंगे कि पृथग्जन द्विविध हैं (विभाषा, २, पृ० ८, कालम २ और कालम १) : बाह्यक और आभ्यन्तरक। पहले ने कुशलमूल का समुच्छेद किया है (४.७९); दूसरे का कुशलमूल असमुच्छिन्न है।

प्रथम को लक्ष करके भगवत् कहते हैं कि “मैं उसको बाह्यक कहता हूँ, वह पृथग्जन-पक्ष में अवस्थित है।”^३

पुनः सूत्र के अनुसार धर्मचक्र-प्रवर्तन (६.५४) के पूर्व भी लोक में तीक्ष्णेन्द्रिय, मध्येन्द्रिय, मृद्विन्द्रिय सत्त्व होते हैं।^३ अतः श्रद्धादि इन्द्रिय अवश्यमेव एकान्त अनास्रव नहीं हैं।

[१२०] अन्ततः भगवत् ने कहा है कि “यदि मैं श्रद्धादि पंचेन्द्रिय का प्रभव, अन्तर्धान, आस्वाद, आदीनव, निःसरण न जानता तो मैं सदेवक, समारक, सब्रह्मक लोक से और सश्रमण-ब्राह्मणिक प्रजा से मुक्त, निःसृत, विसंयुक्त, विप्रयुक्त न होता और विपर्यास से अपगत चित्त से विहार न करता”^१ —किन्तु आस्वाद, आदीनव, निःसरण से विमुक्त अनास्रव धर्मों का यह परीक्षा-प्रकार नहीं है।

अतः श्रद्धादि पंचेन्द्रिय सास्रव-अनास्रव दोनों हैं।

विपाको जीवितं द्वेधा द्वादशान्त्याष्टकाद् ऋते ।

दौर्मनस्याच्च तत्त्वेकं सविपाकं दश द्विधा ॥१०॥

मनोऽन्यवित्तिश्रद्धादीन्यष्टकं कुशलं द्विधा ।

दौर्मनस्यं मनोऽन्या च वित्तिस्त्रेधान्यदेकधा ॥११॥

इन्द्रियों में कितने विपाक (२.५७ सी-डी) हैं, कितने विपाक नहीं हैं?^२

१० ए. जीवितेन्द्रिय सदा विपाक है।^३

केवल जीवितेन्द्रिय (२.४५ ए-बी) सदा विपाक है।

१. आक्षेप। जिस आयुः संस्कार (नीचे पृ. १२२ देखिए) का अर्हत् भिक्षु अधिष्ठान करता है, जिसकी स्थापना करता है (स्थापयति, अधितिष्ठति) वह स्पष्ट ही जीवितेन्द्रिय है। इस प्रकार अधिष्ठित, अवस्थित जीवितेन्द्रिय किस कर्म का विपाक है?^४

फलपारमिता प्रज्ञायते । फलपारमितां प्रतीत्य पुद्गलपारमिता प्रज्ञायते । यस्येमानि पंचेन्द्रियाणि सर्वेण सर्वाणि न सन्ति तमहम् बाह्यम् पृथग्जनपक्षावस्थितं वदामि । [व्या० १०३.१] विज्ञानकाय, २३.९, फ़ोलिओ ६ ए-८ में वृद्धि के साथ यह सूत्र उद्धृत है। संयुक्त, ५, २०० से तुलना कीजिए।

^२ दो प्रकार के पृथग्जन, अन्ध और कल्याण पर सुमंगलविलासिनी, पृ. ५९ से तुलना कीजिए।

^३ ब्रह्मावोचत् । सन्ति भदन्त सत्त्वा लोके वृद्धास्तीक्ष्णेन्द्रिया अपि मध्येन्द्रिया अपि मृद्विन्द्रिया अपि [व्या० १०४.४] ।—दीघ, २.३८, मज्झिम, १.१६९ से तुलना कीजिए। कथावत्थु में दीघ, २.३८ उद्धृत है (. तिक्खिन्द्रियेमुविन्द्रिये)

महावस्तु, ३.३१४; ललित, ३१५; दिव्य, ४९२; अत्थसालिनी, ३५।

^१ संयुक्तागम, २६, ४—संयुक्त, ५.१९३ और आगे से तुलना कीजिए ।—विभाषा, २, १०.

^२ विभंग, पृ. १२५ से तुलना कीजिए; विभाषा, १४४, ९.

^३ विपाको जीवितम्—जीवन और मरण पर २.४५ देखिए।

^४ यदहम् भिक्षुरायुःसंस्कारान् स्थापयति तज्जीवितेन्द्रियं कस्य विपाकः ।

मूल शास्त्र के अनुसार (ज्ञानप्रस्थान, १२, १४): “किस प्रकार एक भिक्षु आयुः संस्कार का अधिष्ठान करता है ?—ऋद्धिमान् (= प्राप्ताभिज्ञः, ७.४२) अर्हत् जो चेतोवशित्व को प्राप्त है अर्थात् जो असमयविमुक्त (६.५६, ६४) है संघ को या किसी पुद्गल को चीवर, पात्रादि जीवित-परिष्कार देता है; देकर वह आयु का प्रणिधान करता है;” तदनन्तर वह प्रान्तकोटिक (७.४१) चतुर्थ ध्यान में समापन्न होता है; इस समाधि से व्युत्थान कर वह चित्त का उत्पाद करता है और यह वचन कहता है कि “जो मेरा भोगविपाक कर्म हो वह आयुर्विपाकदायी हो !”^५ तब वह कर्म (दान और समाधि) जिसका भोग-विपाक होता है आयुर्विपाक का उत्पाद करता है”।

[१२१] अन्य आचार्यों के अनुसार अर्हत् का अवस्थापित जीवित पूर्वकृत कर्म का विपाक फल है। उनके अनुसार यह जन्मान्तर-कर्म का विपाकोच्छेष है जिसके फल की परिसमाप्ति अकाल-मरण (२.४५) से न हो पाई और यह चतुर्थ ध्यान का भावना-बल है जो इस विपाकोच्छेष का आकर्षक है और जिसके कारण यह उच्छेष अब विपच्यमान और प्रतिसंवेदित होता है।

“एक भिक्षु आयुःसंस्कार का उत्सर्ग (त्यजति, उत्सृजति) कैसे करता है ? एक ऋद्धिमान् अर्हत् चतुर्थध्यान में समापन्न होता है. . . . ; इस समापत्ति से व्युत्थान कर वह चित्त का उत्पाद करता है और यह वचन भाषित करता है: जिस कर्म का आयुर्विपाक होता हो वह भोगविपाकदायी हो ! “तब आयुर्विपाकदायी कर्म भोग-विपाक का उत्पाद करता है।”

भदन्त घोषक कहते हैं कि “प्रान्तकोटिक ध्यान के भावनाबल से इस अर्हत् के काय में रूप-धातु के महाभूत आकृष्ट और सम्मुखीभूत होते हैं। यह महाभूत आयुःसंस्कार के अनुग्राहक या उपघातक होते हैं। इस प्रकार अर्हत् आयुःसंस्कार का अवस्थान या उत्सर्ग करता है। (दिव्य चक्षु के वाद से तुलना कीजिए, ७. १२३)

सौत्रान्तिकों के समान हम कहते हैं कि समाधिवशित्व के कारण अर्हत् इन्द्रिय-महाभूतों के स्थितिकाल के आवेध (स्थितिकालावेध) का जो पूर्वकर्मज है व्यावर्तन करते हैं (व्यावर्तयन्ते) [व्या १०४.३० में व्यावर्तयन्ति पाठ है]। इसके विपरीत वह अपूर्व समाधिज आक्षेप का उत्पाद करते हैं। अतः अर्हत् के अधिष्ठित आयुः संस्कार की अवस्था में जीवितेन्द्रिय विपाक नहीं है। अन्य अवस्थाओं में वह विपाक है।

२. प्रश्न से प्रश्नान्तर उत्पन्न होता है।

१. किस हेतु से अर्हत् आयुःसंस्कार का अधिष्ठान करता है ?

दो हेतु से—परहितार्थ और शासन की चिरस्थिति^१ के लिए। वह देखता है कि उसके जीवन

^५ तत् प्रणिधाय । व्याख्या : तदायुः प्रणिधाय चेतसि कृत्वा [व्या० १०४.१५]—विभाषा, १२६, २.

^६ यद्धि भोगविपाकं कर्म तदायुर्विपाकदायि भवतु । [व्या० १०४.२१ में यद्धि के स्थान में यन्मे पाठ है ।]

^१ व्याख्या : परहितार्थ बुद्ध भगवत्; शासनस्थित्यर्थ श्रावक—लेवी और शावन्ने : सिक्ख अर्हत् प्रोटेक्टर्स आफ दी ला, जे. एएस. १९१६, २, ९ और आगे देखिए ।

का अन्त होने जा रहा है; और वह देखता है कि दूसरे इन दो उद्देश्यों को पूरा करने में असमर्थ हैं।

[१२२] २. किस हेतु से अर्हत आयुःसंस्कार का उत्सर्ग करता है ?

दो हेतुओं से : वह देखता है कि उसके इस लोक में अवस्थान करने से परहित साधित नहीं होता है और वह देखता है कि उसका आत्मभाव रोगादि से अभिभूत है।^१ जैसा गाथा में कहा है : ब्रह्मचर्य का भली प्रकार आचरण हुआ है, मार्ग सुभावित हुआ है : आयु के क्षय पर वह संतुष्ट है जैसे रोग के अपगम पर तुष्ट होते हैं।^२

३. किसका आयुःसंस्कार कहाँ अधिष्ठित या उत्सृष्ट होता है ?

तीन द्वीपों में (३.५३), स्त्री-पुरुष, असमयविमुक्त अर्हत जो प्रान्तकोटिक (६.५६, ६४) ध्यानलाभी है : वास्तव में उसका समाधिवशित्व होता है और उसकी संतति क्लेशों से उप-स्तब्ध नहीं होती।^३

४. सूत्र के अनुसार जीवित संस्कारों को अधिष्ठित करने के अनन्तर भगवत् ने आयुः संस्कारों का उत्सर्ग किया।^४

प्रश्न है कि १. जीवित के संस्कार और आयु के संस्कारों में क्या भेद है;

२. बहुवचन का क्या अर्थ है : संस्काराः ?^५

[१२३] प्रथम प्रश्न के संबंध में :^१

ए. कुछ आचार्यों के अनुसार कोई भेद नहीं है। वास्तव में मूलशास्त्र (ज्ञानप्रस्थान, १४.१९, प्रकरणपाद, फ़ोलिओ १४ बी ६) कहता है कि “जीवितेन्द्रिय क्या है ?—यह त्रैधातुक आयु है।”

^१ रोगाद्यभिभूत [व्या० १०५.५ में रोगादिभूतम् तथा टिप्पणी में रोगाभिभूतम् पाठ है] —इससे रोग, गण्ड, शल्य समझना चाहिए जो त्रिदुःखता है, ६.३.

मिलिन्द, ४४ में यद्यपि अर्हत का शरीर रोग से अभिभूत है तथापि वह निर्वाण में प्रवेश नहीं करता : नाभिनन्दामि जीवितम्...।

^२ ब्रह्मचर्यम् सुचरितम् मार्गश्चापि सुभावितः।

आयुःक्षये तुष्टो भोति रोगस्यापगमे यथा ॥

^३ अक्षरार्थः : “उसकी संतति क्लेशों से अनुपस्तब्ध है (क्लेशैरनुपस्तब्धा संततिः) : यह क्लेश है जो संतति का धारण और अवस्थान करते हैं।—समयविमुक्त अर्हत क्लेश से विनि-मुक्त होता है किन्तु उसका समाधिवशित्व नहीं होता; दृष्टिप्राप्त में यद्यपि समाधिवशित्व होता है तथापि उसकी संतति क्लेशों से अनुपस्तब्ध नहीं होती (६.५६)। [व्या० १०५.९]

^४ जीवितसंस्कारान् अधिष्ठाय आयुःसंस्कारान् उत्सृष्टवान्। दिव्यावदान, २०३ से तुलना कीजिए : अथ भगवांस्तद्द्रूपं समाधिं समापन्नो यथा समाहिते चित्ते जीवितसंस्कारान् अधिष्ठाय आयुःसंस्कारान् उत्सृष्टुं आरब्धः—महावस्तु, १.१२५, १९ में एकवचन है।

दीघ, २.९९: यन् नूनाहं इमं आबाधं विरियेन पटिप्पणामेत्वा जीवितसंस्कारं अधिष्ठाय विहरेय्यं; २.१०६..... आयुसंस्कारास्सजि। (संयुत, ५.१५२, अंगुत्तर, ४.३६१, उदान, ६.१ से तुलना कीजिए)—बर्नूफ़, लोटस, २९१.

^५ अन्य स्थलों में पालि में बहुवचन है, मज्झिम, १.२९५ (अञ्जे आयुसंस्कारा अञ्जे वेद-निया धम्मा), जातक, ४.२१५ (आयुसंस्कारा खीयन्ति)

^१ विभाषा, १२६, २ इस विषय में १४ मत गिनाती है।

बी. अन्य आचार्यों के अनुसार^२ 'आयुः संस्कार का अर्थ वह जीवन है जो पूर्व जन्म के कर्म का फल है; जीवित संस्कार का अर्थ वह जीवन है जो इस जन्म के कर्म का फल है (संघ को दान आदि पृ० १२०) ।

सी. अन्य आचार्यों के अनुसार^३ जिससे निकायसभाग की स्थिति होती है वह आयुः-संस्कार है; जिससे कुछ काल के लिए जीवन का और अवस्थान होता है वह जीवित संस्कार है ।

दूसरे प्रश्न के संबंध में :

ए. सूत्र में बहुवचन का प्रयोग है क्योंकि आर्य बहु संस्कारों का अधिष्ठान और उत्सर्जन करता है । एक क्षण के अधिष्ठान या उत्सर्जन से प्रयोजन सिद्ध नहीं होता: केवल क्षणप्रवाह से आर्य परकार्य का अभिनिष्पादन कर सकता है; दूसरी ओर एक क्षण पीड़ाकर नहीं होता ।

बी. एक दूसरे मत के अनुसार बहुवचन का प्रयोग यह दिखाने के लिए है कि जीवित, आयु द्रव्य नहीं है जो कालान्तर में स्थावर हो^४ ।

सी. एक दूसरे मत के अनुसार^५ बहुवचन का प्रयोग सर्वास्तिवादियों के वाद को सदोष बताने के लिए है जिसके अनुसार जीवित, आयु एक द्रव्य, एक धर्म है । जीवित, आयु की यह आख्याएं बहुसंस्कारों को प्रज्ञप्त करती हैं जो सहवर्तमान होते हैं और जो धालु के अनुसार चतुः स्कन्ध-स्वभाव या पंचस्कन्ध-स्वभाव होते हैं । अन्यथा सूत्र में संस्कार-ग्रहण न होता; सूत्र कहता कि "भगवत् ने जीवितों का अधिष्ठान किया, आयु का उत्सर्ग किया ।"

५. भगवत् उसका उत्सर्ग क्यों करते हैं, उसका अधिष्ठान क्यों करते हैं ?

[१२४] मरणवशित्व के ज्ञापनार्थ वह उत्सर्ग करते हैं; जीवितवशित्व के ज्ञापनार्थ वह अधिष्ठान करते हैं —वह तीन मास के लिए (त्रैमास्य) न अधिक, न कम, अधिष्ठान करते हैं । क्योंकि तीन मास के ऊर्ध्व विनेय कार्य का अभाव होता है और बुद्धकार्य का सुभद्रावसान होता है; क्योंकि तीन मास से कम में कार्य का संपादन नहीं होगा ।^१

अथवा^२ प्रतिज्ञात के संपादन के लिए (प्रतिज्ञातसंपादनार्थम्) [व्या १०५. २९] ।

"जिस भिक्षु ने चार ऋद्धिपादों (६. ६९ बी) को सुभाविता किया है वह यदि चाहे तो एक कल्प या एक कल्प से अधिक अवस्थान करेगा ।"^३

^२ विभाषा का ११ वाँ मत ।

^३ विभाषा का ६ठा मत ।

^४ जापानी सम्पादक के अनुसार साम्मितीयों का वाद ।

^५ सौत्रान्तिक मत ।

^१ जापानी संपादक के अनुसार यह आचार्य का मत है ।

^२ विभाषा, १२६, ६, ६ मतों में से पाँचवाँ ।

^३ कल्पं वा . . . कल्पावशेषं वा—अर्थात् परमार्थ के स्पष्ट भाषान्तर के अनुसार 'एक कल्प या एक कल्प से अधिक' । साधारणतः यह अनुवाद होता है : 'एक कल्प या कल्प का अवशिष्ट भाग' (विंडिश, राइस डैविड्स, आटो फ्रान्के)—वीघ, २. १०३, ११५; ३. ७७; दिव्य, २०१—कथावत्थु, ११.५; सिद्धि, ८०३.

वैभाषिक^४ कहते हैं : भगवत् यह दिखाने के लिए उत्सर्ग और अधिष्ठान करते हैं कि उन्होंने स्कन्धमार और मरणमार पर विजय प्राप्त की है। बोधिवृक्ष के नीचे भगवत् ने प्रथम याम में देवपुत्र मार को निर्जित किया और तृतीय याम में क्लेश मार को निर्जित किया (एकोत्तरिका, ३९, १)^५ ।

१० ए-बी. १२ दो प्रकार के हैं ।

कौन १२ ?

१० बी-सी. अन्तिम आठ और दौर्मनस्य को वर्जित कर ।^६

[१२५] जीवितेन्द्रिय जो एकान्त विपाक है और ९ जिनका यहां निर्देश है (१० बी-सी) और जो सदा अविपाक हैं, इनसे अन्य १२ इन्द्रिय द्विविध हैं। वह कभी विपाक हैं, कभी अविपाक हैं। यह रूपी इन्द्रिय, मन-इन्द्रिय और दौर्मनस्येन्द्रिय से अन्यत्र चार वेदनेन्द्रिय हैं ।

१. सात रूपी इन्द्रिय (चक्षु....पुरुषेन्द्रिय) विपाक नहीं हैं क्योंकि वह औपचयिक (१.३७) हैं । अन्य विपाक हैं ।

२. मन-इन्द्रिय और चार वेदनेन्द्रिय अविपाक हैं (१) जब वह कुशल-क्लिष्ट होते हैं क्योंकि विपाक अव्याकृत (२.५७) हैं; (२) जब अव्याकृत होते हुए भी वह यथायोग^१ ऐर्यापथिक, शैल्पस्थानिक या नैर्माणिक (२.७२) होते हैं । शेष विपाक हैं ।

३. श्रद्धादि पंचक और अनाज्ञातमाज्ञास्यामीन्द्रियादि त्रय, यह अन्तिम आठ, कुशल हैं और इसलिये अविपाक हैं ।

४. किन्तु हम पूछते हैं कि यह प्रतिज्ञा कैसे हो सकती है कि दौर्मनस्य कभी विपाक नहीं होता ? वास्तव में सूत्र कहता है कि “एक कर्म है जो सौमनस्यवेदनीय है, एक कर्म है जो दौर्मनस्य-वेदनीय है, एक कर्म है जो उपेक्षावेदनीय है ।”^२

^४ यह विभाषा के छोटे मत को मानते हैं ।

^५ देवपुत्र मार, क्लेशमार, मरणमार, स्कन्धमार, धर्मसंग्रह, ८०. महावस्तु, ३. २७३, २८१; शिक्षासमुच्चय, १९८, १०, मध्यमकवृत्ति, ४९ टिप्पणी ४, २२. १०; बोधिचर्यावतार ९. ३६ (भगवत् जिन हैं क्योंकि उन्होंने चार मार का धर्षण किया है); यु किया शे ति लूएन २९, एस० लेवी द्वारा अनुदित, सीज अर्हत्स पृ० ७ (जे० एस० १९१६, २) । मूर्तियों में (फूशर, एकोल दे आउत् एत्यूदे १३, २.१९) बुद्ध के पादर्व भाग में चार मार, नील, पीत, लोहित और हरित हैं—कोशों में ४ मार की सूची, जकैरिए गेल. गति. एन्ज, १८८८, पृ० ८५३ चाइल्डर्स की भी सूची देखिए (अभिसंस्कार मार को संगृहीत कर ५ मार) । नेतिप्पकरण में किलेसमार और सत्तमार (= देवपुत्र) हैं ।

^६ द्वेधा द्वादशजन्त्याष्टकाद् ऋते । दौर्मनस्याच्च [व्या० १०६.८]

^१ दुःखेन्द्रिय कभी ऐर्यापथिक आदि नहीं होता ।

^२ एकोत्तरागम, १२.९—तिपिटक में ‘सुखवेदनीय कर्मन्’ है । (अंगुत्तर, ४. ३८२ इत्यादि) (४.४५ देखिए); सुखवेदनीय, दौर्मनस्यवेदनीय स्पर्श (संयुत्त, ५. २११ इत्यादि...) —४.५७ डी देखिए ।

वैभाषिक के अनुसार दौर्मनस्यवेदनीय से अर्थ 'उस कर्म से नहीं है जिसका प्रतिसंवेदन, जिसका विपाक दौर्मनस्य वेदना है' किन्तु यह "वह कर्म है जिससे दौर्मनस्य का संप्रयोग है" । वास्तव में सूत्र स्पर्श को सुखवेदनीय कहता है किन्तु सुख स्पर्श का विपाक नहीं है ।^३ सब प्रमाण

[१२६] इसका समर्थन करता है कि सुखवेदनीय स्पर्श वह स्पर्श है जिससे सुखवेदना का संप्रयोग है । अतः दौर्मनस्यवेदनीय कर्म वह कर्म है जिससे दौर्मनस्यवेदना का संप्रयोग है ।

हमारा उत्तर है : आपको सौमनस्यवेदनीय और उपेक्षावेदनीय का भी उसी प्रकार व्याख्यान करना चाहिए जैसे आप दौर्मनस्यवेदनीय का करते हैं क्योंकि यह तीनों पद सूत्र की एक ही गणना में आते हैं । इससे यह परिणाम निकलता है कि सौमनस्यवेदनीय कर्म वह कर्म है 'जिससे सौमनस्यवेदना का संप्रयोग है, यह वह कर्म नहीं है जिसका विपाक सौमनस्य है' और इसलिए सौमनस्य विपाक नहीं है ।

वैभाषिक—मैं संप्रयोग में भी द्वेष नहीं देखता, विपाक में भी नहीं देखता । जहां तक सौमनस्यवेदनीय का संबंध है यह 'विपाकत्वेन वेदनीय सौमनस्य' हो सकता है और वह भी हो सकता है जिससे सौमनस्य का संप्रयोग है' । किन्तु दौर्मनस्यवेदनीय के लिए वेदनीय का द्वितीय व्याख्यान ही युक्त है । यह वह कर्म है जिससे दौर्मनस्य का संप्रयोग है ।

हमारा उत्तर है : यदि एक दूसरा प्रश्न न होता अर्थात् यदि युक्ति से यह परिच्छिन्न होता कि दौर्मनस्य विपाक नहीं है तो अगत्या हम आपके दिए हुए सूत्र के आख्यान को स्वीकार करते ।^१

वैभाषिक—दौर्मनस्य परिकल्प-विशेष से उत्पादित होता है : यथा जब कोई अनिष्ट-चिन्तन करता है ; इसी प्रकार उसका व्युपशम होता है जब वह इष्ट-चिन्तन करता है । किन्तु विपाक के लिए ऐसा नहीं है । किन्तु हम कहेंगे कि सौमनस्य का भी ऐसा है । इसलिए वह विपाक न होगा ।

वैभाषिक—यदि जैसा कि आपका मत है कि दौर्मनस्य विपाक होता है जब एक पुद्गल आनन्तर्य करता है और इस विषय में दौर्मनस्य का प्रतिसंवेदन करता है—यहां कौकृत्य (२.२९ डी) का अनुभव करता है—तो हम कह सकते हैं कि सावद्य सद्यः विपाक-फल देता है जो अयुक्त है (२.५६ ए) ।

[१२७] किन्तु आप स्वीकार करते हैं कि सौमनस्य विपाक है और हम आपके सदृश तर्क करेंगे : एक पुद्गल पुण्य कर्म करता है और सौमनस्य का अनुभव करता है । अतः यह कर्म सद्यः विपाक-फल देता है ।

^३ आचार्य की व्युत्पत्ति के अनुसार सौमनस्यवेदनीय कर्म वह कर्म है जिसका सौमनस्य विपाक-त्वेन वेदनीय है (सौमनस्यं विपाकत्वेन वेदनीयमस्य) [व्या० १०७.७] । वैभाषिक के अनुसार 'वह कर्म जिसमें सौमनस्य वेदनीय है' (सौमनस्यं वेदनीयमस्मिन्) [व्या० १०७.६] : यह संप्रयोगवेदनीयता (४.४९) है ।

^१ संप्रयोगोर्जप न दोषो विपाकेपि ॥ अगत्याप्येतदेवं गम्येत । का पुनरत्र युक्तिदौर्मनस्यं न विपाकः । [व्या० १०७.६ में अगत्यापि के स्थान में अगत्या हि पाठ है]

वैभाषिक—वीतराग पुद्गल दौर्मनस्येन्द्रिय का व्यावर्तन करते हैं^१ किन्तु उनमें चक्षुरादिक विपाकभूत इन्द्रियां होती हैं। अतः दौर्मनस्येन्द्रिय विपाक नहीं है।

किन्तु हम पूछेंगे कि वीतराग पुद्गल विपाकरूप सौमनस्य से कैसे समन्वागत होते हैं ? निस्सन्देह वह समाधिज सौमनस्य से समन्वागत होते हैं : किन्तु यह सौमनस्य कुशल है और इसलिए विपाक नहीं है। उनके अन्य प्रकार का सौमनस्य नहीं होता।^२

सच्ची बात यह है कि इस इन्द्रिय का चाहे जो कुछ भी स्वभाव क्यों न हो, चाहे वह विपाक हो या न हो,^३ वीतराग पुद्गल सौमनस्येन्द्रिय से समन्वागत होते हैं किन्तु उनमें दौर्मनस्य के विपाक का अवकाश नहीं है क्योंकि उनमें उसका सर्वथा असमुदाचार होता है।

अतः वैभाषिक यह सिद्ध करता है कि सौमनस्येन्द्रिय विपाक नहीं है।

५. आठ इन्द्रिय अर्थात् ५ विज्ञानेन्द्रिय, जीवितेन्द्रिय, पुरुषेन्द्रिय, स्त्रीन्द्रिय सुगति में कुशल कर्म का विपाक हैं; दुर्गति में अकुशल कर्म का विपाक हैं।

मन-इन्द्रिय सुगति-दुर्गति में कुशल-अकुशल का विपाक है।

सुखावेदना सौमनस्य और उपेक्षावेदना कुशल कर्म का विपाक हैं।

दुःखावेदना अकुशल कर्म का विपाक है।^४

[१२८] हम कहते हैं कि सुगति में रूपीन्द्रिय कुशल कर्म का विपाक हैं। सुगति में उभय-व्यंजन के उभय व्यंजन कुशल के विपाक हैं किन्तु उस स्थान का प्रतिलम्भ अकुशल से होता है।^५

२२ इन्द्रियों में कितने सविपाक हैं ? कितने अविपाक हैं ?

१०सी-११ए. केवल दौर्मनस्य सविपाक है; १० अर्थात् मन-इन्द्रिय, (दौर्मनस्य को वर्जित कर) चार वेदनेन्द्रिय और श्रद्धादि पंचक सविपाक-अविपाक हैं।^६

१. दौर्मनस्य सदा सविपाक है क्योंकि एक ओर यह अव्याकृत नहीं है क्योंकि यह विकल्प-विशेष (=प्रिय, अप्रियादि) (२. ८सी) से उत्पद्यमान विकल्प है और दूसरी ओर यह अनास्रव नहीं है क्योंकि यह समाहित अवस्था में उत्पन्न नहीं होता।

^१ सूत्र के अनुसार जो अवीतराग हैं उनके दो शल्य होते हैं—कायिक दुःख और चैतसिक दौर्मनस्य; 'वीतराग' चैतसिक दौर्मनस्य से विमुक्त हैं। [व्या० १०७. २०]

^२ अतः वीतराग पुद्गल सब विपाकभूत इन्द्रियों से समन्वागत नहीं होते।

^३ यादृश तादृशमस्तु इति। अपरिच्छिद्यमानमपि तदस्त्येवेति दर्शयति। तस्यास्ति विपाकावकाशो न दौर्मनस्यस्य। [व्या० १०७. २६]

^४ शुआन् चाङ् ने इसे छोड़ दिया है।

^५ उभयव्यंजन-भाव अर्थात् दो व्यंजनों का प्रतिलम्भ चित्तविप्रयुक्त धर्म है, २. ३५.

^६ तत् त्वेकं सविपाकं दश द्विधा ॥ मनोन्यवित्तिश्रद्धादि। [व्या० १०८. ३, १५]

इससे यह गमित होता है कि प्रथम आठ इन्द्रिय और इसी प्रकार अन्तिम तीन सदा अविपाक हैं। शुआन् चाङ् इसको स्पष्ट करने के लिए कारिका की पूर्ति करते हैं।

कारिका में 'तत् त्वेकं सविपाकम्' है: 'तु' 'एवं' के अर्थ में है और भिन्नक्रम दिखाता है। इस वाक्य का अर्थ इस प्रकार है: तदेकं सविपाकमेव=केवल दौर्मनस्य एकान्त 'सविपाक' है।

२. प्रथम आठ इन्द्रिय (चक्षुरादि, जीवितेन्द्रिय, पुरुषेन्द्रिय-स्त्रीन्द्रिय) अविपाक हैं क्योंकि यह अव्याकृत हैं; अन्तिम तीन (अनाज्ञातमाज्ञास्यामीन्द्रिय आदि) अविपाक हैं क्योंकि वह अनास्रव हैं (४.६०)।

३. शेष १० इन्द्रियों के सम्बन्ध में:

मन-इन्द्रिय, सुख, सौमनस्य और उपेक्षावेदना सविपाक हैं जब यह अकुशल या कुशल सास्रव हैं; यह अविपाक हैं जब अव्याकृत या अनास्रव हैं।

[१२९] दुःखावेदना सविपाक है जब यह कुशल या अकुशल है; अविपाक है जब यह अव्याकृत है।

श्रद्धादि पंचक सविपाक हैं जब यह सास्रव हैं, अविपाक हैं जब अनास्रव हैं।

२२ इन्द्रियों में कितने कुशल, कितने अकुशल, कितने अव्याकृत हैं?

११सी-डो. आठ कुशल हैं; दौर्मनस्य द्विविध है : मन-इन्द्रिय और दौर्मनस्य को वर्जित कर अन्य वेदनाएँ तीन प्रकार की हैं; अन्य एक प्रकार की हैं।^१

८ अर्थात् श्रद्धादि और अनाज्ञातमाज्ञास्यामि आदि आठ केवल कुशल हैं। यद्यपि इनको सूची के अन्त में जाना चाहिए तथापि यह पूर्व उक्त हैं क्योंकि पूर्व कारिका के यह अन्त्य हैं। दौर्मनस्य कुशल-अकुशल (२.२८) है।

मन-इन्द्रिय और चार वेदना कुशल, अकुशल, अव्याकृत हैं।

चक्षुरादि, जीवितेन्द्रिय, पुरुषेन्द्रिय-स्त्रीन्द्रिय अव्याकृत हैं।

२२ इन्द्रियों में से कौन-कौन किस किस धातु के हैं?

कामाप्तममलं हित्वा रूपाप्तं स्त्रीपुमिन्द्रिये ।

दुःखे च हित्वाऽरूप्याप्तं सुखे चापोह्य रूपि च ॥१२॥

१२. कामधातु में अमल इन्द्रियों का अभाव है; रूपधातु में इनके अतिरिक्त स्त्रीन्द्रिय-पुरुषेन्द्रिय और दो दुःखावेदना (दुःख-दौर्मनस्य) का भी अभाव है; आरूप्यधातु में इनके अतिरिक्त रूपी इन्द्रिय और दो सुखा (सुख-सौमनस्य) वेदना का भी अभाव है।^२

[१३०] १. अन्तिम तीन अमल अर्थात् अनास्रव इन्द्रियों को छोड़कर शेष सब इन्द्रिय कामाप्त हैं : यह धातुओं से अप्रतिसंयुक्त हैं, अधातुपतित हैं। अतः अन्तिम तीन को छोड़कर १९ इन्द्रिय कामावचर हैं।

^१ कुशलमष्टकं द्विधा । दौर्मनस्यं मनोऽन्या च वित्तिस्त्रैधान्यद् एकधा ॥ [व्या० १०८.२३ में कुशलमष्टक के स्थान में अष्टकं कुशलं तथा त्रैधा के स्थान में त्रैधा पाठ है ।]

शुआन् चाङ्गः अन्तिम आठ केवल कुशल हैं; दौर्मनस्य कुशल-अकुशल है; मन और अन्य वेदना तीन प्रकार की हैं; प्रथम आठ केवल अव्याकृत हैं।

विभंग, पृ. १२५ से तुलना कीजिए।

^२ कामाप्तममलं हित्वा रूपाप्तं स्त्रीपुमिन्द्रिये ।

दुःखे च हित्वा रूप्याप्तम् सुखे चापोह्य रूपि च ॥ [व्या० १०९.९, १२, १५, ३३]

२. रूपधातु से, पूर्वोक्त इन्द्रियों के अतिरिक्त, स्त्रीन्द्रिय-पुरुषेन्द्रिय और दुःखवेदनास्वभाव की दुःख-दौर्मनस्य इन्द्रियों को वर्जित करते हैं : शेष १५ इन्द्रियाँ रहती हैं जो प्रथम दो धातुओं को सामान्य हैं (८.१२ ए-बी)।

(ए) रूपधातु में स्त्रीन्द्रिय-पुरुषेन्द्रिय का अभाव है (१) क्योंकि इस धातु में जो सत्व उपपन्न होते हैं उन्होंने काम-संभोग का परित्याग किया है, (२) क्योंकि यह इन्द्रिय कुरूप है (१.३०बी-डी)।

किन्तु सूत्रवचन है कि “इसका अवकाश नहीं है, इसका स्थान नहीं है कि स्त्री ब्रह्मा हो। इसका अवकाश है, इसका स्थान है कि पुरुष ब्रह्मा हो।”^१ ऐसा प्रतीत होता है कि यह सूत्र कठिनाई उत्पन्न करता है।

नहीं। रूपधातु के सत्व पुरुष होते हैं किन्तु पुरुषेन्द्रिय से समन्वागत नहीं होते। उनका अन्य पुरुषभाव होता है जो कामधातु के पुरुषों में होता है : काय-संस्थान, स्वरादि (२.२ सी-डी)।

(बी) दुःखेन्द्रिय (कायिक दुःख) रूपधातु में नहीं होता : (१) आश्रय के अच्छे (=भास्वर) होने से, जिसके कारण वहाँ अभिघातज दुःख नहीं होता; (२) अकुशल के अभाव से, जिसके कारण विपाकज दुःख भी नहीं होता।

(सी) दौर्मनस्येन्द्रिय का अभाव है : (१) क्योंकि रूपधातु के सत्वों का सन्तान शमथ-स्निग्ध होता है (गमथस्निग्धसन्तान), (२) क्योंकि सर्व आघातवस्तु का अभाव है।^२

३. आरूप्यधातु से पाँच रूपीन्द्रिय (चक्षुरादि) (८.३ सी), सुख-सौमनस्येन्द्रिय को भी वर्जित करते हैं। मन-इन्द्रिय, जीवितेन्द्रिय, उपेक्षेन्द्रिय, श्रद्धेन्द्रिय पंचक शेष रह जाते हैं (१.३१)।

मनो वित्तित्रयं त्रेधा द्विहेया दुर्मनस्कता।

नव भावनया पंच त्वहेयान्यपि न त्रयम् ॥१३॥

[१३१] २२ इन्द्रियों में कितने दर्शनहेय हैं? कितने भावनाहेय? कितने अहेय हैं?

१३. मनस् और तीन वेदना त्रिविध हैं; दौर्मनस्य दर्शनहेय और भावनाहेय हैं; ९ केवल भावना-हेय हैं; ५ या तो भावनाहेय हैं या अहेय हैं; तीन हेय नहीं हैं।^१

१. मन-इन्द्रिय, सुख, सौमनस्य और उपेक्षा त्रिविध हैं।

२. दौर्मनस्य दर्शनहेय और भावनाहेय है क्योंकि अनास्रव न होने से यह सर्वत्र हेय है।

३. ९ इन्द्रिय अर्थात् ५ विज्ञानेन्द्रिय, स्त्रीन्द्रिय-पुरुषेन्द्रिय, जीवितेन्द्रिय, और दुःखेन्द्रिय

^१ विभंग, पृ. ३३६ में तथागतबलों का लक्षण देखिए : अट्ठानमेतमनवकासो यं इति सक्कत्तं कारेय्य सारत्तं कारेय्य ब्रह्मत्तं कारेय्य नेतं ठानं विज्जतिः....

लोटस, ४०७, शावाने, सैंक सांत कान्ते, १.२६४ से तुलना कीजिए।

^२ दीघ, ३. २६२, अंगुत्तर, ४. ४०८, ५. १५०.

^१ [मनो] वित्तित्रयं [त्रेधा] द्विहेया दुर्मनस्कता।

[नव भावनया पंच न हेयान्यपि न त्रयम्] ॥ [व्या० ११०. १२]

१. ४० से तुलना कीजिए; विभंग, पृ. १३३.

केवल 'भावनाहेय' हैं क्योंकि (१) प्रथम आठ क्लिष्ट नहीं हैं; (२) नवाँ अपण्डज (१.४०) है; (३) सब सर्वत्र सास्रव हैं।

४. श्रद्धादि पंचेन्द्रिय (१) क्लिष्ट नहीं हैं, अतः वह दर्शनहेय नहीं हैं; (२) अनास्रव हो सकते हैं, अतः 'अहेय' हो सकते हैं।

५. अन्तिम तीन (अनाज्ञातमाज्ञास्यामि आदि) 'अहेय' हैं (१) क्योंकि वह अनास्रव हैं, (२) क्योंकि आदीनव (अपक्षाल ?) से वियुक्त धर्म प्रहातव्य नहीं हैं।

कामेष्वादौ विपाकौ द्वे लभ्येते नोपपादुकैः ।

तैः षड् वा सप्त वाष्टौ वा षड् रूपेष्वेकमुत्तरे ॥१४॥

विविध धातुओं के सत्त्व, आदि में, कितने विपाक स्वभाव इन्द्रियों का लाभ करते हैं ?

१४. काम में उपपादुकों को छोड़कर अन्य सत्त्व आदि में दो विपाकात्मक [१३२] इन्द्रियों का लाभ करते हैं : उपपादुक ६, ७ या ८ इन्द्रियों से समन्वागत होते हैं; रूप में ६ से; इसके उत्तर एक से^१ ।

कामधातु 'काम' कहलाता है क्योंकि इस धातु में कामगुणों का (१.२२ बी- डी. पृ० ४३) प्रधानत्व होता है। रूपधातु 'रूप' कहलाता है क्योंकि वहाँ रूप का प्रधानत्व है।^२ सूत्र इस भाषा का प्रयोग करता है : "यह शांत विमोक्ष रूपों का अतिक्रमण कर. . . . ।"^३

१. कामधातु में जरायुज, अण्डज और संस्वेदज (३.८) सत्त्व, आदि में, प्रतिसन्धि-काल में, कायेन्द्रिय और जीवितेन्द्रिय इन दो विपाकात्मक इन्द्रियों का लाभ करते हैं। क्रमशः अन्य इन्द्रियों का उनमें प्रादुर्भाव होता है ।

मन-इन्द्रिय और उपेक्षेन्द्रिय (३.४२) को क्यों नहीं गिनाते ?

क्योंकि प्रतिसन्धि-काल में दोनों अवश्य क्लिष्ट होते हैं; अतः वह विपाक नहीं हैं (३. ३८) ।

२. उपपादुक सत्त्व (३.९) ६, ७ या ८ इन्द्रिय से समन्वागत होते हैं। यदि अव्यंजन यथा प्राथमकल्पिक सत्त्व (३.९८) होते हैं तो ६ से समन्वागत होते हैं : ५ विज्ञानेन्द्रिय और जीवितेन्द्रिय। जो एक व्यंजन होते हैं वह सात से समन्वागत होते हैं; उभय-व्यंजन ८ से समन्वागत होते हैं ।

^१ कामेष्वादौ विपाकौ द्वे लभ्येते नोपपादुकैः ।

तैः षड् वा [सप्त वाष्टौ वा षड्] रूपेष्व् [एकमुत्तरम्] ॥

[व्या० ११०.१७, २४, २८ में विपाको के स्थान में विपाकौ पाठ है ।]

कथावत्थु, १४.२, अभिधम्मसंगह (काम्पेण्डियम, पृ. १६५) से तुलना कीजिए ।

^२ इसका यह अर्थ है : "क्योंकि रूप वहाँ अच्छ (= भास्वर) होते हैं" अथवा "क्योंकि रूप-धातु कामगुण-प्रधान नहीं है, रूपमात्र-प्रधान है" । १.२२ ए-बी, ४ में भिन्न वाद है ।

^३ येषां ते शान्ता विमोक्षा अतिक्रम्य रूपाण्यारूप्यास्तेऽप्यनित्या अध्रुवा अनाश्रुवा सिका विपरिणामधर्माणः संयुत्त, २.१२३ से तुलना कीजिए ।

८, १४०, मल्लभम, १, ४७२ देखिए ।

किन्तु क्या उपपादुक उभय-व्यंजन हो सकता है ?

हाँ, दुर्गति में ।

३. रूपधातु के सत्व प्रथमतः ६ विपाकात्मक इन्द्रियों से समन्वागत होते हैं यथा कामधातु के अव्यंजन उपपादुक ।

४. 'उत्तर' अर्थात् आरूप्यधातु में—यह धातु रूप (३. ३) से ऊर्ध्व अवस्थित नहीं है किन्तु [१३३] यह उत्तर इसलिए कहलाता है क्योंकि समापत्ति की दृष्टि से यह रूपधातु से पर है : आरूप्यधातु की समापत्तियों की भावना रूपधातु की समापत्तियों के पश्चात् होती है ; क्योंकि यह उपपत्तिः प्रधानतर है ।

इस धातु में सत्व, आदि में, एक विपाकात्मक इन्द्रिय अर्थात् जीवितेन्द्रिय से समन्वागत होते हैं ।

निरोधयत्युपरमन्नारूप्ये जीवितं मनः ।

उपेक्षा चैव रूपेण्टौ कामे दश नवाष्ट वा ॥१५॥

क्रममृत्यौ तु चत्वारि शुभे सर्वत्र पंच च ।

नवाप्तिरन्त्यफल्योः सप्ताष्टनवभिर्द्वयोः ॥१६॥

हमने बताया है कि प्रतिसन्धिकाल में कितनी विपाकात्मक इन्द्रियों का लाभ होता है । प्रश्न है कि मरणकाल में कितनी इन्द्रियाँ विनष्ट होती हैं ।

१५-१६ बी. आरूप्यधातु में म्रियमाण जीवितेन्द्रिय, मन-इन्द्रिय, उपेक्षेन्द्रिय का निरोध करता है ; रूपधातु में वह आठ इन्द्रियों का निरोध करता है ; कामधातु में वह १०, ९ या ८ का निरोध करता है और जब क्रममृत्यु होती है तब चार का निरोध करता है । शुभ मृत्यु की अवस्था में सर्वत्र पंच इन्द्रिय और जोड़िए ।^१

१. आरूप्यधातु का सत्व मरण-काल में कारिका में निर्दिष्ट तीन इन्द्रियों का प्रहाण अन्तिम क्षण में करता है ।

रूपधातु में चक्षुरादि पंचेन्द्रिय को जोड़ना चाहिए । वास्तव में सब उपपादुक समग्रेन्द्रिय के साथ उपपद्यमान होते हैं और मृत होते हैं ।

कामधातु में मृत्यु युगपत् होती है या क्रममृत्यु होती है । प्रथम प्रकार की मृत्यु में अव्यंजन आठ, एक व्यंजन ९, उभयव्यंजन १० इन्द्रियों का निरोध करता है । दूसरे प्रकार की मृत्यु में चार इन्द्रियों का अन्तिम क्षण में निरोध होता है ; इनका पृथक् निरोध नहीं होता : कायेन्द्रिय, जीवितेन्द्रिय, मन-इन्द्रिय और उपेक्षेन्द्रिय । इन चार इन्द्रियों का निरोध एक साथ होता है ।

^१ निरोधयत्युपरमन्नारूप्ये जीवितं मनः । [व्या० ११२. २]

उपेक्षां च (इव) रूपेण्टौ कामे दश नवाष्ट वा ॥ [व्या० १११. २२, २६]

क्रममृत्यौ तु चत्वारि शुभे सर्वत्र पंच च । [व्या० १११. ३१, ३४ में मृत्यौ तु के स्थान में मृत्योस्तु पाठ है ।]

अभिधम्मसंगह, काम्पेण्डियम पृ. १६६ से तुलना कीजिए ।

२. पूर्वोक्त मरण-विधि उस मरण-चित्त की है जो क्लिष्ट या अनिवृताव्याकृत है ।

[१३४] यदि यह चित्त कुशल है तो तीन धातुओं में श्रद्धादि पंचाधिक को प्रक्षिप्त कीजिए ।^१ कुशल चित्त में इनका अवश्य भाव होता है ।

इन्द्रियप्रकरण^२ में सब इन्द्रियधर्मों का, उनकी अवस्थाविशेष और उनके कारित्र-विशेष का, विचार किया गया है । अतः हमारा प्रश्न है कि श्रामण्यफल (६.५२) के लाभ में कितनी इन्द्रियाँ आवश्यक हैं ।

१६ सी डी. दो अन्त्यफल की प्राप्ति ९ इन्द्रियों से होती है; मध्य के दो फलों की प्राप्ति ७, ८ या ९ से होती है ।^३

अन्त्य फल स्रोत-आपत्ति फल और अर्हत्वफल हैं क्योंकि यह दो फल प्रथम और अन्तिम हैं । मध्य में सकृदागामि-फल और अनागामिफल होते हैं क्योंकि यह दो फल प्रथम और अन्तिम के मध्य में होते हैं ।

१. स्रोत-आपत्ति फल (६.३५ सी) की प्राप्ति ९ इन्द्रियों से होती है : मन-इन्द्रिय, उपेक्षेन्द्रिय,^४ श्रद्धादि पंचेन्द्रिय; अनाज्ञातामाज्ञास्यामीन्द्रिय, आज्ञेन्द्रिय (२.१० ए-बी)^५ ।

[१३५] अनाज्ञातमाज्ञास्यामि आनन्तर्यमार्ग है (६.३० सी); आज्ञा विमुक्तिमार्ग है^६ : इन दो इन्द्रियों से स्रोत-आपत्ति-फल की प्राप्ति होती है क्योंकि प्रथम क्लेश-विसंयोग (२.५५ डी १, ६.५२) की प्राप्ति का आवाहक है और द्वितीय इस प्राप्ति का संनिश्रय, आधार है ।^६

२. अर्हत्वफल (६.४५) का लाभ ९ इन्द्रियों से होता है : मन-इन्द्रिय, सौमनस्य या सुख या उपेक्षेन्द्रिय, श्रद्धादि पंचेन्द्रिय, आज्ञेन्द्रिय और आज्ञातावीन्द्रिय ।

^१ मरण-चित्त पर ३.४२-४३ बी. देखिए ।—काय के किस भाग में मनोविज्ञान निरुद्ध होता है, ३.४३ सी-४४ ए—मर्म स्थान कैसे निरुद्ध होते हैं, ३.४४ बी ।

^२ इन्द्रियप्रकरणे । कुछ यह अर्थ देते हैं: “हम यहाँ इन्द्रियों का जो व्याख्यान दे रहे हैं उसमें”; दूसरों के अनुसार यह अर्थ है : “इन्द्रियस्कन्धक में” [व्या० ११२.१३] ज्ञानप्रस्थान के छोटे ग्रंथ में [तकाकुसु, अभिधर्म लिटरेचर, पृ. ९३] ।

^३ नवाप्तिरन्त्यफलयोः सप्ताष्टनवभिद्वयोः ॥ [व्या० ११२. १५; ११४. २]

^४ क्योंकि जिस क्षण में योगी स्रोत-आपत्ति-फल का लाभ करता है उस क्षण में वह सदा अनागम्य (६.४८) समापत्ति की अवस्था में होता है; इस समापत्ति में उपेक्षावेदना होती है ।

^५ स्रोत-आपत्ति-फल का लाभ सत्याभिसमय के १६ वें क्षण में होता है: पहले १५ आज्ञास्यामि हैं, १६ वाँ आज्ञा है ।

^६ प्रथम क्षण आनन्तर्यमार्ग है, द्वितीय विमुक्तिमार्ग है और इसी प्रकार । किन्तु १६ वें क्षण की अपेक्षा पूर्व के १५ क्षण आनन्तर्यमार्ग समझे जा सकते हैं ।

^७ आनन्तर्यमार्ग क्लेश का निरोध करता है और क्लेश-विसंयोग की प्राप्ति का आवाहक है: वह चोर का निष्कासन करता है, विमुक्तिमार्ग कपाट को बंद करता है ।—जापानी संपादक यहाँ विभाषा ९०, ११ उद्धृत करता है जहाँ अकादमीक वाद के मानने वाले पश्चिम के आचार्यों से वचन उद्धृत किए गए हैं ।

यहाँ आज्ञेन्द्रिय आनन्तर्यमार्ग है; आज्ञातावीन्द्रिय विमुक्तिमार्ग है।^२

३. सकृदागामिफल (६.३६) की प्राप्ति या तो आनुपूर्वक (६.३३ ए) से होती है—वह योगी जिसने सकृदागामि-फल की प्राप्ति के पूर्व स्रोत-आपत्ति-फल का लाभ किया है—अथवा भूयोवीतराग (६.२९ सी-डी) से होती है—वह योगी जो अनास्रव मार्ग में अर्थात् सत्याभिसमय में प्रवेश करने के पूर्व लौकिक सास्रव मार्ग से प्रथम ६ प्रकार के कामक्लेशों को उपलिखित करता है। अतः जब वह दर्शनमार्ग की प्राप्ति करता है तब वह स्रोत-आपत्ति-फल को प्राप्त किए बिना ही सकृदागामी होता है।^३

आनुपूर्वक जो स्रोत आपन्न है सकृदागामि-फल की प्राप्ति या लौकिक मार्ग से करता है जिसमें सत्यों की भावना नहीं होती अथवा अनास्रव, लोकोत्तर मार्ग से करता है। प्रथम अवस्था में सात इन्द्रियों से, मन-इन्द्रिय, उपेक्षेन्द्रिय, श्रद्धादि पंचेन्द्रिय से, फल की प्राप्ति होती है। दूसरी अवस्था में आठ इन्द्रियों से, पूर्वोक्त ७ और आज्ञेन्द्रिय से, फल की प्राप्ति होती है।

भूयोवीतराग जो पृथग्जन है ९ इन्द्रियों से सकृदागामि-फल की प्राप्ति करता है। वास्तव में उसको सत्याभिसमय का संमुखीभाव करना चाहिए। अतः अनाज्ञातमाज्ञास्यामीन्द्रिय और आज्ञेन्द्रिय की आवश्यकता है यथा स्रोत-आपत्ति-फल की प्राप्ति के लिए।

[१३६] ४. अनागामि-फल की प्राप्ति या आनुपूर्वक करता है—वह योगी जिसने पूर्व फलों की प्राप्ति कर ली है—या वीतराग करता है—वह योगी जो अनास्रव मार्ग में प्रवेश किए बिना कामधातु के ९ प्रकार के क्लेशों को उपलिखित करता है अथवा आकिंचन्यायतन पर्यन्त ऊर्ध्व भूमियों के क्लेशों को उपलिखित करता है।

आनुपूर्वक अनागामि-फल की प्राप्ति ७ इन्द्रियों से करता है यदि वह लौकिक मार्ग का अनुसरण करता है, ८ इन्द्रियों से करता है यदि वह लोकोत्तर मार्ग का अनुसरण करता है यथा पूर्वोक्त आनुपूर्वक सकृदागामि-फल की प्राप्ति करता है।

वीतराग दर्शनमार्ग से ९ इन्द्रियों द्वारा उसी प्रकार अनागामि-फल की प्राप्ति करता है जिस प्रकार पूर्वोक्त भूयोवीतराग सकृदागामि-फल की प्राप्ति करता है।

इन सामान्य लक्षणों के विशेष बताना चाहिए।

१. वीतराग अनागामि-फल की प्राप्ति दर्शनमार्ग से करता है। सत्याभिसमय के लिए वह या तो तृतीयध्यानस्थ होता है अथवा प्रथम या द्वितीयध्यानस्थ होता है अथवा अनागम्य, ध्याना-

^२ अर्हत्वफल की प्राप्ति वज्रोपमसमाधि (६.४४ सी-डी) की अवस्था में होती है। उस अवस्था में वज्रोपमसमाधि-कलाप आनन्तर्यमार्ग, आज्ञेन्द्रिय स्वभाव का होता है। अतः वहाँ आज्ञेन्द्रिय वर्तमान होता है। क्षयज्ञान-कलाप जो इस अवस्था में विमुक्तिमार्ग, आज्ञातावीन्द्रिय स्वभाव का है उत्पादाभिमुख होता है [व्या० ११३.२२]—सौमनस्येन्द्रियादि, उस समापत्ति के स्वभाव के अनुसार जिसमें योगी वज्रोपम-समाधि का संमुखीभाव करता है।

^३ लौकिक मार्ग का यह वाद कथावत्यु, १.५ और १८.५ में सदीप बताया गया है। बुद्ध-घोष इसको सम्मितीयों का बताते हैं।

तर समापत्ति में समापन्न होता है अथवा चतुर्थ ध्यान में समापन्न होता है : निश्चयविशेष से उसका वेदनेन्द्रिय सुखेन्द्रिय, सौमनस्येन्द्रिय, उपेक्षेन्द्रिय में से अन्यतम होता है ।

इसके विपरीत भूयोवीतराग उपेक्षेन्द्रिय से सकृदागामि-फल की प्राप्ति करता है ।

२. जो आनुपूर्वक अनागम्य समापत्ति में अनागामि-फल की प्राप्ति के लिए प्रवेश करता है वह यदि तीक्ष्णेन्द्रिय है तो अनागम्य के नवें क्षण के लिए (नवम विमुक्तिमार्ग) व्युत्थान कर सकता है और प्रथम या द्वितीय ध्यान में प्रवेश कर सकता है ।

जब वह लौकिक मार्ग से क्लेशों का अपगम करता है तो वह ८ इन्द्रियों से, न कि ७ इन्द्रियों से, फल की प्राप्ति करता है : वास्तव में अनागम्य में जिसमें अन्तिम क्षण से पूर्व का क्षण (९वाँ आनन्तर्यमार्ग) संगृहीत है उपेक्षेन्द्रिय होता है और प्रथम तथा द्वितीय ध्यान में जिसमें अन्तिम क्षण संगृहीत है सौमनस्येन्द्रिय होता है । अतः क्लेश-विसंयोग उपेक्षेन्द्रिय और सौमनस्येन्द्रिय से होता है; जैसे हमने देखा है कि छोट आपन्न की व्यवस्था में विसंयोग आज्ञास्यामीन्द्रिय और आज्ञेन्द्रिय से होता है ।

[१३७] जब वह लोकोत्तर मार्ग से अर्थात् भावनामार्ग से क्लेशों का अपगम करता है तब ९ इन्द्रियों से फल की प्राप्ति होती है; उक्त इन्द्रियों में आज्ञेन्द्रिय को जो नवम इन्द्रिय होती है जोड़ना चाहिए । आनन्तर्यमार्ग और विमुक्तिमार्ग दोनों मिलकर आज्ञेन्द्रिय हैं ।^१

एकादशभिरर्हत्वमुक्तं त्वेकस्य संभवात् ।

उपेक्षा जीवितमनोयुक्तोऽवश्यं त्रयान्वितः ॥१७॥

१७ ए-बी. यह कहा गया है कि अर्हत्व की प्राप्ति ११ इन्द्रियों से होती है क्योंकि किसी एक पुद्गल के लिए ही यह संभव है ।^२

मूलशास्त्र (ज्ञानप्रस्थान, १५, १) में पठित है कि “कितनी इन्द्रियों से अर्हत्व की प्राप्ति होती है ?—११ से ।”

वास्तव में अर्हत्व की प्राप्ति, जैसा हमने कहा है, ९ इन्द्रियों से होती है । शास्त्र कहता है “११ से” क्योंकि इसकी अभिसन्धि अर्हत्व की प्राप्ति से नहीं है किन्तु इसने पुद्गल के प्रति ऐसा कहा है जो इस भाव की प्राप्ति करता है ।

एक आर्य की परिहाणि अर्हत्व की प्राप्ति में बार बार हो सकती है और वह विविध समापत्ति से उसको पुनः प्राप्त कर सकता है; कभी सुखेन्द्रिय से (तृतीय ध्यान), कभी सौमनस्ये-

^१ केवल आनुपूर्वक समापत्ति का परिवर्तन करता है, वीतराग नहीं । वास्तव में यदि वीतराग अनागम्य का निश्चय ले सत्याभिसमय का आरंभ करता है तो षोडश चित्त-क्षण में वह मौल प्रथम ध्यान में नहीं प्रवेश करता है । उसका चतुः सत्यदर्शन के प्रति आदर है, ध्यानों के प्रति नहीं, क्योंकि उनको वह अधिगत कर चुका है । इसके विपरीत आनुपूर्वक ध्यानार्थी है क्योंकि उसने पूर्व इसको अधिगत नहीं किया है ।

^२ [अर्हत्वस्यै] कादशभिर् [उक्तम्] एकस्य संभवात् । [व्या० ११६. १६]

न्द्रिय से (प्रथम और द्वितीय ध्यान), कभी उपेक्षेन्द्रिय से (अनागम्य आदि) । किन्तु इन तीन इन्द्रियों का एक काल में समवधान संभव नहीं है ।

किन्तु यह कैसी बात है कि अनागामिन् के लिए ऐसा प्रसंग नहीं होता ? शास्त्र क्यों नहीं अनागामि-फल के लिए वही कहता है जो अर्हत्व-फल के लिए कहता है ?

अवस्था भिन्न है । ऐसा नहीं होता कि आर्य अनागामि-फल से परिहीण हो सुखेन्द्रिय से उसकी प्राप्ति करता है ।^३

[१३८] दूसरे पक्ष में वीतरागपूर्वी जो कामधातु के सर्व क्लेशों से विरक्त है, जिसने अनागामिफल की प्राप्ति की है, इस फल से परिहीण नहीं हो सकता क्योंकि उसके वैराग्य की प्राप्ति दो मार्गों से हुई है; वैराग्य का उत्पाद लौकिक मार्ग से हुआ है और स्थैर्य लोकोत्तर मार्ग से (६.५१) ।

अमुक अमुक इन्द्रिय से समन्वागत पुद्गल कितनी इन्द्रियों से समन्वागत होता है (ज्ञान-प्रस्थान, ६, ५; विभाषा, ९०, २) ?

१७ सी-डी. जो मन-इन्द्रिय, जीवितेन्द्रिय या उपेक्षेन्द्रिय से युक्त होता है वह अवश्य तीन इन्द्रियों से अन्वित होता है ।^१

जो इन तीन इन्द्रियों में से किसी एक से युक्त होता है वह अवश्य अन्य दो से युक्त होता है : जब इनमें से एक का अभाव होता है तो अन्य दो का भी अभाव होता है ।^२ इनका एक दूसरे के बिना समन्वागम नहीं होता ।

अन्य इन्द्रियों का समन्वागम नियत नहीं है । जो इन तीन इन्द्रियों से अन्वित होता है वह अन्य से युक्त या अयुक्त हो सकता है ।

^३ जो अनागामी द्वितीय ध्यानभूमिपर्यन्त ऊर्ध्वभूमि-वैराग्य से परिहीण होता है वह इस कारण अनागामि-फल से परिहीण नहीं होता; वह अनागामी रहता है क्योंकि वह कामधातु से विरक्त रहता है । किन्तु जब वह प्रथम ध्यान से परिहीण होता है तब वह अनागामि-फल से परिहीण कहलाता है । इस प्रकार परिहीण होकर वह सुखेन्द्रिय से फल की पुनः प्राप्ति नहीं कर सकता क्योंकि यह इन्द्रिय तृतीय ध्यान की है और तृतीय ध्यान उसके लिए संभव नहीं है ।

क्या यह कह सकते हैं कि सौमनस्येन्द्रिय से फल की पुनः प्राप्ति हो सकती है ? ऐसा हो सकता यदि फलप्राप्ति के लिए अनागम्य समापत्ति में पुनः प्रवेश कर वह अन्तिम क्षण में प्रथम ध्यान में प्रवेश कर सकता । केवल वह योगी मौल ध्यान में प्रवेश कर सकता है जो तीक्ष्णेन्द्रिय है किन्तु यह योगी जिसका हम वर्णन करते हैं मूढिन्द्रिय है क्योंकि वह परिहीण है । केवल वही योगी परिहीण होते हैं जिनकी इन्द्रियाँ मूढ हैं ।

क्या परिहीण होकर योगी इन्द्रिय-संचार (६.४१ सी—६१ बी) कर सकता है और उनको तीक्ष्ण कर सकता है:—निस्सन्देह और जैसा हमने कहा है वह अनागामि-फल की प्राप्ति ८ इन्द्रियों से करता है यदि वह लौकिक मार्ग का अनुसरण करता है और ९ इन्द्रियों से यदि वह लोकोत्तर मार्ग का अवलम्बन करता है क्योंकि प्रत्येक अवस्था में वह सुखेन्द्रिय से फल की पुनः प्राप्ति नहीं करता ।

^१ उपेक्षाजीवितमनोयुक्तोऽवश्यं त्रयान्वितः ॥ [व्या० ११८.१७]

^२ न ह्येषामन्योन्येन बिना समन्वागमः [व्या० ११८.१९]

१. आरूप्यधातु में उपपन्न सत्व चक्षु-श्रोत्र-घ्राण और जिह्वेन्द्रिय से युक्त नहीं होता । कामधातु का सत्व इन इन्द्रियों से समन्वागत नहीं होता यदि उसने (कललादि अवस्था में) उनको प्रतिलब्ध नहीं किया है या यदि वह (अन्धत्वादि अवस्था में, क्रममरण में) उनसे विहीन हो गया है ।

२. आरूप्यधातु में उपपन्न सत्व के कायेन्द्रिय नहीं होता ।

३. आरूप्यधातु और रूपधातु में उपपन्न सत्व स्त्रीन्द्रिय से समन्वागत नहीं होता । काम-धातु में उपपन्न सत्व उससे समन्वागत नहीं होता यदि उसने उसे प्रतिलब्ध नहीं किया है या उससे विहीन हो गया है । यही पुरुषेन्द्रिय के लिए है ।

[१३९] ४. चतुर्थ ध्यान में, द्वितीय ध्यान^२ में, आरूप्यों में उपपन्न पृथग्जन^१ सुखेन्द्रिय से समन्वागत नहीं होता ।

५. चतुर्थ ध्यान, तृतीय ध्यान, आरूप्यों में उपपन्न पृथग्जन सौमनस्येन्द्रिय से समन्वागत नहीं होता ।

६. रूपधातु और आरूप्यधातु में उपपन्न सत्व दुःखेन्द्रिय से समन्वागत नहीं होता ।

७. कामवीतराग दौर्मनस्येन्द्रिय से समन्वागत नहीं होता ।

८. समुच्छिन्नकुशलमूल (४.७९) पुद्गल श्रद्धादि पंचेन्द्रियों से समन्वागत नहीं होता ।

९. न पृथग्जन, न फलस्थ आर्य, अनाज्ञातमाज्ञास्यामीन्द्रिय से समन्वागत होता है ।

१०. पृथग्जन, दर्शनमार्गस्थ (६.३१ ए-बी) और अशौक्षमार्गस्थ आज्ञेन्द्रिय से असमन्वागत होते हैं ।

११. पृथग्जन और शौक्ष आज्ञातावीन्द्रिय से असमन्वागत होते हैं ।

अप्रतिषिद्ध अवस्थाओं में यथोक्त समन्वागम जानना चाहिए ।

चतुर्भिः सुखकायाभ्यां पंचभिश्चक्षुरादिमान् ।

सौमनस्यो च दुःखी तु सप्तभिः स्त्रीन्द्रियादिमान् ॥१८॥

अष्टाभिरैकादशभिस्त्वाज्ञाज्ञातेन्द्रियान्वितः ।

आज्ञास्यामीन्द्रियोपेतस्त्रयोदशभिरन्वितः ॥१९॥

१८ ए. जो सुख या कायेन्द्रिय से समन्वागत है वह अवश्य चार इन्द्रियों से समन्वागत है ।^३

जो सुखेन्द्रिय से समन्वागत है वह जीवितेन्द्रिय, मन-इन्द्रिय, उपेक्षेन्द्रिय से भी समन्वागत होता है । जो कायेन्द्रिय से समन्वागत है वह इन्हीं तीन इन्द्रियों से भी समन्वागत होता है ।

^१ आर्य 'अनास्रव' सुखेन्द्रिय से समन्वागत होता है क्योंकि भूमिसंचार से उसके अनास्रव सुख

^२ का त्याग नहीं होता । (पृ. १४१, टिप्पणी २ देखिए)

शुआन् चाड ने इसे छोड़ दिया है—८. १२ ए-बी देखिए ।

^३ चतुर्भिः सुखकायाभ्याम् [व्या० ११९.८]

१८ बी. जो चक्षुरादि इन्द्रियों में से एक से समन्वागत होता है वह अवश्यमेव ५ इन्द्रियों से समन्वागत होता है ।^४

जो चक्षुमान् होता है वह चक्षुरिन्द्रिय के अतिरिक्त जीवितेन्द्रिय, मन-इन्द्रिय, उपेक्षेन्द्रिय और कायेन्द्रिय से समन्वागत होता है । जो श्रोत्रादि से समन्वागत होता है उसके लिए भी इसी प्रकार योजना करनी चाहिए ।

[१४०] १८ सी. इसी प्रकार सौमनस्येन्द्रिय से समन्वागत को भी समझना चाहिए ।^१

जो सौमनस्येन्द्रिय से समन्वागत होता है वह इसके अतिरिक्त जीवितेन्द्रिय, मन-इन्द्रिय, उपेक्षेन्द्रिय और सुखेन्द्रिय से भी समन्वागत होता है ।

किन्तु प्रश्न है^२ कि द्वितीय ध्यान में उपपन्न सत्त्व जो तृतीय ध्यान का अलाभी है किस प्रकार की सुखेन्द्रिय से समन्वागत है ?—उत्तर है कि वह तृतीयध्यानभूमिक विलिखित सुखेन्द्रिय से समन्वागत है ।

१८ सी-डी. जो दुःखेन्द्रिय से समन्वागत है वह अवश्य सात इन्द्रियों से समन्वागत होता है ।^३ दुःखेन्द्रिय से समन्वागत यह सत्त्व स्पष्ट ही कामधातूपपन्न है । वह अवश्यमेव जीवितेन्द्रिय, मन-इन्द्रिय, कायेन्द्रिय और चार वेदनेन्द्रिय से समन्वागत होता है : दौर्मनस्येन्द्रिय का उसमें अभाव होता है यदि वह वीतराग है ।

१८ डी-१९ ए. जो स्त्रीन्द्रियादि से समन्वागत होता है वह अवश्य आठ इन्द्रियों से समन्वागत होता है ।^४

इसका अर्थ इस प्रकार है : जो स्त्रीन्द्रिय, पुरुषेन्द्रिय, दौर्मनस्येन्द्रिय या श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा इन पाँच में से किसी एक से समन्वागत होता है ।

[१४१] जो एक व्यंजन से समन्वागत होता है वह इस इन्द्रिय के अतिरिक्त सात इन्द्रियों से जो १८ सी-डी में निर्दिष्ट हैं समन्वागत होता है क्योंकि यह सत्त्व कामधातूपपन्न है ।

^४ पञ्चभिश्चक्षुरादिमान् । [व्या० ११९. २८]

^१ सौमनस्यी च [व्या० ११९. ३४]

^२ कामधातु में सुखेन्द्रिय पञ्चविज्ञानकायिक होता है । प्रथम ध्यान में यह त्रिविज्ञानकायिक (घ्राण और जिह्वा को वर्जित कर, १. ३०६) होता है । द्वितीय ध्यान में सुखेन्द्रिय नहीं होता (८. १२) । तृतीय ध्यान में सुखेन्द्रिय मानस होता है (२. ७ सी-डी) । अतः यदि द्वितीय ध्यान में उपपन्न सत्त्व तृतीय ध्यान-समापत्ति की भावना नहीं करता तो वह सुखेन्द्रिय से समन्वागत नहीं होता क्योंकि भूमिसंचार से अर्थात् द्वितीय ध्यान में उपपन्न होने से उसने अधरभूमियों के सुखेन्द्रिय का त्याग किया है ।—उत्तर : वैभाषिक वाद (सिद्धान्त) के अनुसार अधरभूमि में उपपन्न सब सत्त्व उपरिभूमिक अप्रहीण विलिखित इन्द्रिय से समन्वागत होते हैं ।

^३ दुःखी तु सप्तभिः [व्या० १२०. ११]

^४ [स्त्रीन्द्रियादिमान् ॥ अष्टाभिः] [व्या० १२०. १६ में अष्टाभिः के स्थान में अष्टादिभिः पाठ है ।]

४. ८० ए देखिए जहाँ ज्ञान प्रस्थान, १६, १ उद्धृत है । ४. ७९ डी पर, प्रथम तीन द्वीपों में इन्द्रियों की संख्या ।

जो दौर्मनस्येन्द्रिय से समन्वागत होता है वह इस इन्द्रिय के अतिरिक्त अवश्य इन्हीं सात इन्द्रियों से समन्वागत होता है ।

जो श्रद्धादि पंचक में से किसी एक से समन्वागत होता है वह त्रैधातुक सत्त्व है । वह अवश्य-मेव श्रद्धादि पंचेन्द्रिय से समन्वागत होता है क्योंकि इनका अविनाभाव है और जीवितेन्द्रिय, मन-इन्द्रिय तथा उपेक्षेन्द्रिय से भी समन्वागत होता है ।

१९ ए-बी. जो आज्ञेन्द्रिय या आज्ञातावीन्द्रिय से समन्वागत होता है वह अवश्य ११ इन्द्रियों से समन्वागत होता है ।^१

अर्थात् : जीवितेन्द्रिय, मन-इन्द्रिय, सुख, सौमनस्य, उपेक्षेन्द्रिय,^२ श्रद्धादि पंचेन्द्रिय और ११ वाँ आज्ञेन्द्रिय या आज्ञातावीन्द्रिय ।

१९ सी-डी. जो आज्ञास्यामीन्द्रिय से समन्वागत होता है वह अवश्य १३ इन्द्रियों से समन्वागत होता है ।^३

वास्तव में कामधातु में ही दर्शन मार्ग (६.५५) का आसेवन होता है । अतः इस इन्द्रिय से समन्वागत सत्त्व कामावचर सत्त्व है । वह अवश्य जीवितेन्द्रिय मन-इन्द्रिय, कायेन्द्रिय, चार वेदनेन्द्रिय, श्रद्धादि पंचेन्द्रिय और आज्ञास्यामीन्द्रिय से समन्वागत होता है । यह आवश्यक [१४२] नहीं है कि वह दौर्मनस्येन्द्रिय, चक्षुरादि इन्द्रिय से समन्वागत हो । वास्तव में वह 'वीतराग' हो सकता है । उस अवस्था में दौर्मनस्य का उसमें अभाव होता है । वह अन्धादि हो सकता है ।^१

^१ हम पाठ का इस प्रकार उद्धार कर सकते हैं: एकादशभिराज्ञाज्ञाताविसान्वयः ।

^२ आज्ञेन्द्रिय से समन्वागत अर्थात् शंख कैसे अवश्य सुखेन्द्रिय और सौमनस्येन्द्रिय से समन्वागत होता है ? वह वास्तव में चतुर्थ ध्यान या आरूप्यधातु में उपपन्न हो सकता है ।

जब आर्य का कामवैराग्य होता है तब वह अवश्य सौमनस्येन्द्रिय का प्रतिलाभ करता है । जब उसका द्वितीयध्यानवैराग्य होता है तब वह अवश्य सुखेन्द्रिय का प्रतिलाभ करता है । भूमिसंचार होने पर भी वह प्रतिलब्ध (४.४० के अनुसार) शुभ का त्याग नहीं करता । वह प्राप्त शुभ का त्याग करता है जब फल-प्राप्ति होती है या जब इन्द्रियोत्तापन (४.४०) होता है किन्तु यह इसी प्रकार के उत्कृष्ट शुभ की प्राप्ति के लिए होता है ।

^३ आज्ञास्यामीन्द्रियोपेतस्त्रयोदशभिरन्वितः ॥ [व्या० १२१.१२]

^१ किन्तु क्या वह अव्यंजन हो सकता है ? इससे कठिनाई होती है क्योंकि हमने देखा है (पृ. १०५) कि स्त्री-पुरुषेन्द्रिय से वियुक्त-विकल सत्त्वों को संवर और फल की प्राप्ति नहीं होती तथा वैराग्य नहीं होता ।

एक मत के अनुसार । जिस पुद्गल ने संवर का प्रतिलाभ किया है उसको फल की प्राप्ति होती है । किन्तु व्यंजन-वैकल्य से संवर का त्याग नहीं होता क्योंकि अभिधर्म निर्दिष्ट करता है कि उभयव्यंजन के उदय से ही (४.३८ सी) प्रातिमोक्ष-संवर का त्याग होता है और यह निर्दिष्ट नहीं करता कि व्यंजन-वैकल्य से ऐसा होता है ।—अथवा क्रममरण से स्त्री-पुरुषेन्द्रिय के निरोध होने पर भी उसके लिए मरण-क्षण में दर्शन मार्ग की उत्पत्ति होती है जिसने निर्वेध-भागीयों का (६.१७) अभ्यास किया है ।

द्वितीय मत । आज्ञास्यामीन्द्रिय से समन्वागत पुद्गल स्त्री-पुरुषेन्द्रिय से वियुक्त-विल नहीं होता । किन्तु जब वह पुरुष होता है वह स्त्रीन्द्रिय से समन्वागत नहीं होता; वह जब स्त्री होता है तब पुरुषेन्द्रिय से समन्वागत नहीं होता । अतः दोनों इन्द्रियों से आवश्यक समन्वागम नहीं कहते । [व्या० १२१.२०]

सर्वालपैर्निःशुभोऽष्टाभिर्विन्मनःकायजीवितैः ।

युक्तो बालस्तथारूप्य उपेक्षायुर्मनःशुभैः ॥२०॥

जो पुद्गल सर्वालप इन्द्रियों से समन्वागत होता है वह कितनी इन्द्रियों से समन्वागत होता है (विभाषा, १५०, १३) ?

२० ए-बी. जो निःशुभ है वह कम से कम ८ इन्द्रियों से —कायेन्द्रिय, वेदनेन्द्रिय, जीवितेन्द्रिय, मन-इन्द्रिय से—समन्वागत होता है ।^२

निःशुभ पुद्गल वह है जिसके कुशलमूल समुच्छिन्न हैं । वह अवश्य कामधातु का है (४. ७९) ; वह वीतराग नहीं हो सकता । अतः परिगणित इन्द्रियों से वह अवश्य समन्वागत होता है ।

कारिका में वेदना के लिए 'विद्' का प्रयोग है अर्थात् 'जो संवेदन करता है' (वेदयते इति कृत्वा)—इसमें 'कर्तरि विवप्' है । अथवा विद् = 'वेदन'—भावसाधन है (औणादिकः विवप्) ।

२० सी-डी. इसी प्रकार आरूप्योपपन्न बाल ८ इन्द्रियों से अर्थात् उपेक्षेन्द्रिय, जीवितेन्द्रिय, मन-इन्द्रिय और शुभ इन्द्रियों से समन्वागत होता है ।^३

[१४३] पृथग्जन बाल कहलाता है क्योंकि उसने सत्यदर्शन नहीं किया है । शुभेन्द्रिय श्रद्धादि पंचेन्द्रिय हैं—क्योंकि बालाधिकार है, क्योंकि अष्टाधिकार है इसलिए आज्ञास्यामीन्द्रियादि अनास्रव इन्द्रियों के ग्रहण का प्रसंग नहीं होता ।

बहुभिर्युक्त एकास्त्रविशत्याऽमलवर्जितैः ।

द्विलिंग आर्यराग्येकलिंगद्वयमलवर्जितैः ॥२१॥

जो अधिक से अधिक इन्द्रियों से समन्वागत होते हैं वह कितनी इन्द्रियों से समन्वागत होते हैं ?

२१ ए-सी. अधिक से अधिक १९ : उभयव्यंजन, अमलेन्द्रियों को वर्जित कर ।^१

उभयव्यंजन अवश्य कामधातु का है । वह वीतराग नहीं है ; वह श्रद्धादि पंचेन्द्रियों से समन्वागत हो सकता है ; वह समग्रचक्षुरादिक हो सकता है । किन्तु वह पृथग्जन है : अतः आज्ञास्यामीन्द्रियादि अनास्रव इन्द्रियाँ उसमें अवश्य नहीं होतीं ।

कारिका में अनास्रव इन्द्रियाँ 'अमल' कही गई हैं । आज्ञास्याभि, आज्ञा और आज्ञाताधि अनास्रव हैं क्योंकि वह न आलम्बनतः, न संप्रयोगतः (५. १७) सास्रव हैं ।

२१ सी-डी. रागी आर्य एक लिंग और दो अनास्रव इन्द्रियों को वर्जित कर सब इन्द्रियों से समन्वागत हो सकता है ।^२

^२ [कायविज्जीवितमनः] सर्वालपैर्निःशुभोऽष्टाभिः । [व्या० १२२.५ में अष्टाभिः के स्थान में अष्टाभिः पाठ है जो छन्दोऽनुकूल नहीं है ।]

^३ [आरूप्येषु तथा बाल] उपेक्षायुर्मनःशुभैः ॥ [व्या० १२२.२२]

^१ [सर्वबहुभिर] एकोनविशत्यामल [वर्जितैः । द्विलिंगः]

^२ [राग्यार्यो लिंगैकामलद्वयवर्जितैः ॥]

जो आर्य रागी है, अतः शैक्ष है, अर्हत् नहीं, वह अधिक से अधिक १९ इन्द्रियों से समन्वागत होता है। पुरुषेन्द्रिय या स्त्रीन्द्रिय को वर्जित करना चाहिए; आज्ञातावाचिन्द्रिय को एकान्त वर्जित करना चाहिए; इसके अतिरिक्त आज्ञेन्द्रिय को, जब शैक्ष दर्शनमार्गस्थ है और आज्ञारगामीन्द्रिय को, जब शैक्ष भावनामार्गस्थ है, वर्जित करना चाहिए।^३ (७.१ ए)

२. परमाणु (२२)

[१४४] जैसा कि हमने पूर्व कहा है, संस्कृत धर्म, (१. ७ ए) रूप, वेदना, संज्ञादि भिन्न लक्षणों के हैं। प्रश्न है कि क्या इनका उत्पाद इसी प्रकार एक दूसरे से स्वतन्त्र होना है अथवा कुछ अवस्थाओं में इनका नियत सहोत्पाद भी होता है। कुछ संस्कृतों का सदा सहोत्पाद होता है।

सब धर्मों का संग्रह पंचवस्तुक नय से व्यवस्थापित करते हैं: रूप, चित्त, चैत या चित्तगं-प्रयुक्त धर्म (२. २३-३४), चित्तविप्रयुक्त अर्थात् चित्तविप्रयुक्त-संस्कार (२. ३५-४८) और असंस्कृत। यह अन्त्य उत्पन्न नहीं होते (१. ५, २. ५८): इनके प्रति सहोत्पाद-नियम का यहाँ विचार नहीं करना है।

पहले हम रूपी धर्मों के सहोत्पाद-नियम का विचार करते हैं।

कामेष्टद्रव्यकोऽशब्दः परमाणुरनिन्द्रियः ।

कायेन्द्रियो नवद्रव्यो दशद्रव्योऽपरेन्द्रियः ॥२२॥

२२. कामधातु में जो परमाणु अशब्द, अनिन्द्रिय है वह अष्टद्रव्यक^१ है। जब इसमें कायेन्द्रिय होता है तब यह नवद्रव्यक होता है; जब इसमें अपरेन्द्रिय होता है तब यह दशद्रव्यक होता है।^२

परमाणु से यहाँ द्रव्यपरमाणु, वह परमाणु जो एक वस्तु है, एक द्रव्य है (१. १३), इष्ट नहीं है किन्तु संघातपरमाणु अर्थात् सर्वसूक्ष्म रूपसंघात इष्ट है क्योंकि रूपसंघातों में इससे सूक्ष्मतर नहीं है।^३

^३ उक्त इन्द्रियाणां धातुप्रभेदप्रसंगेन (१. ४८ सी) आगतानां विस्तरेण प्रभेदः [व्या० १२३. १]।

^१ इस आख्या के अर्थ पर नीचे पृ० १४७ देखिए।

^२ कामेष्टद्रव्यकोऽशब्दः परमाणुर् [अनिन्द्रियः] [व्या० ३४. २७]

कायेन्द्रियो नवद्रव्यो दशद्रव्योऽपरेन्द्रियः ॥

वसुबन्धु धर्मश्री (नैजियो, धर्मात्तर १२८८), (फा शेंग), २. ८, उपशान्त [नैजियो १२९४), २. ९; धर्मत्रात (नैजियो १२८७), २. ११ का अनुसरण करते हैं: "चार इन्द्रियों में अवस्थित परमाणु १० प्रकार के होते हैं; कायेन्द्रिय में ९ प्रकार के; अन्यत्र ८ प्रकार के जब गन्ध होता है (अर्थात् कामधातु में)"——उपशान्त: "बाह्य, ८ प्रकार के: उस भूमि में जहाँ गन्ध है"।

इसी प्रकार का वाद बुद्धघोष के अभिधम्म में (अत्थसालिनी, ६३४) और काम्पेण्डियम के अभिधम्म में (पृ. १६४)——ऊपर १. १३, ४३ सी और शरवात्स्की की 'दि सोल थियोरी ऑफ दि बुद्धिस्ट्स' पृ. ९५३ देखिए।

^३ संघभद्र के अनुसार (२३. ३, फ़ोलिओ ५२ ए): सप्रतिघ रूपों का सर्वसूक्ष्म भाग जिसका पुनः

[१४५] १. काम धातु में जब परमाणु में शब्द (शब्दायतन) उत्पन्न नहीं होता, जब कोई इन्द्रिय उत्पन्न नहीं होती तब यह नियत रूप से अष्टद्रव्यक ही होता है, इससे न्यून द्रव्य का नहीं होता : अर्थात् चार महाभूत (१. १२ सी) और चार भौतिक रूप—रूप (१. १० ए), गन्ध, रस, स्पर्शद्रव्य (२. ५० सी-डी; ६५ ए-बी)

२. जब परमाणु में शब्द उत्पन्न नहीं होता किन्तु कायेन्द्रिय (कायायतन)^१ होता है तो इसमें एक नवाँ द्रव्य, कायेन्द्रिय द्रव्य होता है ।

३. जब परमाणु में शब्द उत्पन्न नहीं होता किन्तु कायेन्द्रिय को वर्जित कर अन्य इन्द्रिय (चक्षुरिन्द्रिय आदि) होता है तो इसमें एक १०वाँ द्रव्य, अपरेन्द्रिय (चक्षुरिन्द्रिय आदि) द्रव्य होता है क्योंकि चक्षुश्रोत्रादि इन्द्रिय कायेन्द्रियप्रतिबद्ध हैं और पृथक्वर्ती आयतन हैं ।

४. यदा पूर्वोक्त संघातपरमाणु सशब्द होते हैं तब यथाक्रम नव-दश-एकादश-द्रव्यक उत्पन्न होते हैं : वास्तव में जो शब्दायतन उपात्त (१. १० वी) महाभूतों से उत्पादित होता है वह इन्द्रिया-विनिर्भागी होता है ।^२

[१४६] ५. यदि पृथिवीधातु आदि चार महाभूतों का अविनिर्भागी है, यदि वह संघात-परमाणु में सहवर्तमान होते हैं तो यह कैसे है कि एक संघात में कठिन, द्रव, उष्ण या समुदीरणा का ग्रहण होता है और उसमें इन चार द्रव्यों या स्वभावों का युगपत् ग्रहण नहीं होता ?

हम किसी संघात में (पृथिवीधातु आदि) द्रव्यों में से उस द्रव्य की उपलब्धि करते हैं जो वहाँ पटुतम (स्फुटतम) होता है, जो प्रभावतः उद्भूत होता है, अन्य द्रव्यों की नहीं । यथा जब हम सूचीतूलीकलाप^३ का स्पर्श करते हैं तो हम सूची की उपलब्धि करते हैं, यथा जब हम लवणयुक्त सक्तु-चूर्ण खाते हैं तो लवणरस की उपलब्धि करते हैं ।

विभाग नहीं हो सकता परमाणु कहलाता है अर्थात् परमाणु अन्य रूप से, चित्त से कई भागों में विभक्त नहीं हो सकता । इसे सर्वसूक्ष्म रूप कहते हैं । क्योंकि इसके भाग नहीं हैं इसलिए इसे 'सर्वसूक्ष्म' का नाम देते हैं । यथा सर्वसूक्ष्म काल को क्षण कहते हैं और यह अर्ध-क्षणों में विभक्त नहीं हो सकता (३. ८६) ।

इन अणुओं का संघात जिसको असंहत नहीं कर सकते संघाताणु कहलाता है ।

काम में कम से कम आठ द्रव्यों का सहोत्पाद होता है और इनका अशब्द, अनिन्द्रिय संघाताणु होता है ।—यह द्रव्य क्या है ?—चार महाभूत, चार उपादाय अर्थात् रूप, रस, गन्ध, स्पर्शद्रव्य ।

^१ जिन परमाणुओं में कायेन्द्रिय, चक्षुरादि होते हैं वह 'ऐटम' है; इनका यहाँ प्रश्न है, १. ४४ ए-बी ।

^२ एक शब्दपरमाणु में जो हस्त से उत्पादित होता है चार महाभूत, चार उपादाय रूप, शब्द और कायेन्द्रिय होते हैं: १० द्रव्य; जिह्वा से उत्पादित शब्द में ११ द्रव्य होते हैं । इसमें जिह्वेन्द्रिय की वृद्धि होती है, जिह्वेन्द्रिय के परमाणु अतीन्द्रिय जिह्वा पर अवस्थित होते हैं (अनुवादक की टिप्पणी) । संघभद्र १०, पृ० ३८३, कालम ३ ।

^३ तूल्यो वीरणादिपुष्पमूलदण्डाः, या: 'सिका' । इति प्राकृतजनप्रतीता: [व्या० १२४. ६] ।

—जे० ब्लाक, फार्मेशन आफ दि मराठी लैंग्वेज, पृ० ४२ देखिए: सिक (शिक्य) 'वस्तुओं के लटकाने की रस्सी, छिक्का ।

आप कैसे जानते हैं कि एक संघात में महाभूत होते हैं जिनके सद्भाव की उपलब्धि नहीं होती है ?

सब महाभूतों का अस्तित्व उनके कर्मविशेष से अर्थात् धृति, संग्रह, पवित्र, व्यूहन से (१. १२ सी) गमित होता है ।^२

एक दूसरे मत के अनुसार अर्थात् भदन्त श्रीलाम के अनुसार संघातों में चार महाभूत होते हैं क्योंकि प्रत्यय-लाम होने से कठिनादि का द्रवणादिभाव होता है ।^३ तेजोधातु का अस्तित्व जल में है क्योंकि जल में शैत्य का अतिशय है ।^४ यह तेज के अन्यतर-नमोत्पत्ति से होता है ।

किन्तु हम कहेंगे कि शैत्य का पटु-पटुतरभाव यह सिद्ध नहीं करता कि शैत्य द्रव्य का उसके विपर्यय औष्ण्य से मिश्रीभाव (व्यतिभेद) होता है । यथा शब्द का द्रव्यान्तर से व्यतिभेद नहीं होता और अतिशय होता है ; यथा वेदना का किसी द्रव्यान्तर से व्यतिभेद नहीं होता और तारतम्य से अतिशय होता है ।

(१४७) एक दूसरे मत के अनुसार अर्थात् सौत्रान्तिकों के अनुसार संघात में जिन महाभूतों की उपलब्धि नहीं होती वह बीजतः (शक्तितः, सामर्थ्यतः) वहां होते हैं, कार्यतः, स्वरूपतः नहीं होते । इस प्रकार भगवत्-वचन है (संयुक्तागम, १८, १०) : “इस दारु-स्कन्ध में विविध धातु हैं ।”^५ भगवत् का यह अभिप्राय है कि इस दारु में अनेक धातुओं के बीज, अनेक धातुओं की शक्तियां हैं क्योंकि दारु में सुवर्ण-रूप्यादि के स्वरूपतः होने का अवकाश नहीं है ।

सौत्रान्तिक एक दूसरा आक्षेप करते हैं : वायु में वर्ण के सद्भाव को कैसे व्यवस्थित करते हैं ?^६ वैभाषिक उत्तर देते हैं : यह अर्थ श्रद्धनीय है, अनुमान-साध्य (अनुमेय) नहीं है । अथवा वायु वर्णवान् है क्योंकि वायु का गन्धवान् द्रव्य से संसर्ग होने से गन्ध का ग्रहण होता है किन्तु यह गन्ध वर्ण के साथ व्यभिचार नहीं करता ।^७

६. हम जानते हैं कि रूपधातु में गन्ध और रस का अभाव है (१. ३०) । अतः वहां के परमाणुओं की संख्या को न्यून करना चाहिए । वहां के परमाणु पटु-सप्त-अष्टद्रव्यक होंगे और

^२ अब्धातु दारु में होता है : यह अब्धातु है जो उसका संग्रह करता है और विशीर्ण होने से उसे रोकता है । यह तेजोधातु है जिसके कारण काष्ठ में पक्ति होती है और उसका पूति-भाव होता है । वायुधातु में काष्ठ का व्यूहन, प्रसर्पण होता है ।—पृथिवीधातु जल में है क्योंकि जल में नौका प्रभृति की धृति होती है ।—ऊपर, पृ. २२, व्याख्या, पृ. ३४ देखिए ।

^३ कठिन लोहे का अग्नि से द्रवण होता है ; अतः इसमें अब्धातु का अस्तित्व है । द्रव जल शैत्य से कठिन होता है, अतः इसमें पृथिवीधातु का अस्तित्व है । कठिन-संघर्ष से औष्ण्य की उपलब्धि होती है, इससे जाना जाता है कि यहाँ तेजोधातु का अस्तित्व है इत्यादि ।

^४ अप्सु शैत्यातिशयादौष्ण्यं गम्यते । [व्या० १२४. २८]
सन्न्यस्मिन् दारुस्कन्धे विविधा धातवः [व्या० १२५. ९]—धातु के अर्थ के लिए १. २० देखिए ।

^५ इस लक्षण से सद्भाव होता है : परमाणु अष्टद्रव्यक है ।

^६ वर्णवान् वायुर्गन्धवत्त्वाज्जातिपुष्पवत्—[व्या० १२५. २०]—१. १३ सी-डी भी देखिए ।

जब यह शब्द होते हैं तो सप्त-अष्ट-नवद्रव्यक होते हैं। उक्त कल्प होने से हम पुनः विस्तार से व्याख्यान नहीं करते हैं।

७. आक्षेप—वैभाषिक कहते हैं कि कामधातु का परमाणु कम से कम अष्टद्रव्यक होता है। क्या उनका अभिप्राय उन द्रव्यों से है जो मुख्यवृत्त्या द्रव्य हैं (द्रव्यमेव), जिनका स्वलक्षण है^४ अथवा आयतन अभिप्रेत है जिन्हें द्रव्य कह सकते हैं क्योंकि उनका सामान्य-विशेष लक्षण है ?^५ —प्रथम पक्ष में संख्या अत्यल्प है। आप कहते हैं कि परमाणु में चार उपादायरूप होते हैं, प्रथम रूप है : हम कहते हैं कि परमाणु इसमें न केवल वर्णरूप (वर्ण, नील या लोहित द्रव्य, आदि) [१४८] है किन्तु संस्थानरूप (१. १०, ४. ३ सी^६) भी है क्योंकि वहां कई अणुओं का संघात है। इसमें 'स्पष्टद्रव्य' नामक 'भौतिक' रूप का सद्भाव है : हम कहते हैं कि यह गुरु या लघु, कर्कश या इलक्षण होगा; इसमें शीत, जिघत्सा, पिपासा की संभावना है। अतः इसमें गुरुत्व या लघुत्व, इलक्षणत्व या कर्कशत्व, शीत, जिघत्सा और पिपासा नामक द्रव्य होंगे (१. १० डी)। अतः प्रस्तावित संख्या अत्यल्प है।—इसके विपरीत यदि वैभाषिक का अभिप्राय आयतनों से है तो संख्या अति बहु है क्योंकि महाभूत स्पष्टव्यायतन में (१. ३५ ए) संगृहीत हैं। अतः यह कहना चाहिए कि परमाणु चतुर्द्रव्यक है—रूप, गन्ध, रस, स्पष्टद्रव्य।

वैभाषिक उत्तर देता है—परमाणु का हमारा लक्षण सुष्ठु है। द्रव्य शब्द का अर्थ यथायोग मुख्यवृत्त्या द्रव्य और आयतन है। संघातपरमाणु के ८ द्रव्यों में (१) चार मुख्यवृत्त्या द्रव्य अर्थात् चार महाभूत हैं जो भौतिक रूप के आश्रयभूत हैं, (२) चार आयतन हैं जो महाभूतों के आश्रयीभूत, चार प्रकार के भौतिक रूप हैं : रूप, गन्ध रस और स्पष्टद्रव्य (स्पष्टव्यायतन से आश्रयभूतों को निष्कृष्ट कर)।

उत्तर युक्त नहीं है क्योंकि इन चार भौतिक रूपों में से प्रत्येक का आश्रय भूतचतुष्क है। अतः संघातपरमाणु में २० द्रव्य होंगे।^१

^४ यस्य स्वलक्षणमस्ति तद्द्रव्यम्। नील एक द्रव्य है। [व्या० १२५. ३१]

^५ सामान्यविशेषलक्षणसद्भावात् [व्या० १२५. ३२] —रूप में प्रतिघात का स्वभाव है (रूप्यते) जो वर्ण, संस्थान, नीलादि को सामान्य है।

^६ हमने देखा है (१. १३, पृ. २५) कि एक द्रव्यपरमाणु अकेला नहीं रहता। जापानी संपादक इस विषय में ह्वी-ह्वी की ६ अध्याय की टीका का उद्धरण देते हैं। एम० पी० पेलिओ ने इस उद्धरण को ताओ ८३. ५, क्रोलिओ ४१४ में पाया है; इसके साथ में एक विवृति है जो रूपान्तर संघातपरमाणु के लिए १३७९ परमाणु व्यवस्थित करती है।

इन विवृतियों का अर्थ इस प्रकार है किन्तु इसमें भूल हो सकती है:

द्रव्यपरमाणु अकेला नहीं रहता। कम से कम ७ द्रव्यों का संघात होता है: चार पार्श्व-ऊर्ध्व तल अर्थात् ६ पार्श्व और मध्य; अतः सात। यदि भौतिक रूप का (महाभूतान्युपादायरूपम्) यथा रूप या गन्ध के संघातपरमाणु का विचार करें तो रूप या गन्ध के सात द्रव्य होते हैं।

इन सात द्रव्यों में से प्रत्येक सात द्रव्य-समुदाय का आश्रयीभूत होता है। इन सात द्रव्यों का स्वभाव भूतचतुष्क का होता है। यह वह सात द्रव्य हैं जहाँ भूतचतुष्क का अस्तित्व होता है।

[१४९] वैभाषिक कहते हैं—नहीं, क्योंकि हम काठिन्यादि भूतचतुष्क जाति का यहाँ ग्रहण करते हैं। जो एक भूतचतुष्क की जाति है उसका अन्य भूतचतुष्क अतिक्रमण नहीं करते चाहे यह उपादायरूप गन्ध के आश्रय हों या उपादायरूप भौतिक रूप, रस, स्प्रष्टव्य के आश्रय हों।

किन्तु आप इस प्रकार अस्पष्ट रीति से अपने को क्यों व्यक्त करते हैं और द्रव्य शब्द को दो भिन्न अर्थों में क्यों प्रयुक्त करते हैं ? वाणी की प्रवृत्ति छन्द के अनुसार होती है किन्तु अर्थ की परीक्षा करनी चाहिए ।^१

३. चैत (२३-३४)

चित्तचैताः सहावश्यं सर्वं संस्कृतलक्षणैः ।

प्राप्त्या वा पञ्चा चैता महाभूम्यादिभेदतः ॥२३॥

२३ ए. चित्त-चैत का अवश्य सहोत्पाद होता है ।^२

चित्त और चैत एक दूसरे के बिना उत्पन्न नहीं होते ।

२३ बी. सब अवश्य संस्कृतलक्षणों के साथ उत्पन्न होते हैं ।^३

[१५०] सब संस्कृत धर्म, रूपा, चित्त (२. ३४), चैत, चित्तविप्रयुक्त संस्कार (२. ३५) अपने संस्कृतलक्षणों के साथ अर्थात् जाति, स्थिति, जरा और अनित्यता (२. ४६ ए) के साथ अवश्य उत्पन्न होते हैं ।

२३ सी. कभी प्राप्ति के साथ ।^४

इन सात द्रव्यों में से प्रत्येक में पृथिवी, अप्, तेज, वायु यह चार द्रव्य होते हैं: पृथिवी द्रव्य में ७ पृथिवी द्रव्यपरमाणु होते हैं, इत्यादि ।

अतः (१) पृथिवी, अप्, तेज, वायु के सात द्रव्यपरमाणु, कुल २८ द्रव्यपरमाणु का एक भूत-चतुष्क द्रव्यपरमाणु होता है ।

(२) एक भूतचतुष्क द्रव्यपरमाणु अकेले नहीं रहता : भौतिक रूप के एक द्रव्यपरमाणु के आश्रयभूत सात का समुदाय होता है ($७ \times २८ = १९६$ द्रव्यपरमाणु) ।

(३) भौतिक रूप का द्रव्यपरमाणु अपने आश्रयों के साथ अर्थात् भूतचतुष्क के द्रव्यपरमाणुओं के साथ [१-१९६=१९७ द्रव्यपरमाणु], अन्य ६ सद्दृश द्रव्यपरमाणुओं से मिलकर संघात बनाता है :

अतः भौतिक रूप के द्रव्यपरमाणु में १३७९ (७×१९७) द्रव्यपरमाणु होते हैं ।

[किन्तु सर्व भौतिक में रूपत्व, गन्धत्व, रसत्व, स्प्रष्टव्यत्व होता है । अतः पृथग्भाव में अवस्थित रूप के अत्यल्प भाग के प्राप्त करने के लिए इस संख्या को चार से गुणा करना चाहिए ।]

^१ छन्दतो हि वाचां प्रवृत्तिः । अर्थस्तु परीक्ष्यः [व्या० १२६.२१]—अर्थात् छन्दत इच्छातः संक्षेपविस्तरविधानानुविधायिन्यो वाचः प्रवर्तन्ते । अर्थस्त्वाभ्याम् परीक्ष्यः ।

^२ चित्तचैताः सहावश्यम् [व्या० १२७.३]

चित्त = मनस् = विज्ञान ।

चैत = चैतस = चैतसिक = चित्तसंप्रयुक्त ।

^३ सर्वम् संस्कृतलक्षणैः । [व्या० १२७.७]

^४ प्राप्त्या वा ।

संस्कृत धर्मों में जो सत्वाख्य (सत्त्वसंख्यात, १.१०) हैं वह अवश्य अपनी अपनी प्राप्ति (२.३७ बी) के साथ उत्पन्न होते हैं। अन्य की प्राप्ति नहीं होती। अतः कारिका में 'वा' शब्द विकल्प के अर्थ में कहा है।

चैत क्या है ? २

२ ए. वसुबन्धु और सौत्रान्तिकों के अनुसार चैतों का वाद।

बी. प्रकरणपाद और धातुकाय

सी. अभिधम्म

ए. विज्ञप्तिमात्रशास्त्र की टीका कहती है कि सौत्रान्तिकों में दो सिद्धान्त हैं। एक अर्थात् दाष्टान्तिक का मत है कि केवल चित्त का अस्तित्व है, चैतों का अस्तित्व नहीं है। बुद्धदेव से इनका एकमत्य है (१.३५ टिप्पणी देखिए)। दूसरे स्वीकार करते हैं कि चैतों का अस्तित्व है किन्तु उनमें अवान्तर भेद है : कुछ तीन चैत मानते हैं : वेदना, संज्ञा, चेतना; कुछ चार (स्पर्श को जोड़कर), कुछ १० (दस महाभूमिक), कुछ १४ (लोभ, द्वेष, मोह, मान को जोड़कर) मानते हैं; इसके अतिरिक्त कुछ सौत्रान्तिक सर्वास्तिवादियों के सब चैत मानते हैं। (वैसलीक पृ. ३०९ की सूचनाएँ भिन्न ह; भट्टोपम के स्थान में 'भदन्त सौत्रान्तिक' पढ़िए)। वैसलीक, २८१ = ३०९ कहते हैं: "सौत्रान्तिकों में भदन्त दाष्टान्तिक (अर्थात् 'भदन्त', १.३६) वेदना, संज्ञा और चेतना को द्रव्य मानते हैं किन्तु भदन्त बुद्धदेव में स्पर्श और मनसिकार अधिक हैं...। भदन्त दाष्टान्तिक श्रौलात...।" चैतों के प्रश्न पर कोश, १.६४, ८.१५९, ९. २५२, सिद्धि, ३९५; काम्पेडियम, १२ भी।

२. २६ सी-डी; ३ ३२ ए-बी देखिए।

पंचस्कन्धप्रकरण में (नैज्जियो, ११७६ एमडिओ ५८) वसुबन्धु ने चैतों के अपने वाद का व्याख्यान किया है।—चैत क्या है ? चित्त संप्रयुक्त धर्म अर्थात् (१) ५ सर्वग : स्पर्श, मनस्कार, वेदना संज्ञा, चेतना। (२) ५ प्रतिनियत विषय : छन्द, अधिमुक्ति, स्मृति, समाधि, प्रज्ञा। (३) ११ कुशलः श्रद्धा, ह्री, अपत्राप्य, अलोभ-कुशलमूल, अद्वेष कुशलमूल, अमोह कुशलमूल, वीर्य, प्रश्रद्धि, अप्रमाद, उपेक्षा, अहिंसा। (४) ६ क्लेश : राग, प्रतिघ, मान, अविद्या, दृष्टि, विचिकित्सा। (५) शेष उपक्लेश हैं : क्रोध, उपनाह, अक्ष, प्रदास, ईर्ष्या, मात्सर्य, माया, शाठ्य, मद, विहिंसा, आह्नीक्य, अनपत्राप्य, स्त्यान, औद्धत्य, आश्रद्धय कौसौद्य, अप्रमाद, मुषितस्मृतिता, विक्षेप, असंप्रजय। (६) चार अस्थिर स्वभाव के : कौकृत्य, मिद्ध, वितर्क, विचार।

बी. प्रकरणपाद (ग्रन्थ का आरम्भ) के अनुसार :

५ धर्म हैं : १. रूप २. चित्त, ३. चैतधर्म, ४. चित्त विप्रयुक्त संस्कार, ।

५. असंस्कृत... चित्त क्या है ? यह चित्त, मनस्, विज्ञान अर्थात् चक्षुर्विज्ञान आदि विज्ञान काय हैं। चैत क्या है ? चित्तसंप्रयुक्त सर्वधर्म। यह धर्म क्या है ? अर्थात् वेदना, संज्ञा, चेतना, स्पर्श, मनसिकार, छन्द, अधिमुक्ति, स्मृति, समाधि, प्रज्ञा, श्रद्धा, वीर्य, वितर्क विचार, प्रमाद, अप्रमाद, कुशलमूल, अकुशलमूल, अव्याकृतमूल, सब संयोजन, अनुशय, उपक्लेश, पर्यवस्थान (५.४७), सर्वज्ञान (७.१), सर्वदृष्टि, सर्वाभिसमय (६.२७) और इस जाति के सब धर्म जो चित्त से संप्रयुक्त हैं चैत हैं।

आगे चल कर (चतुर्थ अध्याय के आरंभ में, २३. १०, फोलिओ १८ बी = धातुकाय, आरंभ) : "१८ धातु १२ आयतन, ५ स्कन्ध, ५ उपादानस्कन्ध, ६ धातु, १० महाभूमिक, १० कुशल-महाभूमिक, १० क्लेशमहाभूमिक, १० परीत्तक्लेशभूमिक, ५ क्लेश, ५ संस्पर्श, ५ दृष्टि, ५ इन्द्रिय, ५ धर्म, ६ विज्ञानकाय, ६ स्पर्शकाय, ६ वेदनाकाय, ६ संज्ञाकाय, ६ चेतनाकाय, ६ तृष्णाकाय—१८ धातु क्या हैं ? ... ६ धातु क्या हैं ? अर्थात् पृथिवीधातु...

[१५२] २३ सी-डी. चैत महाभूमिकादि भेद से पंचविध हैं।^१

जो चैत सर्वचित्तसहगत हैं वह महाभूमिक हैं; जो सर्वकुशलचित्तसहगत हैं वह कुशलमहाभूमिक हैं; जो सर्वक्लिष्टचित्तसहगत हैं वह क्लेशमहाभूमिक हैं, जो सर्वअकुशलचित्तसहगत हैं वह अकुशलमहाभूमिक हैं; जिनकी भूमि परीतक्लेश है वह परीतक्लेशभूमिक हैं।

भूमि का अर्थ 'गतिविषय' (उत्पत्तिविषय) है। एक धर्म का उत्पत्ति-स्थान उस धर्म की भूमि है।

'महाभूमि' नाम इसलिए पड़ा क्योंकि यह महान् धर्मों की [अर्थात् अति विस्तृत धर्मों की जो सर्वचित्त में होते हैं] भूमि, उत्पत्ति-विषय है। महाभूमि में जो धर्म सहज हैं वह महाभूमिक कहलाता है अर्थात् यह वह धर्म है जो सर्व चित्त में सदा होता है।^२

(कोश, १.२८) — १० महाभूमिक क्या हैं ? अर्थात् वेदना प्रज्ञा । — १०

कुशलमहाभूमिक क्या हैं ? अर्थात् श्रद्धा, वीर्य, ह्री, अपत्रपा, अलोभ, अद्वेष, प्रश्रन्धि, उपेक्षा, अप्रमाद, अहिंसा — १० क्लेशमहाभूमिक क्या हैं ? अश्वाद्वय प्रमाद (नीचे २.२६ ए-सी में यह सूची दी है) — १० परीतक्लेशभूमिक क्या हैं ? अर्थात् क्रोध, उपनाह, झझ, प्रदास, ईर्ष्या, मात्सर्य, शाठ्य, माया, मद, विहिंसा —

५ क्लेश क्या हैं ? अर्थात् कामराग, रूपराग, आरूप्यराग, प्रतिघ, विचिकित्सा (५.१) ।

५ दृष्टि क्या हैं ? अर्थात् सत्कायदृष्टि, अन्तर्ग्राहदृष्टि, मिथ्यादृष्टि, दृष्टिपरामर्श, शीलव्रतपरामर्श (५.३) — ५ संस्पर्श क्या हैं ? अर्थात् प्रतिघ^०, अधिवचन^०, विद्या^०, अविद्या^०, नैवविद्यानाविद्यासंस्पर्श (३.३० सी-३१ ए) — ५ इन्द्रिय क्या हैं ? अर्थात् सुखेन्द्रिय, दुःखेन्द्रिय, सौमनस्येन्द्रिय, वीर्यमनस्येन्द्रिय, उपेक्षेन्द्रिय (२.७) —

५ धर्म क्या हैं ? अर्थात् वितर्क, विचार, विज्ञान, आह्लीक्य, अनपत्राप्य [कोश, २.२७ में वितर्क और विचार अनियत माने गए हैं; २.२६ डी में, आह्लीक्य और अनपत्राप्य अकुशल-महाभूमिक माने गए हैं; यह प्रकार बहुत आगे चल कर कल्पित हुआ है, ३.३२ ए-बी देखिए; प्रकरण और धातुकाय में यहाँ जो विज्ञान अभिप्रेत है वह निस्सन्देह ६ विज्ञानकाय हैं] — ६ विज्ञानकाय क्या हैं ? अर्थात् चक्षुर्विज्ञान गन्धविज्ञान । — ६ संस्पर्श-काय क्या हैं ? अर्थात् चक्षुःसंस्पर्श मनःसंस्पर्श (३.३० बी.) — ६ वेदनाकाय क्या हैं ? अर्थात् चक्षुःसंस्पर्शजवेदना (३.३२ ए) — ६ संज्ञाकाय क्या हैं ? अर्थात् चक्षुःसंस्पर्शजसंज्ञा ६ चेतनाकाय क्या हैं ? अर्थात् चक्षुःसंस्पर्शजचेतना ६ तृष्णाकाय क्या हैं ? अर्थात् चक्षुःसंस्पर्शजतृष्णा ।

धातुकाय महाभूमिकों का व्याख्यान करता है: "वेदना क्या है ?" (२.२४ पृ. १५३ नोट १ सी. देखिए)

सी. कथावत्थु, ७.२-३, राजगिरिक और सिद्धत्थिक धर्मों के संप्रयोग, चैतसिकों के अस्तित्व का प्रतिषेध करते हैं; ९.८, उत्तरापथक वितर्क को महाभूमिक मानते हैं (पारिभाषिक शब्द नहीं है) — विसुद्धिमग्ग, १४. — अभिधम्मसंगह, २.

काम्पेण्डियम, पृ० २३७ में एस० जेड० आंग और सी० ए० एफ० राइस डेविड्स की चैत-सिकवाद के विकास पर रोचक सूचनाएँ हैं। पञ्जा और थिञ्जाण के संसर्गकावाद, सज्जिम्म, १, २९३

^१ पंचधा चैता महाभूम्यादिभेदतः ॥

^२ जापानी संपादक द्वारा उद्धृत विभाषा (१६, १२ बी) के अनुसार: महाभूमिक धर्म का क्या अर्थ है ? ए. 'महान्' चित्त है; यह १० धर्म भूमि है अर्थात् चित्त के उत्पत्ति-विषय हैं; 'महान्' की भूमि

वेदना चेतना संज्ञा छन्दः स्पर्शो मतिः स्मृतिः ।

मनस्कारोऽधिमोक्षश्च समाधिः सर्वचेतसि ॥२४॥

महाभूमिक कौन हैं ?

[१५३] २४. वेदना, चेतना, संज्ञा, छन्द, स्पर्श, मति, स्मृति, मनस्कार, अधिमोक्ष और समाधि सर्वचित्त में सहवर्तमान होते हैं ।^१

सिद्धान्त^२ के अनुसार यह दस धर्म सर्वचित्तक्षण में होते हैं ।

१. वेदना त्रिविध अनुभव है : सुखा, दुःखा, अदुःखासुखा (१.१४) ।

होने से उन्हें महाभूमिक कहते हैं । महाभूमि और धर्म होने से यह महाभूमिक धर्म हैं ।

बी. कुछ का कहना है : चित्त महान् है क्योंकि उसका स्वभाव और उसका कारित्र उत्कृष्ट है । यह महान् है और भूमि है ; इसलिए इसे महाभूमि कहते हैं क्योंकि यह चैत्यों का आश्रयभूत स्थान है । वेदनादि १० धर्म महाभूमिक धर्म कहलाते हैं क्योंकि यह महाभूमि में सर्वत्र पाए जाते हैं ।

सी. कुछ का कहना है : वेदनादि १० धर्म सर्वत्र चित्त के साथ पाए जाते हैं । इसलिए इन्हें 'महान्' कहते हैं । इनकी भूमि चित्त है ; इसलिए चित्त को महाभूमि कहते हैं । महाभूमि में वेदनादि सहज हैं ; अतः वेदनादिक महाभूमिक धर्म कहलाते हैं ।

वसुबन्धु तृतीय निर्वचन देते हैं ।

हम देखेंगे (३.३२ ए-बी) कि श्रीलाभ महाभूमिक आख्या के इस लक्षण को नहीं स्वीकार करते ।

^१ [वेदना चेतना संज्ञा छन्दः स्पर्शो मतिः स्मृतिः ।

[मनस्कारोऽधिमोक्षश्च समाधिः सर्वचेतसि] ॥

ए. श्रुआन्-चाङ्ग शोधते हैं : वेदना संज्ञा चेतना स्पर्श छन्द प्रज्ञा स्मृति मनस्कार अधिमुक्ति समाधि ।

अभिधर्म (प्रकरणपाद, धातुकाय) का क्रम इस प्रकार है : वेदना संज्ञा चेतना स्पर्श मनस्कार छन्द अधिमुक्ति स्मृति समाधि प्रज्ञा ।—वसुबन्धु (पंचस्कन्धक) ५ सर्वगः स्पर्श मनस्कार वेदना संज्ञा चेतना और ५ प्रतिनियत विषय : छन्द अधिमुक्ति स्मृति समाधि प्रज्ञा मानते हैं । महाव्युत्पत्ति १०४ (जिसमें अधिमोक्ष पाठ है) का क्रम अन्य से भिन्न है ।

'अधिमुक्ति' पाठ का समर्थन पृष्ठ १५४ टिप्पणी ५ में उद्धृत व्याख्या से होता प्रतीत होता है । बी. व्याख्या के सार को हम मूल में देते हैं ।

सी. धातुकाय (२३.१०, फोलिओ २ ए) में दिये लक्षण अभिधम्म के प्रकार के हैं, यथा समाधि का यह लक्षण दिया है : "चित्त की स्थिति, संस्थिति, अभिष्ठिति, उपस्थिति, अविक्षेप, अध-द्वन्द्व (महाव्युत्पत्ति, २४५, २२६), संधार, शमथ, समाधि, चित्तस्यैकाग्रता—इसे समाधि कहते हैं ।" (विभंग, पृ. २१७, धम्मसंगणि, ११) ।

इसी प्रकार वेदना वेदना, संवेदना, प्रतिसंवेदना, वेदित है । जो अनुभूत होगा वह वेदना के अन्तर्गत है ।—स्मृति स्मृति, अनुस्मृति, प्रतिस्मृति, स्मरण, असंप्रमोषता . . . चेतसोऽभिलाप है ।

^२ 'किल' शब्द दिखाता है कि आचार्य सिद्धान्त के मत का (विभाषा, १२, १०) व्याख्यान कर रहे हैं । वह स्वमत का निर्देश पंचस्कन्धक में करते हैं [व्या० १२७.२०] । पंचस्कन्धक का उद्धरण कौशस्थान ३, कारिका ३२ की व्याख्या में है, इस वचन के लक्षणों की तुलना विशिकां, सिद्धि और अभिसमयालंकारालोक के लक्षणों से कीजिए ।

[१५४] २. चेतना वह है जो चित्त का अभिसंस्कार, चित्त का प्रस्यन्द (१.१५, ४.१) करती है ।

३. संज्ञा संज्ञान है जो विषय-निमित्त (पुरुष, स्त्री आदि) का ग्रहण करता है (विषयनिमित्तग्रहण=विषयविशेषरूपग्राह) (१.१४; २.३४ बी-डी, पृ. १७७ टिप्पणी ५) ।

४. छन्द कार्य की इच्छा है ।

५. स्पर्श इन्द्रिय, विषय और विज्ञान के संनिपात से संज्ञान स्पृष्टि है । अन्य शब्दों में यह वह धर्म है जिसके योग से (यद्योगात्) इन्द्रिय, विषय और विज्ञान अन्योन्य का मानों स्पर्श करते हैं (३.३०) ।

६. प्रज्ञा जिसे कारिका में 'मति' कहा है धर्मों का प्रविचय है (१-२) २

७. स्मृति (२.१६२, ६.२५८) आलम्बन का असंप्रमोष है । यह वह धर्म है जिसके योग से मन आलम्बन को विस्मृत नहीं करता, जिसके योग से मानों यह उसकी अभिलाषा करता है (अभिलषतीव [व्या० १२७.३३]) ।^३

८. मनस्कार चित्त का आभोग^४ है : दूसरे शब्दों में यह आलम्बन में चित्त का आवर्जन, अवधारण है (आलम्बने चेतस आवर्जन्तम् अवधारणम् [व्या १२८.१]) । [मनस्कार का निर्वचन इस प्रकार करते हैं : मनसः कारः अथवा मनः करोति आवर्जयति । व्या० १२८.१] (२.७२) । मनस्कार=चेतस आभोग आलम्बने चित्तधारणधर्मकः (अभिसमय) ।

९. अधिमुक्ति आलम्बन के गुणों का अवधारण है ।^५

^१ अत्थसालिनी, ३२९ से तुलना कीजिए : कत्तुकम्पता—पंचस्कन्धक के अनुसार: अभिप्रेते वस्तुनि अभिलाषः (२.५५ सी-डी, ३.१ देखिए जहाँ 'छन्द' का लक्षण 'अनागते प्रार्थना' दिया है) ।

^२ पंचस्कन्धकः उपपरीक्ष्ये वस्तुनि प्रविचयो योगायोगविहितोऽन्यथा च ।

^३ पंचस्कन्धकः संस्तुते वस्तुन्यसंप्रमोषः । चेतसोऽभिलपनता—१.३३ देखिए ।

^४ आभोग पर एस० लेवी सूत्रालंकार, १.१६ और मूसों १९१४ देखिए ।

^५ यह शब्द कठिनाई उत्पन्न करता है—व्याख्या : अधिमुक्तिस्तदालम्बनस्य गुणतोऽवधारणाद् [व्या० १२८.२] ('णम् ?) रुचिरिति अन्ये । यथानिश्चयं धारणेति योगाचारचित्ताः "अधिमुक्ति आलम्बन के गुणों का अवधारण है; दूसरों के अनुसार यह रुचि है; योगाचारों के अनुसार यह यथानिश्चय आलम्बन की धारणा है ।" (२.७२ में, अधिमुक्ति मनस्कार के अधिकार में इस अन्तिम बात का व्याख्यान है ।)

पंचस्कन्धक के अनुसार अधिमोक्ष=निश्चिते वस्तुन्यवधारणम् ।

प्रकरणपाद, १३ बी, ९ के अनुसार : "अधिमुक्ति क्या है ? वेदना और स्पर्श में चित्त का आस्वाद ।

हमारे भाष्य के तिब्बती भाषान्तर में 'अधिमुक्तिरिच्छा' या रुचिः (?) ।

परमार्थ का अनुवाद : "अधिमुक्ति एक धर्म है जिसके योग से चित्त आलम्बन के लक्षणों के प्रति पटु होता है ।"—यह अनुवाद नहीं है किन्तु विवृति है ।

शुआन-चाङ्ग का अनुवाद : "अधिमुक्ति (=नेगयु किंग इन को) है = जिसके योग से आलम्बन के प्रति गुणावधारण की सूचना होती है ।" इन (=मुद्रा) को (संभव) को कई

[१५५] १०. समाधि चित्त की एकाग्रता है : (अग्र=आलम्बन, १.३३) यह वह धर्म है जिसके योग से चित्त प्रबन्धन आलम्बन में एकत्र वर्तमान होता है (वर्तते) (८.१)^१

[१५६] हम यह कैसे जानते हैं कि यह १० चैत जिनका भिन्न लक्षण है एक चित्त में सह वर्तमान होते हैं ? चित्त-चैत का विशेष निश्चय ही सूक्ष्म है। चित्त-चैतों का यह विशेष उनके प्रबन्धों में भी दुर्लक्ष्य है। फिर क्षणों का क्या कहना जिनमें उन सब का अस्तित्व होता है। यदि बहुरस वाले रूपी ओषधियों के भेद जो इन्द्रियग्राह्य हैं दुःपरिच्छेद (दुरवधान) [व्या १२८.१२—मूलमें दुरवधारा तथा पाद टिप्पणी में दुरवधाना पाठ है] होते हैं तो बुद्धि-ग्राह्य अरूपी धर्मों का क्या कहना ? (चैतों की सूक्ष्मता, मिलिन्द ६३.८७, अथसालिनी, १४२, कोश, ९, २८४)

कोश में रोजेन बर्ग ने देखा है। एम० ए० वेली जिन्होंने जापानी विवृतियाँ देखी हैं इस प्रकार अनुवाद करते हैं: “जिस शिष्य ने अपने पाठ को अच्छी तरह समझ लिया है उसको अपने अनुमोदन की सूचना देना।” (अतः को कोइ) “यह संभव है” (ए. डेबेस्से)।—अधिमुक्ति आलम्बन का गुणावधारण है; यह वह धर्म है जिसके योग से आलम्बन का अवधारण होता है; यह मनस्कार की प्रथम अवस्था है।—इवे जन आग काम्पेण्डियस पृ० १७ और २४१ की टिप्पणी अधिमोक्ख पर देखिए: “. दि सेटिल्ड स्टेट आफ ए माइन्ड. इट इज डिसाईडिंग टु एटेन्ड टु दिस, नाट दैट, इर्रेस्पेक्टिव आफ मोर काम्पलीकेटेड प्रोसीजर ऐज टु ह्याट दिस आर दैट अपीयर्स टु बी.”

संभव (५२ बी १६) : आलम्बन के गुणावधारण (चु को) को अधिमुक्ति कहते हैं। अन्य आचार्यों के अनुसार ‘अधि’ का अर्थ ‘उत्कृष्टता, प्रभुत्व’ है; मुक्ति का अर्थ विमोक्ष है। अधिमुक्ति वह धर्म है जिसके योग से चित्त आलम्बन में बिना बाधा के अपने प्रभुत्व का प्रयोग करता है; यथा अधिशील।—(५७ बी, ८) अधिमुक्ति एक पृथक् वस्तु है क्योंकि सूत्र कहता है: “अधिमुक्ति के कारण चित्त आलम्बन का गुणावधारण (इन को) करता है।” जब चित्तों का उत्पाद होता है तब सब आलम्बन का गुणावधारण करते हैं (चु); अतः अधिमुक्ति सहाभूमिक है।—किन्तु स्थविर कहते हैं: “यह व्यवस्थित नहीं हुआ है कि अधिमुक्ति एक पृथक् वस्तु है क्योंकि हम देखते हैं कि उसका स्वभाव ज्ञान के स्वभाव से भिन्न नहीं बताया गया है: अधिमुक्ति का लक्षण यह है कि चित्त आलम्बन के प्रति निश्चित हो ज्ञान के लक्षण से कोई भेद नहीं है। अतः अधिमुक्ति एक पृथक् वस्तु नहीं है।”—यह यथार्थ नहीं है क्योंकि गुणावधारण (चु को) के कारण निश्चय है।

कुछ का कहना है: ‘अधिमुक्ति अवधारण, निश्चय है।’ निश्चय के हेतु (अधिमुक्ति में उसके कार्य का उपचार होता है।—यदि ऐसा है तो अधिमुक्ति और अवधारण का समवधान नहीं होगा।—नहीं, क्योंकि यह दो अन्योन्य का अभिसंस्कार करते हैं: प्रतिसंख्या के कारण अधिमुक्ति का उत्पाद होता है; अधिमुक्ति के कारण निश्चय की उत्पत्ति होती है। कोई विरोध नहीं है; अतः उनके सहभू होने में कोई बाधा नहीं है।—यदि सर्वचित्त में यह दो हों तो सर्वप्रकार के चित्त अधिमुक्ति और निश्चय होंगे।—यह आक्षेप सारहीन है क्योंकि ऐसा होता है कि अन्य धर्मों का प्रभुत्व होने से उनके कारित्र को उपघात पहुँचता है : अधिमुक्ति और निश्चय होने के लिए वह सूक्ष्म और दुर्लक्ष्य हैं।

^१ पञ्चस्कन्धक; उपपरीक्ष्ये वस्तुनि चित्तस्यैकाग्रता।

श्रद्धाऽप्रमादः प्रश्रब्धिरुपेक्षा ह्रीरपत्रपा ।

मूलद्वयमहिंसा च वीर्यं च कुशले सदा ॥२५॥

अतिविस्तृत कुशलधर्मों की भूमि कुशलमहाभूमि कहलाती है । जो चैत इस भूमि से उत्पन्न होते हैं वह कुशलमहाभूमिक कहलाते हैं : वह धर्म जो सर्व कुशलचित्त में पाये जाते हैं ।

२५. श्रद्धा, अप्रमाद, प्रश्रब्धि, उपेक्षा, ह्री, अपत्रपा, मूलद्वय, अविहिंसा, और वीर्य केवल कुशल चित्त में होते हैं, सर्व कुशल चित्त में होते हैं ।^२

[१५७] १. श्रद्धा चित्त-प्रसाद है ।^३—एक दूसरे मत के अनुसार^१ यह कर्मफल (६.७८ वी) (६ ७३. सी) और सत्य में अभिसंप्रत्यय है ।

२. अप्रमाद कुशल धर्मों की भावना है अर्थात् कुशल धर्मों का प्रतिलम्भ और निषेवण है ।^२ आक्षेप । कुशल धर्मों का प्रतिलम्भ और निषेवण प्रतिलब्ध और निषेवित कुशल धर्मों से अन्य नहीं है । आप अप्रमाद को एक पृथक् चैतसिक धर्म कैसे कहते हैं ?

अप्रमाद कुशल धर्मों में अवहितता है । उपचार से कहते हैं कि यह भावना है । वास्तव में यह भावना-हेतु है ।

एक दूसरे निकाय^३ के अनुसार अप्रमाद चित्त की आरक्षा है ।

३. प्रश्रब्धि वह धर्म है जिसके योग से चित्त की कर्मण्यता, चित्त का लाघव होता है ।^४

^१ श्रद्धाप्रमादः प्रश्रब्धिरुपेक्षा ह्रीरपत्रपा ।

मूलद्वयमहिंसा वीर्यं च कुशले सदा ॥

कारिका २५ कोश ६. २९३, ७. १५८ : व्याख्या : क्लेशोपक्लेशकलुषितं चेतः श्रद्धा-योगात् प्रसीदति । उदकप्रसादकमणियोगादिवोदकम् । सत्यरत्नकर्मफलाभिसंप्रत्यय इत्यपरे । सत्येषु चतुर्षु . . सत्येवैतानीत्यभिसंप्रात्ययोऽभिसंप्रतिपत्तिः श्रद्धा [व्या. १२८. १६] । विभाषा, ४२, ११ और प्रकरण के अनुसार : श्रद्धा, वीर्य, ह्री, अपत्रपा, अलोभ, अद्वेष, प्रश्रब्धि, उपेक्षा, अप्रमाद, अविहिंसा ।—महाव्युत्पत्ति (१०४) में तृतीय मूल (अमोह) का उल्लेख है और मूलों के पश्चात् वीर्य का स्थान है । पंच स्कन्धक भी तृतीय मूल का उल्लेख करता है और उसका क्रम वही है जो महाव्युत्पत्ति का है, इस अन्तर के साथ कि इसमें उपेक्षा के पहले अप्रमाद गिनाया गया है ।

^३ चेतसः प्रसादः [व्या० १२८. १६]—ज्ञानप्रस्थान, १, १९ के अनुसार—अन्य शब्दों में श्रद्धा वह धर्म है जिसके योग से (यद् योगात्) क्लेश-उपक्लेश से कलुषित चित्त निर्मल होता है : यथा उदकप्रसादक मणि के योग से कलुषित जल निर्मल होता है । अथसालिनी, ३०४ में यही उदाहरण है ।

^१ पंचस्कन्धक में दिया हुआ वसुबन्धु का व्याख्यान ।

^२ कुशलानां धर्माणां भावना [व्या० १२८. २०]—भावना का अर्थ 'प्रतिलम्भ, निषेवण' है । यह ७. २७ के अनुसार है ।

महासांघिक—अप्रमाद सांक्लेशिक धर्मों से चित्त की रक्षा करता है ।

अभिधम्म में पस्सद्धि और लहुता में भेद किया है (धम्मसंगणि, ४०-४३) । अभिधर्म, ऐसा प्रतीत होता है, दोनों को एक मानता है ।—ध्यानों की प्रश्रब्धि का विवरण ८.९ में है । (अंगुत्तर, ५. ३)

किन्तु सौत्रान्तिक^५ कहते हैं कि सूत्र में कायप्रश्रब्धि भी उक्त है ।^६

सूत्र कायप्रश्रब्धि का वर्णन करता है यथा कायिकी वेदना का करता है । सर्व वेदना स्वभाव में चैतसिक है । सूत्र सदा उस वेदना को कायिकी कहता है जिसका आश्रय परमाणुसंचयात्मक पंचेन्द्रिय है । यह वह वेदना है जो पाँच विज्ञानकाय (२.७ ए) से संप्रयुक्त होती है । इसी प्रकार पंचेन्द्रियों पर आश्रित चित्त-प्रश्रब्धि, ५ विज्ञानकायों की प्रश्रब्धि 'कायप्रश्रब्धि' कहलाती है ।

[१५८] सौत्रान्तिक उत्तर देता है—इस कायप्रश्रब्धि को संबोध्यंगों में (६.६८) कैसे परिगणित करते हैं ? वास्तव में पाँच विज्ञानकाय कामावचर हैं क्योंकि वह असमाहित हैं अर्थात् समापत्ति की अवस्था में इनका उत्पाद नहीं होता और बोधि के अंग समाहित (६.७१ ए) होते हैं । अतः हमारे मत से जिस सूत्र का हमने उल्लेख किया है उसमें कायप्रश्रब्धि, कायकर्मण्यता (कायवैशारद्य) (८.९) है ।

सर्वास्तिवादिन्—यह कायप्रश्रब्धि बोध्यंग कैसे है ? वास्तव में कायकर्मण्यता सास्रव है ।

सौत्रान्तिक—किन्तु यह चित्त-प्रश्रब्धि के—जो बोध्यंग है—अनुकूल है । इस कारण इसको बोध्यंग कहते हैं । सूत्र प्रायः इस प्रकार अपने को व्यक्त करता है । यथा सूत्र की शिक्षा है कि प्रीति और प्रीतिस्थानीयधर्म प्रीति-संबोध्यंग हैं (६.७१) ।^१ सूत्र की शिक्षा है कि प्रतिघ और प्रतिघ-निमित्तव्यापादनीवरण (५.५९) हैं^२ सूत्र में उक्त है कि दृष्टि, संकल्प, व्यायाम, [१५९] प्रज्ञास्कन्ध हैं (७.७६) । किन्तु संकल्प जो वितर्क-स्वभाव है और व्यायाम जो वीर्यस्वभाव है प्रज्ञा-स्वभाव नहीं हैं किन्तु वह इस प्रज्ञा के अनुकूल हैं इस लिये प्रज्ञा स्कन्ध में उक्त हैं ।^३ कायप्रश्रब्धि चित्त-प्रश्रब्धि में हेतु है ; इस लिये तत्सदृश उसके साथ बोधि के अंगों में निर्दिष्ट हैं ।

^५ जापानी संपादक के अनुसार —पंचस्कन्धक : “प्रश्रब्धि चित्त और काय की कर्मण्यता है ; यह धर्म दौष्टुल्य का प्रतिपक्ष है ।” एस० लेवी सूत्रालंकार, ६.२, वोगिहारा पृ० २९)।

^६ प्रश्रब्धि संबोध्यंग द्विविध है, चित्तप्रश्रब्धि, कायप्रश्रब्धि (प्रकरणपाद, ३.१)—संयुक्ता-गम, २७, ३ : तत्र यापि कायप्रश्रब्धिस्तदपि प्रश्रब्धिसंबोध्यंगमभिज्ञायै संबोध्यये निर्वाणाय संवर्तते । यापि चित्तप्रश्रब्धिस्तदपि संबोध्यंगम् संयुक्त, ५.३ में अधिक संक्षिप्त पाठ है । सौत्रान्तिक कहते हैं कि इस सूत्र के होते आप प्रश्रब्धि को इस एक प्रकार की ही 'चित्त-कर्मण्यता' कैसे कह सकते हैं ?

^१ व्याख्या सूत्र को उद्धृत करती है : तीर्थिका: किल भगवच्छ्रावकानेवमाहुः । श्रमणो भवन्तो गौतम एवमाहु । एवं यूयं भिक्षवः पंच नीवरणानि प्रहाय चैतस उपक्लेशकराणि प्रज्ञा दौर्बल्यकराणि सप्त बोध्यंगानि भावयतेति वयमपि एवं ब्रूमः । तत्रास्माकं श्रमणस्य च गौत-मस्य को विशेषो धर्मदेशनायाः । तेभ्यो भगवता एतदुपदिष्टम्-पंच सन्ति दश भवन्ति । दश सन्ति पंच व्यवस्थाप्यन्ते । तथा सप्त सन्ति चतुर्दश भवन्ति । चतुर्दश सन्ति सप्त व्यवस्थाप्यन्ते । [व्या० १२९.९]—संयुक्त, ५.१०८ से तुलना कीजिए ।

^२ भगवत् ने कहा है-कि ९ आघातवस्तु (अंगुत्तर, ४.४०८) व्यापाद-नीवरण हैं । [व्या० १२९.१४]

^३ जब त्रिस्कन्ध-मार्ग का विचार होता है—शीलस्कन्ध, समाधिस्कन्ध, प्रज्ञास्कन्ध—तब संकल्प और व्यायाम प्रज्ञास्कन्ध में दृष्टि के साथ, जो अकेले प्रज्ञास्वभाव है, उक्त

४. उपेक्षा चित्त-समता है। यह वह धर्म है जिसके योग से चित्त समभाव में अनाभोग में वर्तमान होता है ।^२

सौत्रान्तिक—यदि सर्व चित्त मनस्कार से संप्रयुक्त है जो आभोग-स्वभाव है तो सर्व कुशल चित्त उपेक्षा से जो अनाभोग-स्वभाव है कैसे संप्रयुक्त हो सकता है ?

वैभाषिक—हमने पहिले ही कहा है कि चित्त चैत्यों के विशेष को जानना कठिन है (दुर्ज्ञान) ।

सौत्रान्तिक—दुर्ज्ञान भी जाना जाता है । किन्तु यह अति दुर्ज्ञान है कि विरोध में अविरोध हो । यह अयुक्त है कि एक ही चित्त-क्षण, आभोग और अनाभोग, सुख और दुःख इन अन्योन्य विरुद्ध चैत्यों से संप्रयुक्त हो ।^३

वैभाषिक^४—एक आलम्बन के प्रति आभोग है, अन्य आलम्बन के प्रति अनाभोग है । अतः आभोग-अनाभोग के सहभाव में अविरोध है ।

[१६०] सौत्रान्तिक—यदि ऐसा है तो संप्रयुक्त चैतसिक का एक ही आलम्बन नहीं होता और यह आपके बताए हुए संप्रयुक्त धर्मों के लक्षण [२.३४ डी] के विरुद्ध है । हमारे लिए विरोध-जातीय धर्मों का सद्भाव, यहाँ मनस्कार और उपेक्षा का, पश्चात् वितर्क और विचार का (२.३३) एकत्र नहीं होता किन्तु पर्याय से उनकी वृत्ति होती है ।

५-६. ह्री और अपत्राप्य का निर्देश हम पीछे (२.३२) करेंगे ।

७-८. कुशल मूलद्वय अलोभ और अद्वेष (४.८) हैं । तृतीय कुशलमूल अमोह प्रज्ञात्मक है : अतः यह महाभूमिकों में पूर्व ही निर्दिष्ट हो चुका है । ^१ यह कुशलमहाभूमिक नहीं कहलाता ।

९. अविहिंसा अविहेठना है ।^२

होता है । [व्या० १२९.१९] प्रज्ञास्कन्ध निर्देश में उक्त है : प्रज्ञास्कन्धः कतमः । सम्यग् वृष्टिः सम्यक्संकल्पः सम्यग्व्यायामः [व्या० १२९.२०] ।

^२ यह संस्कारोपेक्षा है; वेदनोपेक्षा (१.१४, २.८ सी-डी) और अप्रमाणोपेक्षा (८.२९) से भिन्न है । अर्थसालिनी (३९७) में १० उपेक्षा परिगणित हैं; भानुपेक्षा का लक्षण इस प्रकार है: मज्झत्तलक्खणा अनाभोगरसा अव्यापारपच्चुपट्ठाना (पृ. १७४, २) ।

^३ अक्षरार्थः दुर्ज्ञान भी जाने जा सकते हैं । किन्तु यह जानना (स्वीकार करना) कठिन है कि विरोधी धर्मों में कोई विरोध (सहभाव का असंभव होना) नहीं होता : अस्ति हि नाम दुर्ज्ञानमपि ज्ञायते । इदं तु खलु अतिदुर्ज्ञानं यद् विरोधोऽप्यविरोधः । [व्या० १२९.२७]

^४ शुआन्-चाङ और जापानी संपादक की विवृतियों के अनुसार :

वैभाषिक—इसमें क्या विरोध है कि मनस्कार चित्त का आभोग है और उपेक्षा चित्त का अनाभोग है ? वास्तव में हम मनस्कार और उपेक्षा को पृथक् धर्म मानते हैं ।

सौत्रान्तिक—तब मनस्कार और उपेक्षा का एक ही आलम्बन न होगा अथवा यह मानना पड़ेगा कि सर्व चैत (लोभ, द्वेषादि) संप्रयुक्त होते हैं ।

हम विरोधजातीय अन्य धर्म (वितर्क, विचार) भी पाएँगे ।

^१ पंचस्कन्धक में 'अमोह' कुशलमहाभूमिकों में पठित है । (वास्तव में प्रज्ञा 'समोह' हो सकती है) —अलोभ लोभ, उद्वेग और अनासक्ति का प्रतिपक्ष है ।—अद्वेष द्वेष का प्रतिपक्ष है, अर्थात् मैत्री (८.२९) है ।—अमोह मोह का प्रतिपक्ष है, सम्यक् संकल्प है (६.६९) ।

^२ पंचस्कन्धकः "अविहिंसा करुणा (८.२९) है, यह विहिंसा का प्रतिपक्ष है" ।

१०. वीर्य चित्त का अभ्युत्साह (चेतसोऽभ्युत्साहः)^३ है [व्या १३०.११] । यह चैत सर्वकुशलचित्त से संप्रयुक्त होते हैं ।

मोहः प्रमादः कौसीद्यमाश्रद्धयं स्त्यानमुद्धवः ।

क्लिष्टे सदैवाकुशले त्वाह्नीक्यमनपत्रपा ॥२६॥

महाक्लेश धर्मों की भूमि को महाक्लेशभूमि कहते हैं ।

[१६१] इस भूमि के चैत अर्थात् जो सर्वक्लिष्ट चित्त में होते हैं क्लेशमहाभूमिक हैं ।

२६ ए-सी. मोह, प्रमाद, कौसीद्य, आश्रद्धय, स्त्यान और उद्धति सर्वदा और एकान्ततः क्लिष्ट चित्त में होते हैं ।^१

१. मोह अर्थात् अविद्या (३.२९), अज्ञान, अन्धकार ।^२

२. प्रमाद, अप्रमाद का प्रतिपक्ष, भावना-विपक्ष, कुशलधर्मों का अप्रतिलम्भ और अनिषेवण ।

३. कौसीद्य, वीर्य का विपक्ष ।

४. आश्रद्धय^३, श्रद्धा का विपक्ष ।

५. स्त्यान, कर्मण्यता का विपक्ष (७.११ डी) ।

अभिधर्म में (ज्ञानप्रस्थान, २, ९) कहा है : “स्त्यान क्या है ? काय-गुहता, चित्त-गुहता, काय-अकर्मण्यता चित्त-अकर्मण्यता । कायिक-स्त्यान और चित्त-स्त्यान स्त्यान कहलाते हैं ।”

किन्तु स्त्यान ‘चैतसिक’ है । कायिक स्त्यान कैसे हो सकता है ?

यथा कायिकी वेदना (पृ. १५७ देखिए) ।

६. औद्धत्य चित्त का अत्युपशम (७.११ डी) है ^४ ।

यही ६ धर्म हैं जो क्लेशमहाभूमिक हैं ।

^३ कुशल क्रिया में अभ्युत्साह; क्योंकि अकुशल क्रिया में चित्त का अभ्युत्साह वीर्य नहीं है किन्तु इसका प्रतिपक्ष कौसीद्य है । भगवत् ने कहा है : “बाह्यको (इतो बाह्यक) का वीर्य कौसीद्य ही है” (२.२६ ए) ।—पञ्चस्कन्धक : “वीर्य कुशल क्रिया में चित्त का अभ्युत्साह है; यह कौसीद्य का प्रतिपक्ष है ।” [व्या० १३०.१४]

^१ [मोहः प्रमादः कौसीद्यं आश्रद्धयं स्त्यानमुद्धतिः ।—सर्वदा क्लिष्टे] हमारे सोसंज का पाठ ‘सदा’ है ।

^२ जापानी संपादक की विवृति के अनुसार दर्शनमार्ग से अविद्या का अपगम, भावनामार्ग से अज्ञान का अपगम और अशैक्षमार्ग से अंधकार का अपगम होता है ।

^३ हस्तलिखित पोथियों में आश्रद्धय, आश्रद्धय और आश्रद्धय-पाठ मिलते हैं । वोगिहारा की महाव्युत्पत्ति देखिये ।

^४ नृत्यगीतादिभृंगारवेष्टालंकारकायौद्धत्यसंनिश्रयदानकर्मकचैतसिको धर्मः [व्या० १३०.२२] ।—धम्मसंगणि, ४२९ से तुलना कीजिये ।

किन्तु मूल अभिधर्म^५ कहता है कि १० क्लेशमहाभूमिक हैं किन्तु उसमें स्त्यान पठित नहीं हैं ।

[१६२] यह १० क्या हैं?

अथाद्वय, कौसीद्य, मुषितस्मृतिता, विक्षेप, अविद्या, असंप्रजन्य, अयोनिशोमनस्कार, मिथ्याधिमोक्ष, अर्थात् क्लिष्ट-अधिमोक्ष, औद्धत्य और प्रमाद ।

आप मूर्ख (देवानां प्रियः) ^१ हैं जो पाठ प्रामाण्यमात्र से प्राप्ति को जानते हैं किन्तु आचार्यों की इच्छा को नहीं जानते (प्राप्तिज्ञो न त्विष्टिज्ञः) ^२ [व्या १३०. २४] ।

इच्छा क्या है?

अभिधर्मोक्त ५ क्लेशमहाभूमिक धर्म, अर्थात् मुषितस्मृतिता, विक्षेप, असंप्रजन्य, अयोनिशोमनस्कार और मिथ्याधिमोक्ष महाभूमिक की सूची में पूर्वनिर्दिष्ट हो चुके हैं । उनको पुनः क्लेशमहाभूमिकों में परिगणित करने का स्थान नहीं है । यथा कुशलमूल अमोह यद्यपि कुशलमहाभूमिक है तथापि कुशलमहाभूमिक रूप में इसका अवधारण नहीं होता क्योंकि प्रज्ञास्वभाव होने से यह महाभूमिक व्यवस्थापित होता है (ऊपर पृ० १५४ टिप्पणी २ देखिए) ।

वास्तव में क्लिष्ट स्मृति ही मुषितस्मृतिता है । क्लिष्ट समाधि ही विक्षेप (४. ५८) है । क्लिष्ट प्रज्ञा ही असंप्रजन्य है । क्लिष्ट मनस्कार ही अयोनिशोमनस्कार है । क्लिष्ट अधिमोक्ष ही मिथ्याधिमोक्ष है ।

इसी लिये मूल अभिधर्म महाभूमिकों को क्लिष्ट में पठित कर दस क्लेशमहाभूमिक परिगणित करता है ।

क्या महाभूमिक क्लेशमहाभूमिक भी है?

[१६३] चार कोटि हैं:—१. वेदना, संज्ञा, चेतना, स्पर्श और छन्द केवल महाभूमिक हैं; २. अथाद्वय, कौसीद्य, अविद्या, औद्धत्य और प्रमाद केवल क्लेशमहाभूमिक हैं; ३. स्मृति, सगाधि, प्रज्ञा,

^५ ऊपर पृ० १५१ देखिए ।

^१ कोऽयं देवानांप्रियो नाम । ऋजुकजातीयो देवानांप्रिय इत्येके व्याचक्षते । अशठो हि देवानांप्रियो भवति । मूर्खो देवानांप्रिय इत्यपरे । यो हि ईश्वराणामिष्टः स न ताडनेन शिक्षत इति मूर्खो भवति [व्या० १३०. २७] ।—जापानी संपादक अनेक अर्थ देते हैं ।

^२ पाठप्रामाण्यमात्रेण दस क्लेशमहाभूमिकाः प्राप्ता इत्येतामेव प्राप्तिं जानीते [व्या० १३०. २५] । वसुबन्धु, २. ४, ५६ (वैयाकरण और सारथि की कथा) पर महाभाष्य का वाक्य उद्धृत करते हैं ।

एस० लेवी, जे० ए० एस० १८९१, २. ५४९ (नोट्स आन इण्डियन क्रानालाजी देवानांप्रिय, अशोक एण्ड कात्यायन)—कर्म, मनुएल ११३के अनुसार 'मूर्ख' अर्थ 'अशठ देवपूजक' से निकला है : बहुत समानता नहीं मालूम पड़ती । बुलेटिन दे ल एकडेमी दे ब्रुसेल्स १९२३ में मेरी टिप्पणी देखिये ।

मनस्कार और अधिभुक्ति महाभूमिक और क्लेशमहाभूमिक दोनों हैं; ४. इन आकारों को स्थापित कर अन्य धर्म (कुशलमहाभूमिक आदि) न महाभूमिक हैं, न क्लेशमहाभूमिक हैं।

कुछ आचार्यों (विभाषा, ४२, १७) का मत है कि विक्षेप मिथ्या-समाधि नहीं है। उनके अनुसार अन्यथा चतुष्कोटिक है: वह द्वितीय कोटि में विक्षेप को प्रक्षिप्त करते हैं और तृतीय से समाधि को निराकृष्ट करते हैं।

२. यह जो कहा कि “मूल अभिधर्म में क्लेशमहाभूमिकों में स्त्यान पठित नहीं है”, तो हम कहते हैं कि स्त्यान इष्ट है (इष्यते) क्योंकि इसका सर्वक्लेश से संयोग होता है।

यदि स्त्यान का अपाठ है तो यह किसका अपराध है, मेरा या अभिधर्मकार का (आभिधार्मिक = अभिधर्मकार) ?

आभिधार्मिक^१ स्त्यान के अपाठ का कारण हैं: स्त्यान का उल्लेख होना चाहिए था; यह [१६४] पठित नहीं है क्योंकि यह समाधि के अनुगुण है। वास्तव में उनका कहना है कि स्त्यान चरित पुद्गल औद्धत्यचरित पुद्गल की अपेक्षा समाधि का संमुखीभाव क्षिप्रतर करता है।^१

किन्तु औद्धत्य के बिना कौन स्त्यानचरित है? स्त्यान के बिना कौन औद्धत्यचरित है? स्त्यान और औद्धत्य कभी सहचरधर्मता का त्याग नहीं करते।

हाँ, स्त्यान और औद्धत्य सहचरिष्णु हैं। तथापि जो जिस पुद्गल का अधिमात्र होता है तच्चरित वह पुद्गल कहलाता है। जिस पुद्गल में स्त्यान का अधिमात्र है वह स्त्यानचरित कहलाता है यद्यपि उसमें औद्धत्य भी है।

^१ एवं तु आहुः—आभिधार्मिकाः [व्या० १३१. २३]

मेरा विश्वास है कि बहुवचन (आहुः) के प्रयोग से वसुबन्धु यहाँ धर्मत्रात को जो नैज्जियो १२८७ का ग्रंथकार है और उसके अनुयायियों को प्रज्ञप्त करते हैं। आगे के परिच्छेदों से (नैज्जियो १२८७ चंप० २. ५ और साल० = २३, १२, २८ बी) यह परिणाम निकलता है :
.....क्लेशमहाभूमिकों का व्याख्यान करना चाहिये।

२. ५. मिथ्याधिमोक्ष, असंप्रजन्य, अयोनिशोमनस्कार, अश्वाद्वय, कौसीद्य, विक्षेप, अविद्या, औद्धत्य, प्रमाद।

मिथ्याधिमोक्ष से यह समझना चाहिये.....

२. ६. १० क्लेशमहाभूमिक सर्वक्लिष्ट चित्त में पाये जाते हैं। अह्नी और अत्रपा अकुशल-महाभूमिक कहे गये हैं।

१० क्लेशमहाभूमिक सर्वक्लिष्ट चित्त में पाये जाते हैं। मिथ्याधिमोक्षादि १० धर्म सर्वक्लिष्ट-चित्त सहगत होते हैं; कामधातु, रूपधातु, आरूप्यधातु के ५ विज्ञानकाय और मनोविज्ञान सहगत होते हैं। अतः वह क्लेशमहाभूमिक हैं—प्रश्नः स्त्यान सर्वक्लिष्ट चित्त में पाया जाता है; यह क्लेशमहाभूमिकों में क्यों परिगणित नहीं होता?—उत्तरः क्योंकि यह समाधि के अनुकूल है। अर्थात् स्त्यानचरित पुद्गल क्षिप्रता के साथ समाधि का संमुखीभाव करता है। अतः स्त्यान सूची में पठित नहीं है। क्या महाभूमिक धर्म क्लेशमहाभूमिक भी है? चार कोटि हैं : १. महाभूमिक बिना क्लेशमहाभूमिक हुए.....

^१ आचार्य इस मत को ग्रहण नहीं करते। स्त्यान (लय) और औद्धत्य जो क्लिष्ट धर्म हैं समाधि नामक शुक्ल धर्म के परिपन्थी हैं।

हम इसे भली प्रकार जानते हैं किन्तु धर्मों की व्यवस्था स्वभाववश विविध प्रकारों में की जाती है। अतः यह व्यवस्थापित होता है कि ६ धर्म क्लेशमहाभूमिक हैं क्योंकि वही सर्व क्लिष्ट चित्त के साथ उत्पन्न होते हैं।

२६ सी-डी. आह्लीक्य और अनपत्राप्य सदा और एकान्ततः अकुशलचित्त में पाये जाते हैं।^२ यह दो धर्म जिनका व्याख्यान नीचे (२.३२) होगा सर्वदा अकुशल चित्त में पाये जाते हैं। अतः इन्हें अकुशलमहाभूमिक कहते हैं।^३

क्रोधोपनाह-शाठ्येर्ष्या-प्रदास-अक्ष-मत्सरः ।

माया-मद-विहिंसादच परीतक्लेशभूमिकाः ॥२७॥

२७. क्रोध, उपनाह, शाठ्य, ईर्ष्या, प्रदास, अक्ष, मत्सर, माया, मद, विहिंसा आदि परीतक्लेशभूमिक हैं।^४

[१६५] इन्हें ऐसा कहते हैं क्योंकि परीतक्लेश इनकी भूमि है। परीतक्लेश (परीत-अल्पक) रागादि से असंप्रयुक्त अविद्यामात्र है (३.२८ सी-डी)। (केवला, आवेणिकी अविद्या, ५.१४)

यह भावनाहेय मनोभूमिक अविद्यामात्र से ही संप्रयुक्त होते हैं। अत एव इन्हें परीतक्लेश-भूमिक कहते हैं।^५

पाचर्वे कोशस्थान में (५.४६ आदि) हम इनका निर्देश उपक्लेशों में करेंगे।

हम ५ प्रकार के चैतसिकों का निर्देश कर चुके हैं। अन्य भी चैत हैं जो अनियत हैं, जो कभी कुशल, कभी अकुशल या अव्याकृत चित्त में होते हैं: कौकृत्य (२.२८), मिद्ध (५.४७, ७.११ डी), वितर्क (२.३३), विचार आदि।^६

^२ अकुशले त्वाह्लीक्यमनपत्रपा ॥ [व्या० १३१.३२]

^३ विभाषा, ४२, १७ के अनुसार ५ अकुशलमहाभूमिक हैं: अविद्या, स्त्यान, औद्धत्य, अह्नी, अनपत्राप्य—३.३२ ए-बी और ऊपर पृ० १५१ देखिये।

^४ [क्रोधोपनाहशाठ्येर्ष्याप्रदासअक्षमत्सरः ।

माया मदो विहिंसेति] परीतक्लेशभूमिकाः ॥

शुआन्-बाङ् का अनुवाद: “..... इस स्वभाव के (= इति) धर्म परीतक्लेशभूमिक कहलाते हैं।”

संघभद्र: भाष्य कहता है: ‘इस स्वभाव के धर्म’ क्योंकि वह अक्षान्ति, अरति, आघात आदि को संगृहीत करना चाहता है।

^५ धर्मत्रातः वह भावनाहेय हैं, दर्शनहेय नहीं हैं। वह मनोभूमिक हैं, पंचविज्ञानकायिक नहीं हैं। वह सर्वचित्त में उत्पन्न नहीं होते और उनका पृथक्भाव है अत एव वह परीतक्लेश-भूमिक हैं।

^६ ५.४६ देखिये। चीनी भाषान्तर के अनुसार—जापानी संपादक अन्तिम ‘आदि’ शब्द से राग (५.२), प्रतिघ, मान (५.१०) विचिकित्सा का ग्रहण करते हैं। व्याख्या (१३३.१४) में पठित है: ‘कौकृत्य, मिद्ध, आदि और ‘आदि’ शब्द से वह अरति विजृम्भिता, तन्द्री, भक्तेऽसमता आदि का ग्रहण करती हैं।—व्याख्या में पुनः कहा है कि रागादि क्लेश अनियत हैं क्योंकि यह पाँच प्रकार में से किसी में भी नियत नहीं हैं। यह



सवितर्कविचारत्वात् कुशलं कामचेतसि ।

द्वाविंशतिश्चैतसिकाः कौकृत्यमधिकं क्वचित् ॥२८॥

प्रत्येक प्रकार के प्रत्येक चित्त के साथ, कुशल, अकुशल, अव्याकृत चित्त के साथ, कितने चैत अवश्य उत्पन्न होते हैं ?

[१६६] २८. कुशल कामचित्त में सदा २२ चैतसिक होते हैं क्योंकि यह सवितर्क सविचार होता है। कभी कौकृत्य अधिक होता है।^१

कामावचर चित्त पंचविध है : (१) कुशल चित्त एक है; (२-३) अकुशल द्विविध है—यह आवेणिकी है अर्थात् अविद्यामात्र से संप्रयुक्त है और रागादि अन्य क्लेश से संप्रयुक्त है; (४-५) अव्याकृत चित्त भी द्विविध है—निवृताव्याकृत अर्थात् सत्कायदृष्टि और अन्तर्ग्राहदृष्टि^२ (५.३) से संप्रयुक्त और अनिवृताव्याकृत अर्थात् विपाकजादि (१.३७, २.७१) ।

कामावचर चित्त सदा सवितर्क सविचार (२.३३ ए-बी) होता है। इस चित्त में जब यह कुशल होता है २२ चैत होते हैं: १० महाभूमिक, १० कुशलमहाभूमिक और दो अनियत अर्थात् वितर्क और विचार।

जब कुशल चित्त में कौकृत्य होता है तब पूर्ण संख्या २३ होती है।

कौकृत्य आख्या का क्या अर्थ है ?^३

[१६७] कौकृत्य का शब्दार्थ कुकृतभाव है किन्तु यहाँ कौकृत्य से एक चैतसिक धर्म का बोध होता है। जिसका आलम्बन कौकृत्य अर्थात् कुकृतसम्बन्धी चित्त का विप्रतिसार है।—यथा विमोक्षमुख जिसका आलम्बन शून्यता या नैरात्म्य है, शून्यता कहलाता है (८.२४-२५); यथा अलोभजिसका आलम्बन अशुभा (६.२सी-डी) है, अशुभा कहलाता है। यथा लोक में कहते हैं कि सर्वग्राम सर्वदेश, सर्वलोक आया है। इस प्रकार स्थान (आश्रय) से स्थानियों (आश्रयी) का अतिदेश होता है। कौकृत्य विप्रतिसार का स्थानभूत है। अतः विप्रतिसार के लिए कौकृत्य का निर्देश युक्त है। क्योंकि फल में हेतु का उपचार होता है यथा इस वचन में: “यह ६ स्पर्शयितन पौराण कर्म हैं।”^४

महाभूमिक नहीं हैं क्योंकि यह सर्वचित्त में नहीं पाये जाते। यह कुशलमहाभूमिक नहीं हैं क्योंकि इनका कुशलत्व से अयोग है। यह क्लेशमहाभूमिक नहीं हैं क्योंकि सर्वत्र क्लिष्ट में इनका अभाव है : क्योंकि सप्रतिघ चित्त में राग नहीं होता।

आचार्य वसुमित्र का यह संग्रह झलक है: “स्मृत है कि आठ अनियत हैं अर्थात् वितर्क, विचार, कौकृत्य, मिद्ध, प्रतिघ, सक्ति (= राग), मान, विचिकित्सा।” किन्तु हम इस अष्ट अनियत-वचन को नहीं समझते। दृष्टियों को (५.३ ए) भी क्यों अनियत नहीं मानते ? सप्रतिघ या सविचिकित्स चित्त में मिथ्यादृष्टि प्रवर्तित नहीं होती।

^१ सवितर्कविचारत्वात् कुशलं कामचेतसि ।

द्वाविंशतिश्चैतसिकाः कौकृत्यमधिकं क्वचित् ॥

^२ कथावदशु, १४.८ से तुलना कीजिये।

^३ धम्मसंगणि, ११६१, अत्थसालिनी, ७८४-७८७.

^४ १.३७ से तुलना कीजिये।

किन्तु जिस विप्रतिसार का आलम्बन अकृत कर्म है उसको कौकृत्य कैसे कह सकते हैं? क्योंकि लोक में कहते हैं: 'मैंने यह अच्छा नहीं किया जो उसे नहीं किया', इस प्रकार 'अकृत' की भी 'कृत' आख्या होती है।

कौकृत्य कब कुशल होता है ?

जब कुशल न करके संताप होता है, जब अकुशल करके संताप होता है। यह अकुशल है जब अकुशल न करके संताप होता है, जब कुशल करके संताप होता है। इस उभय कौकृत्य का उभय अधिष्ठान होता है।

आवेणिके त्वकुशले दृष्टियुक्ते च विंशतिः।

क्लेशैश्चतुर्भिः क्रोधाद्यैः कौकृत्येनैकविंशतिः ॥२९॥

२९. आवेणिक और दृष्टियुक्त अकुशल चित्त में २० चैत होते हैं; जब यह क्रोधादि चार क्लेशों में से किसी एक से, या कौकृत्य से संप्रयुक्त होता है तब २१ होते हैं।^२

१. आवेणिक चित्त अविद्या (५. १) मात्र से संप्रयुक्त और रागादि से पृथग्भूत चित्त है।^३ दृष्टियुक्त अकुशल चित्त मिथ्यादृष्टि अथवा दृष्टिपरामर्श, अथवा शीलव्रतपरामर्श (५. ३) से सं-प्रयुक्त चित्त है। सत्कायदृष्टि और अन्तर्ग्राहदृष्टि से संप्रयुक्त चित्त अकुशल नहीं है किन्तु निवृताव्याकृत है।

इन दो अवस्थाओं में अकुशल चित्त में १० महाभूमिक, ६ क्लेशमहाभूमिक, २ अकुशल-महाभूमिक और दो अनियत अर्थात् वितर्क और विचार होते हैं।

दृष्टि की कोई पृथक् संख्या नहीं है क्योंकि दृष्टि प्रज्ञाविशेष है और प्रज्ञा महाभूमिक है।^४

२. राग, प्रतिघ, मान, विचिकित्सा (५. १) से संप्रयुक्त अकुशल चित्त में २१ चैत होते हैं—पूर्वोक्त २० और राग प्रतिघ आदि में से^५

[१६८] क्रोधादि से अर्थात् पूर्ववर्णित उपक्लेशों में से किसी एक से (२. २७) संप्रयुक्त।

निवृतेऽष्टादशान्यत्र द्वादशाव्याकृते मताः।

मिद्धं सर्वाविरोधित्वाद् यत्र स्यादधिकं हि तत् ॥३०॥

३० ए-बी. निवृताव्याकृत चित्त में १८ चैतसिक होते हैं; अन्यत्र १२।^६

कामधातु का अव्याकृत चित्त निवृत्त अर्थात् क्लेशाच्छादित होता है जब वह सत्कायदृष्टि या अन्तर्ग्राहदृष्टि से संप्रयुक्त होता है। इस चित्त में १० महाभूमिक, ६ क्लेशमहाभूमिक और वितर्क-विचार होते हैं।

^२ आवेणिके त्वकुशले दृष्टियुक्ते च विंशतिः। [व्या० १३३. ३३-३४]

क्लेशैश्चतुर्भिः क्रोधाद्यैः कौकृत्येनैकविंशतिः ॥ [व्या० १३४. ४]

^३ आवेणिक = रागादि पृथग्भूत। [व्या० १३३. ३३]

^४ सर्वदृष्टि संतीरिका प्रज्ञा है (१. ४१ सी-डी, ७. १) [व्या० १३४. २]

^५ [निवृतेऽष्टादश] अन्यत्र द्वादशाव्याकृते मताः।

अनिवृताव्याकृत चित्त में १२ चैत होते हैं : १० महाभूमिक, वितर्क, विचार ।

बहिर्देशकों को यह इष्ट है कि कौकृत्य भी अव्याकृत है, यथा स्वप्न में ।—अव्याकृत कौकृत्य से संप्रयुक्त अनिवृताव्याकृत चित्त में १३ चैत होंगे ।

३० सी-डी. मिद्ध सर्व अविरुद्ध है । जहां यह होता है वहां संख्या अधिक हो जाती है ।^२

मिद्ध (५.४७, ७.११ डी) कुशल, अकुशल, अव्याकृत है । जिस चित्त से यह संप्रयुक्त होता है उसमें २२ के स्थान में २३ चैत होते हैं जब यह कुशल और कौकृत्य विमुक्त होता है ।

२३ के स्थान में २४ चैत होते हैं जब यह कुशल और कौकृत्य सहगत होता है, इत्यादि ।

कौकृत्यमिद्धाकुशलान्याद्ये ध्याने न सन्त्यतः ।

ध्यानान्तरे वितर्कश्च विचारश्चाप्यतः परम् ॥३१॥

३१. अतः प्रथम ध्यान में कौकृत्य और मिद्ध यह अकुशल चैतसिक सर्वथा नहीं होते; इससे ऊर्ध्व, ध्यानान्तर में, वितर्क भी नहीं होता; इससे ऊर्ध्व विचार भी नहीं होता ।^३

[१६९] प्रथम ध्यान में (१) प्रतिघ (५.१), (२) शाठ्य, माया, मद को वर्जित कर क्रोधादि (२.२७), (३) आह्नीक्य और अनपत्राप्य (२.३२) यह दो अकुशलमहाभूमिक तथा (४) कौकृत्य, क्योंकि दौर्मनस्य (२.८ बी-सी) का वहां अभाव होता है और (५) मिद्ध क्योंकि कव-डीकार आहार (३.३८ डी) का वहां अभाव होता है, नहीं होते । कामधातु के अन्य सर्व चैत प्रथम ध्यान में होते हैं ।^१

द्वितीय ध्यान में ध्यानान्तर में वितर्क भी नहीं होता । और उससे ऊर्ध्व यावत् आरूप्य-धातु में विचार, शाठ्य और माया भी नहीं होते ।^२ मद त्रैधातुक (५.५३ सी-डी) है ।

सूत्र^३ के अनुसार शाठ्य और माया ब्रह्मलोक पर्यन्त होते हैं और उन लोकों से ऊर्ध्व नहीं होते जहां के सत्त्वों का पर्षत्-सम्बन्ध होता है । महाब्रह्मा अपने पर्षत् में बैठे थे । अश्वजित् भिक्षु ने उनसे प्रश्न पूछा : “कहां चार महाभूतों का अपरिशेष निरोध होता है ?” उत्तर न दे सकने के कारण उन्होंने क्षेप किया : “मैं ब्रह्मा हूँ, महाब्रह्मा हूँ,^४ ईश्वर, कर्ता, निर्माता, स्रष्टा, पालक

^२ हम उद्धार कर सकते हैं :

मिद्धं सर्वाविरुद्धत्वादस्ति यत्राधिकं भवेत् ।

^३ कौकृत्यमिद्धाकुशलान्याद्ये ध्याने न सन्त्यतः ।

ध्यानान्तरे वितर्कश्च विचारश्चाप्यतः परम् ॥ [व्या० १३५.१५]

^१ अतः प्रथम ध्यान के कुशलचित्त में २२ चैत होते हैं; आवेणिक और दृष्टियुक्त निवृताव्याकृत में १८ चैत होते हैं; राग-मान-विचिकित्सा संप्रयुक्त चित्त में १९ होते हैं;

^२ अक्षरार्थ : ‘अपि’ शब्द से प्रदर्शित होता है कि विचार के अतिरिक्त शाठ्य और माया को भी वर्जित करना चाहिये ।

^३ जापानी संपादक के अनुसार सद्धर्मस्मृति [उपस्थान] सूत्र, ३३, १० (नैञ्जियो ६७९, एम डी ओ २४-२७)—विभाषा, १२९, १ ।

^४ यह कह कर कि “मैं महाब्रह्मा हूँ” वह अपने को अन्य ब्राह्मणों से विशिष्ट करता है ।

सबका पिता हूँ।” पश्चात् अश्वजित् को पर्वत् से जाने के लिए कहकर उनको परामर्श दिया कि शास्ता के पास जा कर पूछो।^५

हमने देखा है कि कितने चैत्त तीन धातुओं के प्रत्येक प्रकार के चित्त से संप्रयुक्त होते हैं। हमें पूर्वोक्त चैत्तों का लक्षण बताना है।

अह्लीरगुरुतावद्ये भयादर्शित्वमत्रपा ।

प्रेम श्रद्धा गुरुत्वं ह्रीस्ते पुनः कामरूपयोः ॥३२॥

[१७०] अह्ली और अनपत्राप्य में क्या भेद है ?

३२ ए. अह्ली अगुरुता है।^१

स्व-पर-सान्त्वानिक (मैत्री-करुणादि) गुणों के प्रति तथा गुणवान् पुद्गलों के प्रति (आचार-गोचरगौरवादिसंपन्न) अगौरवता अर्थात् अप्रतीशता^२, अभयवशवर्तिता आह्लीक्य, अह्ली है। यह गौरव—(सगौरवता, सप्रतीशता, समयवशवर्तिता)—प्रतिद्वन्द्व चैतसिक धर्म है।

३२ ए-बी. अनपत्राप्य या अत्रपा वह धर्म है जिसके योग से एक पुद्गल अवद्य का अनिष्ट फल नहीं देखता।^३

‘अवद्य’ वह है जो सत्पुरुषों से गर्हित है।

‘अनिष्ट फल’ को कारिका में ‘भय’ कहा है क्योंकि यह अनिष्ट फल भय उत्पन्न करते हैं।

उस पुद्गल का भाव जो अवद्य में भय नहीं देखता—वह धर्म जो इस भाव को उत्पन्न करता है—अनपत्राप्य या अत्रपा है।

आक्षेप—आप ‘अभयदर्शित्व’ का क्या अर्थ समझते हैं ? चाहे आप ‘अभयस्य दर्शित्वम्’ या ‘अभयस्य अदर्शित्वम्’ जो अर्थ करें इन दो व्याख्यानों में से कोई भी संतोषप्रद नहीं है। प्रथम विकल्प में क्लिष्ट प्रज्ञा है; दूसरे विकल्प में अविद्या मात्र है।

अभयदर्शित्व से न ‘दर्शन’ (क्लिष्ट प्रज्ञा) प्रदर्शित होता है और न ‘अदर्शन’ (अविद्या)। यह एक विशेष धर्म को सूचित करता है जिसकी गणना उपक्लेशों में (५.४६) है, जो मिथ्या-दृष्टि और अविद्या का निमित्त है और जिसे अनपत्राप्य (विभाषा, ३४, १९) कहते हैं।

[१७१] अन्य आचार्यों^१ के अनुसार आह्लीक्य अवद्य-करण में आत्मापेक्षया लज्जा का अभाव है;

^५ दीघ, १. २१९ और नीचे ४. ८ ए, ५. ५३ ए-बी से तुलना कीजिये।

^१ अह्लीरगुरुता—ज्ञानप्रस्थान; १. ५ (तकाकुसु ५० ८७ के अनुसार)

^२ प्रतीश = गुरु, क्योंकि शिष्यं प्रतीष्टः [व्या० १३६. १३]

^३ अवद्येऽभयदर्शित्वम् अत्रपा । [व्या० १३६. २०]

अधिशील के लक्षण से तुलना कीजिये अणुमात्रेष्वपि अवद्येषु भयदर्शो

^१ यह आचार्य कहते हैं कि ‘ह्री’ और ‘त्रप्’ (धातुपाठ, ३. ३ और १. ३९९) यह दो धातु एकार्थवाचक हैं और इनका अर्थ लज्जा है : इससे हम नहीं समझते कि किस प्रकार अह्ली अवद्यकरण में अगौरवता है और अत्रपा अभयदर्शित्व है। ह्री और अपत्राप्य ललित, ३२।

अनपत्राप्य परापेक्षया^२ लज्जा का अभाव है ।—किन्तु इस पक्ष में भी दो अपेक्षा युगपत् कैसे होंगी ?—हम यह नहीं कहते कि आत्मापेक्षा और परापेक्षा युगपत् होती हैं ।

किसी को जब आत्मा की अपेक्षा करते हुए भी लज्जा प्रवृत्त नहीं होती तब आह्लीक्य होता है जो राग-निष्यन्द है । जब पर की अपेक्षा करते हुए भी लज्जा प्रवृत्त नहीं होती तब अनपत्राप्य होता है जो मोह-निष्यन्द है ।

इन दो अकुशल धर्मों का विपर्यय ह्री और अपत्राप्य हैं । प्रथम कल्प के अनुसार इनका लक्षण 'सगौरवता, सप्रतीशता, सभयवशवर्तिता,' और 'भयवशिता' है; दूसरे कल्प के अनुसार इनका लक्षण 'आत्मापेक्षया लज्जा', 'परापेक्षया लज्जा' है ।

कुछ का मत है कि प्रेम और गौरव एक ही वस्तु हैं ।

३२ सी. प्रेम श्रद्धा है ।^३

प्रेम द्विविध है : क्लिष्ट, अक्लिष्ट, (विभाषा, २९, १२) ।

प्रथम राग है यथा पुत्र कलत्र के लिए प्रेम । द्वितीय श्रद्धा है यथा शास्ता के लिए, सत्पुरुषों के लिए प्रेम ।

१. एक श्रद्धा है, प्रेम नहीं है अर्थात् दुःख-समुदय सत्त्यों में श्रद्धा ।

[१७२] २. एक प्रेम है, श्रद्धा नहीं है अर्थात् क्लिष्ट प्रियता, प्रियतारूपा तृष्णा ।

३. एक श्रद्धा और प्रेम उभय है अर्थात् निरोध-मार्ग सत्त्यों में श्रद्धा ।

४. इन आकारों को छोड़कर अर्थात् अन्य चैतसिक, चित्तविप्रयुक्तादि धर्म, न श्रद्धा हैं न प्रेम ।

हमारे मत के अनुसार श्रद्धा गुणसंभावना है : प्रियता गुणसंभावनापूर्विका होती है । अतः प्रेम श्रद्धा नहीं है किन्तु श्रद्धा का फल है ।

३२ सी. गुरुत्व ह्री है ।^१

हमने पूर्व (३२ ए) बताया है कि गुरुत्व, गौरव सप्रतीशता आदि है ।

१. प्रत्येक ह्री गौरव अर्थात् दुःख-समुदय सत्य के प्रति ह्री नहीं है ।^२

२. निरोध-मार्ग सत्य के प्रति ह्री गौरव भी है ।

एक दूसरे मत के अनुसार गौरव सप्रतीशता है; गौरव से लज्जा उत्पन्न होती है जिसे ह्री कहते हैं । अतः गौरव जो ह्री का निमित्त है वह ह्री नहीं है ।

प्रेम और गौरव के सम्बन्ध में चार कोटि हैं :

२ पंचस्कन्धक में वसुबन्धु इस लक्षण को स्वीकार करते हैं ।

३ प्रेम श्रद्धा—ज्ञानप्रस्थान, १. ४ (तत्काकुसु पृ. के ८७ के अनुसार) [व्या० १३७.२०]

१ गुरुत्वम् ह्रीः—विभाषा, २९, १३. [व्या० १३८.७]

२ क्योंकि साल्पव धर्मों के लिये गौरव नहीं हो सकता ।

(जापानी संपादक की टिप्पणी)

१. पुत्र, कलत्र, सार्धविहारी, अन्तेवासी के लिए प्रेम होता है, गौरव नहीं ।
२. परशास्ता, गुणवान् आदि के लिए गौरव होता है, प्रेम नहीं ।
३. स्वशास्ता, स्व पिता-माता आदि के लिए गौरव और प्रेम उभय होता है ।
४. अन्य जनों के लिए न गौरव, न प्रेम ।
- ३२ डी. कामधातु और रूपधातु में उभय ।^३
- आरूप्यधातु में प्रेम और गौरव का अभाव है ।

[१७३] किन्तु आपने कहा है कि प्रेम श्रद्धा है, गौरव ह्री है । किन्तु श्रद्धा और ह्री कुशलमहा-भूमिक हैं (२. २५) । अतः प्रेम और गौरव का अस्तित्व आरूप्यधातु में है ।

प्रेम और गौरव द्विविध हैं : धर्मों के प्रति और पुद्गलों के प्रति । शास्त्र की अभिसन्धि द्वितीय प्रकार से है । जिन श्रद्धा और ह्री का आलम्बन पुद्गल है वह आरूप्यधातु में नहीं होते । प्रथम प्रकार त्रैधातुक है ।

वितर्कविचारावौदार्यसूक्ष्मते मान उन्नतिः ।

मदः स्वधर्मो रक्तस्य पर्यादानं तु चेतसः ॥३३॥

३३ ए-बी. वितर्क और विचार चित्त के औदार्य और सूक्ष्मता हैं ।^१

चित्त की औदारिकता अर्थात् स्थूलभाव वितर्क कहलाता है । चित्त की सूक्ष्मता अर्थात् सूक्ष्मभाव विचार कहलाता है ।

वितर्क और विचार इन दोनों का एक चित्त में योग (संप्रयुक्त) कैसे होता है ? क्या चित्त एक ही काल में औदारिक और सूक्ष्म दोनों हो सकता है ?

एक मत के अनुसार^२ विचार की तुलना शीतोदक से, चित्त की इस शीतोदक पर तैरते हुए सर्पि से और वितर्क की सर्पि पर पड़ने वाले आतप से करनी चाहिये । आतप और उदक के कारण सर्पि न अति द्रवीभूत होता है, न अति घनीभूत होता है । इसी प्रकार वितर्क और विचार चित्त से युक्त होते हैं : चित्त विचार के कारण न अति सूक्ष्म होता है और न वितर्क के कारण अति औदारिक होता है ।

किन्तु हम कहेंगे कि इस व्याख्यान से यह सिद्ध होता है कि वितर्क और विचार चित्त की औदारिकता-सूक्ष्मता नहीं हैं किन्तु औदारिकता-सूक्ष्मता के यह निमित्त हैं : शीतोदक और आतप सर्पि का श्यानत्व, विलीनत्व नहीं है किन्तु यह इन दो भावों के निमित्तभूत हैं ।

दोषान्तर कहते हैं ।—चित्त की औदारिकता और सूक्ष्मता आपेक्षिक है । इनमें अनेक भूमि-भेद

^३ उभयं कामरूपयोः ॥

^१ वितर्कविचारावौदार्यसूक्ष्मते—यह लक्षण एक सूत्र पर आश्रित है जिसका नामोल्लेख हमारे ग्रन्थों में नहीं है—१. ३३ देखिये ।

^२ विभाषा, ४२, १४ का सातवाँ मत ।

और प्रकार-भेद हैं। प्रथम ध्यान का चित्त कामावचर चित्त की अपेक्षा सूक्ष्म है और द्वितीय ध्यान के चित्त की अपेक्षा औदारिक है।

[१७४] एक ही भूमि में प्रकार-भेद होता है। गुण और क्लेश आपेक्षिक रूप से औदारिक और सूक्ष्म होते हैं क्योंकि वह ९ प्रकारों में विभक्त हैं। अतः यदि वितर्क और विचार चित्त की औदारिकता और सूक्ष्मता स्वभाव हैं तो हमको स्वीकार करना पड़ेगा कि इनका अस्तित्व भवान् पर्यन्त होता है।^१ किन्तु द्वितीय ध्यान से ऊर्ध्व यह नहीं होते।—पुनः औदारिकता और सूक्ष्मता का जातिभेद युक्त नहीं है : अतः वितर्क और विचार का स्वभाव-भेद युक्त नहीं है।

एक दूसरे मत के अनुसार अर्थात् सौत्रान्तिकों के अनुसार वितर्क और विचार 'वाक्-संस्कार' हैं।^२ वास्तव में सूत्र कहता है कि 'वितर्क और विचार करके (वितर्क्य, विचार्य) भाषण होता है, बिना वितर्क-विचार के नहीं।'^३ जो औदारिक वाक्-संस्कार होते हैं उन्हें वितर्क और जो सूक्ष्म होते हैं उन्हें विचार कहते हैं। [इस व्याख्यान के अनुसार वितर्क और विचार दो पृथग्भूत धर्म नहीं हैं किन्तु समुदायरूप हैं, यह चित्त-चैत के कलाप हैं जो वाक्-समुत्थापक हैं और जो पर्याय से औदारिक और सूक्ष्म होते हैं।]

वैभाषिक—यदि एक चित्त में एक औदारिक धर्म वितर्क और अपर सूक्ष्म धर्म विचार हो तो इसमें विरोध क्या है ?

सौत्रान्तिक—कोई विरोध न हो यदि इन दो धर्मों का जाति-भेद हो। यथा वेदना और संज्ञा—यद्यपि प्रथम औदारिक है और द्वितीय सूक्ष्म (१.२२) है—एकत्र होते हैं। किन्तु एक ही जाति की दो अवस्थाएं, मृदु-अधिमात्रता, औदारिक-सूक्ष्मता, युगपत् संभव नहीं है।

वैभाषिक—वितर्क और विचार में जाति-भेद है।

[१७५] सौत्रान्तिक—यह भेद क्या है ?

वैभाषिक—यह भेद अवक्तव्य है किन्तु यह चित्त की मृदु-अधिमात्रता से व्यक्त होता है।^१

सौत्रान्तिक—चित्त की मृदु-अधिमात्रता भिन्न जाति के दो धर्मों के अस्तित्व को सिद्ध नहीं करती क्योंकि एक ही जाति कभी मृदु, कभी अधिमात्र होती है।

^१ यह युक्तिविभाषा, ५२, ६ में वर्णित है, और दाष्टान्तिकों की बतायी गई है।

^२ अर्थात् वाक् समुत्थापक। [व्या० १३९.९]

^३ वितर्क्य विचार्य वाचं भाषते नावितर्क्य नाविचार्य [व्या० १३९.१०]—मज्झिम, १.३०१, संयुक्त, ४.२९३ से तुलना कीजिये : पुब्बे खो वितक्केत्वा विचारेत्वा पच्छा वाचं भिन्दति—दूसरी ओर—विभंग, १३५ : वाची संचेतना = वाची संखारो।

^१ संघभद्र कहते हैं कि चित्त में वितर्क और विचार के एकत्र होने में कोई विरोध नहीं है किन्तु एक ही काल में यह दो धर्म समुदाचार नहीं करते, उनकी वृत्ति उद्भूत नहीं होती : जब सर्वदा वर्तमान वितर्क की वृत्ति उद्भूत होती है तब चित्त-चैत औदारिक होते हैं.....। यथा राग और मोह का युगपद्भाव है किन्तु जब राग की वृत्ति उद्भूत होती है तो पुद्गल रागचरित व्यपदिष्ट होता है.....[व्या० १४०.१]

एक दूसरे मत के अनुसार अर्थात् आचार्य के अनुसार वितर्क और विचार चित्त में एकत्र नहीं होते। यह पर्यायवर्ती हैं।^२ वैभाषिक यह दोष दिखाते हैं कि प्रथम ध्यान के पांच अंग पंचाङ्ग (८.७) कैसे हैं जिसमें वितर्क और विचार भी हैं। हमारा उत्तर है कि प्रथम ध्यान में ५ अंग इस अर्थ में होते हैं कि ५ अंग भूमितः हैं, न कि क्षणतः; ५ अंग प्रथम ध्यानभूमिक हैं किन्तु प्रथम ध्यान के एक क्षण में केवल चार अंग होते हैं : प्रीति, सुख, समाधि और वितर्क या विचार।

[१७६] मान और मद में क्या भेद है (विभाषा, ४२, ८) ?

३३ बी. मान उन्नति है।^१

पर के प्रति चित्त की उन्नति (चेतस उन्नतिः) मान है [व्या १४०. २८]। दूसरे की अपेक्षा अपने भूत या अभूत गुणों के उत्कर्ष के परिकल्प से वह अपना उत्कर्ष और दूसरे का अपकर्ष करता है (५. १० ए)।

३३ सी-डी. इसके विपरीत स्वधर्मों में अनुरक्त पुद्गल के चित्त का पर्यादान मद है।^२

मद राग-निष्यन्द है। स्वधर्म में अनुरक्त होने के कारण चित्त उन्मत्त होता है, चित्त में दर्प होता है और वह संनिरुद्ध होता है।^३ अन्य आचार्यों के अनुसार यथा मद्य संप्रहर्ष विशेष का

^२ वितर्क और विचार युगपत् नहीं होते किन्तु पर्याय से होते हैं। वितर्क और विचार में क्या विशेष है ? पूर्वाचार्य कहते हैं : “वितर्क क्या है ?—यह पर्येषक मनोजल्प है जो अनभ्यूहावस्था और अभ्यूहावस्था में यथाक्रम चेतना और प्रज्ञा का निश्चय लेता है। यह चित्त की औदारिकता है।—विचार क्या है ? यह प्रत्यवेक्षक मनोजल्प है जो अनभ्यूहावस्था और अभ्यूहावस्था में यथाक्रम चेतना और प्रज्ञा का निश्चय लेता है। यह चित्त की सूक्ष्मता है।” इस पक्ष में वितर्क और विचार एक स्वभाव के दो समुदायरूप हैं : इनमें भेद इतना ही है कि एक पर्येषणाकार है, दूसरा प्रत्यवेक्षणाकार है। कोई एक उदाहरण देते हैं। बहुत से घटों के अवस्थित होने पर यह जानने के लिये कि कौन दृढ़ है, कौन जर्जर, मुष्टि अभिधात से ऊह करते हैं। यह ऊह वितर्क है। अन्त में वह जानता है कि ‘इतने दृढ़ हैं, इतने जर्जर’ : यह विचार है। १. ३३ की व्याख्या वसुबन्धु के पंचस्कन्धक को उद्धृत करती है। यह पूर्वाचार्यों के मत के बहुत निकट है। वितर्कः कतमः। पर्येषको मनोजल्पश्चेतनाप्रज्ञाविशेषः। या चित्तस्यौदारिकता ॥ विचारः कतमः। प्रत्यवेक्षको मनोजल्पश्चेतनाप्रज्ञाविशेषः। या चित्तस्य सूक्ष्मता ॥ व्याख्या पुनः कहती है। अनभ्यूहावस्थायां चेतना अभ्यूहावस्थायां प्रज्ञेति व्यवस्थाप्यते। [व्या० १४०. १२] ८, १५९ देखिये। व्याख्या, ६७ का पाठ अत्यूह है। धम्मसंगणि, ७-८, काम्पेण्डियम, पृ. १०-११, मिलिन्द, ६२-६३ देखिये—अत्थसालिनी, २९६-२९७ वितर्क का लक्षण ऊहन बताती है और उसे औदारिक (ओळारिक) और विचार को सूक्ष्म (सुखुम) बताती है—योगसूत्र, १. १७ पर व्यासभाष्य : वितर्कश्चित्तस्यालम्बने स्थूल आभोगः। सूक्ष्मो विचारः; १. ४२-४४.

^१ मान उन्नतिः।

^२ मदः स्वधर्मरक्तस्य पर्यादानं तु चेतसः। [व्या० १४०. ३०]

^३ पर्यादीयेत = संनिरुध्यते [व्या० १४१. १] : शिक्षासमुच्चय, १७७. १५, दिग्घ, सूत्रालंकार, १. १२ देखिये।

संघभद्र का लक्षण : यः स्वधर्मेषु एव रक्तस्य दर्पश्चेतसः पर्यादानं कुशलान्यक्रियाभ्युपपत्ति-संहारो मदः ;

उत्पाद करता है जिसे मद कहते हैं। उसी प्रकार पुद्गल का स्वधर्म में अनुराग है।^४

हम चित्त (१. १६) और चैत का वर्णन कर चुके हैं। हमने बताया है कि किस प्रकार में कौन चैत व्यवस्थापित होते हैं, कितनी संख्या में उनका सहोत्पाद होता है और उनका स्वलक्षण और परस्पर विशेषण क्या है। शास्त्र में चित्त-चैत के भिन्न नाम हैं।

चित्तं मनोऽथ विज्ञानमेकार्थं चित्तचैतसाः ।

साश्रयालम्बनाकाराः संप्रयुक्ताश्च पञ्चधा ॥३४॥

३४ ए-बी. चित्त, मनस्, विज्ञान, यह नाम एक अर्थ के वाचक हैं।^५

[१७७] जो संबन्ध करता है (चिन्तेति) वह चित्त है। यही^१ मनस् है क्योंकि यह मनन करता है (मनुते)।^२ यही विज्ञान है क्योंकि यह अपने आलम्बन को जानता है (आलम्बनं विजानाति)।

कुछ कहते हैं : चित्त 'चित्त' कहलाता है क्योंकि यह शुभ-अशुभ धातुओं से चित्रित (चित्र) है।^३ क्योंकि यह अपर चित्त का आश्रयभूत है इस लिये यह मन (१. १७) है। क्योंकि यह इन्द्रिय और आलम्बन पर आश्रित है—इस लिये विज्ञान है।

अतः इन तीन नामों के निर्वचन में भेद है किन्तु यह एक ही अर्थ को प्रज्ञप्त करते हैं। यथा

३४ बी-डी. चित्त और चैत साश्रय, सालम्बन, साकार और संप्रयुक्त हैं।^४

साश्रयादि यह चार भिन्न नाम एक ही अर्थ को प्रज्ञप्त करते हैं।

चित्त-चैत 'साश्रय' कहलाते हैं क्योंकि वह (चक्षु. . . मन-इन्द्रिय) इन्द्रिय पर आश्रित है। वह 'सालम्बन' (१. ३४) हैं क्योंकि वह स्वविषय का ग्रहण करते हैं। वह 'साकार' हैं क्योंकि वह आलम्बन के प्रकार से^५ आकार-ग्रहण करते हैं। वह 'संप्रयुक्त' हैं क्योंकि वह अन्योन्य सम और अविप्रयुक्त हैं।

^४ अर्थात् मद 'क्लिष्ट सौमनस्य' वेदना है। वैभाषिक इस अर्थ को नहीं स्वीकार करते : वास्तव में द्वितीय ध्यान से ऊर्ध्व सौमनस्य नहीं होता, किन्तु ५. ५३ सी के अनुसार मद त्रैधातुक है।

^५ चित्तं मनो (ऽथ) विज्ञानमेकार्थम्।—दीघ, १. २१, संयुक्त, २. ९४ से तुलना कीजिये। चित्त, मनस् पर अत्यसालिनी. १४० से तुलना कीजिये (क्योंकि उसका स्वभाव विचित्रित है)। —'हृदय और मनस् एक हैं . . . ।

^१ यह कुशल और अकुशल का संबन्ध करता है, ऐसा अर्थ है (व्याख्या) [व्या० १४१. १५]—तिब्बती भाषान्तर : क्योंकि यह जानता है।—अत्यसालिनी, २९३: आलम्बनं चिन्तेति इति चित्तम्।

^२ 'मन ज्ञाने' इत्यस्य औणादिकप्रत्ययः [व्या० १४१. १६] (धातुपाठ, ४, ६७)।

^३ 'चित्रं शुभाशुभैर्धातुभिरिति चित्तम्'। व्याख्या में यह अधिक है : भावनासंनिवेशयोगेन सौत्रान्तिकमतेन योगाचारमतेन वा।

परमार्थ का पाठ : चित्तं शुभाशुभैर्धातुभिस्तान् वा चिन्तेतीति चित्तम्।—इसी प्रकार तिब्बती अनुवाद है : "क्योंकि यह कुशल और अकुशल धातुओं से चित है।" [व्या० १४१. १८]

^४ चित्तचैतसाः । साश्रयालम्बनाकाराः संप्रयुक्ताश्च पञ्चधा ॥ [व्या० १४१. २४]

^५ साकारास्तस्यैवालम्बनस्य प्रकारण (?) आकरणात् । [व्या० १४१. २९]—विज्ञान नीलादि वस्तु को जानता है, वेदना सातादि आलम्बन वस्तु का अनुभव करती है, संज्ञा उसके

[१७८] वह संप्रयुक्त अर्थात् सम और अविप्रयुक्त कैसे हैं?

३४ डी. पाँच प्रकार से।

चित्त और चैत आश्रय-आलम्बन-आकार-काल-द्रव्य इन पाँच समताओं से संप्रयुक्त हैं। अर्थात् (वेदनादि) चैत और चित्त संप्रयुक्त हैं (१-३) क्योंकि उनके आश्रय, आलम्बन और आकार एक ही हैं, (४) क्योंकि वह सहभू हैं, (५) क्योंकि इस संप्रयोग में प्रत्येक जाति का एक ही द्रव्य होता है: यथा एक काल में एक ही चित्त द्रव्य उत्पन्न होता है तथा इस एक चित्त-द्रव्य के साथ एक वेदनाद्रव्य, एक संज्ञाद्रव्य और प्रत्येक जाति का एक एक चैत संप्रयुक्त होता है (२.५३ सी-डी देखिये)।

हमने चित्त-चैत का उनके प्रभेदों के साथ सविस्तर निर्देश किया है।^१

४. चित्तविप्रयुक्त धर्म (३५-४८)।

विप्रयुक्तास्तु संस्काराः प्राप्त्यप्राप्ती सभागता।

आसंज्ञिकं समापत्ती जीवितं लक्षणानि च ॥३५॥

नामकायादयश्चेति प्राप्तिर्लाभः समन्वयः।

प्राप्त्यप्राप्ती स्वसन्तानपतितानां निरोधयोः ॥३६॥

चित्त-विप्रयुक्त संस्कार कौन हैं?

३५-३६ ए. 'चित्त-विप्रयुक्त' यह हैं:—प्राप्ति, अप्राप्ति, सभागता, आसंज्ञिक, दो समापत्ति जीवितेन्द्रिय, लक्षण, नामकायादि और एवंजातीयक धर्म।^२

निमित्तादि का उद्ग्रहण करती है इत्यादि [व्या० १४२.१]।—अथवा विज्ञान उसी आलम्बन की सामान्यरूपेण उपलब्धि है क्योंकि यह उपलभ्यतारूप का ग्रहण करता है (उपलभ्यतारूपं गृह्णाति)। चैत विशेषरूपेण इसकी उपलब्धि करते हैं। वेदना अनुभव-नीयतारूप का ग्रहण करती है; संज्ञा परिच्छेद्यतारूप का ग्रहण करती है, इत्यादि (१.१६ ए)।

^१ निर्दिष्टाश्चित्तचैताः सविस्तरप्रभेदाः—अर्थात् सह विस्तरप्रभेदाभ्यामथवा सह विस्तर-प्रभेदेन। [व्या० १४८.१६, १९] कुई-की, विशिका, १. १४ बी से तुलना कीजिये।

^२ विप्रयुक्तास्तु संस्काराः प्राप्त्यप्राप्ती सभागता। आसंज्ञिकं समापत्ती जीवितं लक्षणानि च ॥ नामकायादयश्चेति। [व्या० १४२.२८]

'इति' शब्द सूचित करता है कि इस सूची में संघभेद (४.९९) आदि अन्य विप्रयुक्तों को प्रक्षिप्त करना चाहिये। (२.३०४, ४.२०६, सिद्धि, ७१) संघभेद के अनुसार हूहो-हो-सिंग को प्रक्षिप्त कीजिये।—अकरण कहता है: येष्येवंजातीयकाः : "वह धर्म भी चित्त-विप्रयुक्त है जो इस जाति के हैं।" स्कन्धपंचक में यही वाक्य है।

प्रकरण के अनुसार चित्त-विप्रयुक्त संस्कार यह हैं: प्राप्ति, असंज्ञिसमापत्ति, निरोधसमापत्ति, आसंज्ञिक, जीवितेन्द्रिय, निकायसभाग, आश्रयप्राप्ति, द्रव्यप्राप्ति (?), आयतनप्राप्ति, जाति, जरा, स्थिति, अनित्यता, नामकाय, पदकाय, व्यंजनकाय और अन्य सब धर्म जो चित्त-विप्रयुक्त जाति के हैं।

प्राप्ति का लक्षण इस प्रकार है : धर्माणां प्राप्तिः; आश्रयप्राप्तिः = आश्रयायतन प्राप्ति;

[१७९] यह धर्म चित्त से संप्रयुक्त नहीं होते; यह रूपस्वभाव नहीं हैं; यह संस्कार-स्कन्ध में (१.१५) संगृहीत हैं: अतः इन्हें चित्त-विप्रयुक्त संस्कार कहते हैं (१) क्योंकि यह चित्त से विप्रयुक्त हैं, (२) क्योंकि अरूपी होने के कारण यह चित्त के समानजातीय हैं।

३६ बी. प्राप्ति लाभ और समन्वय है।^१

प्राप्ति द्विविध है: (१) अप्राप्ति और विहीन का लाभ (प्रतिलम्भ), (२) प्रतिलब्ध और अविहीन का समन्वागम (समन्वय)।

अप्राप्ति इसका विपर्यय है।

३६ सी-डी. स्वसन्तानपतित धर्मों की और दो 'निरोधों' की प्राप्ति और अप्राप्ति होती है।^२

[१८०] १. स्वसन्तानपतित संस्कृत धर्मों की प्राप्ति और अप्राप्ति होती है; पर-सत्त्व-सन्तति-पतित धर्मों की नहीं होती क्योंकि कोई परकीय धर्मों से समन्वागत नहीं होता। असन्तति-पतित धर्मों की भी प्राप्ति अप्राप्ति नहीं होती क्योंकि कोई असत्त्वसंख्यात (१.१० बी) धर्मों से समन्वागत नहीं होता।^१

२. असंस्कृत धर्मों में प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध (१.६, २.५५) की प्राप्ति होती है।

द्रव्यप्राप्ति (?) = स्कन्धानां प्राप्तिः ; आयतनप्राप्तिः = आध्यात्मिकबाह्यायतनप्राप्ति (२३.१०, १४ बी ५)।

प्रकरणपाद १४ बी ५—प्राप्ति क्या है? धर्मों की प्राप्ति—असंज्ञि-समापत्ति क्या है? जो पुद्गल शुभकृत्स्न देवों के क्लेश से विनिर्मुक्त है, ऊर्ध्वलोको के क्लेश से नहीं, उसका निःसरण मनस्कारपूर्वक चित्त-चैत निरोध।—निरोध-समापत्ति क्या है? आर्किचन्यायतन के क्लेश से विनिर्मुक्त पुद्गल का शान्तविहार संज्ञापूर्वक चित्त-चैत निरोध।—आसंज्ञिक क्या है? असंज्ञि सत्त्वों में उपपन्न सत्त्वों के चित्त-चैतों का निरोध।—जीवितेन्द्रिय क्या है? त्रैधातुक आयु।—निकायसभाग क्या है? सत्त्वों का सादृश्य।

^१ प्राप्तिर्लाभः समन्वयः [व्या० १४३.९]।—१.३८ सी-डी, २.५९ बी देखिये। शास्त्र के अनुसार : प्राप्तिः कतमा? यः प्रतिलम्भो यः समन्वागमः।

अभिधर्म और कथावत्थु, ९.१२ में लाभ और समन्वागम का एक अर्थ नहीं है।—थेरवादी के लिये लाभ 'प्रतिलम्भ (पजेशन)' है, यथा आर्यों का यह सामर्थ्य कि अपनी इच्छा के अनुसार वह उस उस समापत्ति का संमुखीभाव करें; समन्वागम का अर्थ संमुखीभाव है। अन्यत्र (४.४) पटिलाभसमन्वागम और समंगिभावसमन्वागम में विशेष किया है: सामर्थ्य रखना (अभिधर्म का समन्वागम), वर्तमान में संमुखीभाव, (अभिधर्म का संमुखीभाव)—— १९, ४ भी देखिये।

^२ प्राप्त्यप्राप्ती स्वसन्तानपतितानां निरोधयोः ॥ [व्या० १४४.३]
मेरे क्लेश, मेरे कर्म के प्रति मेरी संतान में प्राप्ति-अप्राप्ति होती है अर्थात् मुझको अपने अनागत या अतीत क्लेश की प्राप्ति या अप्राप्ति है। किन्तु मेरी संतान और परकीय क्लेश के बीच प्राप्ति या अप्राप्ति का सम्बन्ध नहीं होता।

^१ क्लेश को सत्वाख्य अवधारण करना चाहिये क्योंकि वह रूपीन्द्रियों से संबद्ध है।

ए. सब सत्त्व उन धर्मों के अप्रतिसंख्याननिरोध से समन्वागत होते हैं जिनकी उत्पत्ति प्रत्यय-वैकल्य के कारण नहीं होगी ।

बी. अभिधर्म (ज्ञानप्रस्थान, १९, ९) इस प्रकार कहता है : “कौन अनास्रव धर्मों से समन्वागत है ?—सकलबन्धनादिक्षणस्थ को वर्जित कर सब सत्त्व प्रतिसंख्याननिरोध से समन्वागत होते हैं । सकलबन्धनादिक्षणस्थ वह आर्य हैं जिनके सब प्रकार के क्लेश-बन्धन अप्रहीण हैं और जो मार्ग के आदि क्षण में स्थित हैं । इनमें सकल-बन्धन-बद्ध पृथग्जन भी नहीं संगृहीत हैं । अन्य आर्य और पृथग्जन प्रतिसंख्याननिरोध से समन्वागत होते हैं” ।^२

सी. आकाश से कोई समन्वागत नहीं होता । अतः आकाश की प्राप्ति नहीं होती ।

वैभाषिकों के अनुसार प्राप्ति और अप्राप्ति एक दूसरे के विपक्ष हैं । जिसकी प्राप्ति होती है उसकी अप्राप्ति भी होती है । क्योंकि यह गमित है इसलिये कारिका इसे व्यक्त रूप से नहीं कहती ।

[१८१] सौत्रान्तिक प्राप्ति नामक धर्म के अस्तित्व को नहीं मानते ।

१. सर्वास्तिवादिन्-वैभाषिक प्राप्ति नामक द्रव्यधर्म^१ के अस्तित्व को कैसे सिद्ध करते हैं ?

सर्वास्तिवादिन्—सूत्र में (मध्यमागम, ४९, १६) उक्त है : “१० अशौक्ष धर्मों के उत्पाद, प्रतिलम्भ और समन्वागम से आर्य ‘प्रहीण-पंचांग’ होता है ।”^३

सौत्रान्तिक—यदि आप इस सूत्र से यह परिणाम निकालते हैं कि प्राप्ति का अस्तित्व है तो हम कहेंगे कि असत्वाख्य और परकीय सत्त्व के धर्मों का भी ‘समन्वागम’ होता है । वास्तव में सूत्र (चक्रवर्तिसूत्र) वचन है कि “हे भिक्षुओ ! जानो कि चक्रवर्ती राजा सात रत्नों से समन्वागत होता है ।”^३ किन्तु रत्नों में चक्ररत्न, स्त्रीरत्न आदि हैं ।

सर्वास्तिवादिन्—इस सूत्र में ‘समन्वागत’ शब्द का अर्थ ‘वशित्व’ है । चक्रवर्ती राजा का रत्नों के विषय में वशित्व है क्योंकि वहाँ उसका कामचार है । उसकी इच्छा के अनुसार उनका

^२ सकलबन्धन पुद्गल वह है जिसने लौकिक मार्ग से काम धातु के ९ प्रकार के क्लेशों में से एक प्रकार के भी प्रतिसंख्याननिरोध का लाभ नहीं किया है । आर्य ने प्रथम क्षण में (आदि-क्षण = दुःखे धर्मज्ञानक्षान्तिः) मार्गहेय (६.७७) क्लेशों के प्रहाण का लाभ नहीं किया है ।—वह पुद्गल एकप्रकारोपलिखित कहलाता है जिसने एक प्रकार के क्लेश के प्रहाण का लाभ किया है (६.३० ए) ।

^१ द्रव्यधर्मः = द्रव्यतो धर्मः, अथवा द्रव्यं च तद्वर्त्मश्च स द्रव्यधर्मः । अर्थाद् विद्यमानस्वलक्षणो धर्मः [व्या० १४८.१८] ।—नीचे पृ० १८६ देखिये ।

^२ १० धर्म यह हैं : आर्य मार्ग के अष्टांग, सम्यग्बुद्धि, सम्यग्ज्ञान (अंगुत्तर, ५.२२२); ५ प्रहीण अंग सत्कायदृष्टि, शीलव्रतपरामर्श, विचिकित्सा, कामच्छन्द, व्यापाद नहीं हैं क्योंकि अनागामि-फल की प्राप्ति पर यह अंग प्रहीण हो चुके हैं । यह पंचांग ऊर्ध्वभागीय हैं—रूपराग, आरूप्यराग, औद्धत्य, मान, अविद्या [व्या० १४५.२] ।

^३ दीघ, ३.५९ : दल्हनेमि सत्तरतनसमन्वागतो ।

संघभद्र सौत्रान्तिक का खण्डन करते हैं, १२, पृ० ३९७; सिद्धि, ५४-५८—अहंत् के १० धर्म, ६.२९५ ।

अनुविधान होता है । किन्तु दशाशैश्वर्यसमन्वागमसूत्र में 'समन्वागम' शब्द एक द्रव्यधर्म को सूचित करता है ।^४

२. सौत्रान्तिक—यदि 'समन्वागम' शब्द का अर्थ चक्रवर्तिसूत्र में वस्तित्व है तो फिर आप यह कैसे कहते हैं कि एक दूसरे सूत्र में इसी शब्द का अर्थ प्राप्ति नामक एक द्रव्यान्तर है ? वास्तव में (१) इस प्राप्ति की प्रत्यक्ष उपलब्धि नहीं होती यथा रूप-शब्दादि की होती है, यथा राग-द्वेषादि की होती है; (२) उसके कृत्य से प्राप्ति का अस्तित्व अनुमित नहीं होता, यथा चक्षुश्रोत्रादि (१.९) ज्ञानेन्द्रिय अनुमानग्राह्य हैं : क्योंकि सदृश कृत्य की उपलब्धि नहीं होती । अतः द्रव्य-धर्म के संभव न होने से अयोग है ।

[१८२] सर्वास्तिवादिन्—यह आपकी भूल है ! प्राप्ति का कृत्य है । यह धर्मों का उत्पत्ति-हेतु है ।^१

सौत्रान्तिक—प्रश्न-विसर्जन अयुक्त है : (१) आप मानते हैं कि दो निरोधों की प्राप्ति हो सकती है किन्तु यह असंस्कृत हैं और असंस्कृत अनुत्पाद्य हैं : केवल संस्कृत 'हेतु' (१.७ डी) होते हैं । (२) संस्कृत धर्मों के संबन्ध में हमें यह कहना है कि अप्राप्त धर्मों की प्राप्ति नहीं होती ।^२ और उन धर्मों की भी प्राप्ति नहीं होती जो भूमि-संचार या वैराग्य के कारण त्यक्त हो चुके हैं ।^३ प्रथम की प्राप्ति अनुत्पन्न है, द्वितीय की प्राप्ति निरुद्ध हुई है । अतः इन धर्मों की कैसे उत्पत्ति हो सकती है यदि उनकी उत्पत्ति का हेतु प्राप्ति है ?

सर्वास्तिवादिन्—इन धर्मों की उत्पत्ति में सहज-प्राप्ति हेतु है (सहजप्राप्तिहेतुक) । [व्या० १४६.४]

सौत्रान्तिक—अयुक्त उत्तर ! यदि धर्मों की उत्पत्ति प्राप्ति के योग से होती है तो (१) जाति और जाति-जाति (२.४५ सी) क्या करते हैं; (२) 'असत्वाख्य' धर्मों की उत्पत्ति नहीं होती; (३) सकलबन्धन पुद्गलों में मृदु-मध्य-अधिमात्र क्लेशों का प्रकार-भेद कैसे युक्त होगा क्योंकि प्राप्ति का अभेद है : सब पुद्गल कामावचर क्लेश की उन्हीं प्राप्तियों से समन्वागत हैं । क्या आप कहते हैं कि यह भेद प्राप्ति के भिन्न हेतुओं के कारण होता है : हमारा उत्तर है कि यह हेतु ही मृदु-मध्य-अधिमात्र क्लेश की उत्पत्ति में एकमात्र हेतु है । जिस कारण से यह भेद होता है उसी कारण से इनकी उत्पत्ति भी हो सकती है । इसलिये प्राप्ति उत्पत्ति-हेतु नहीं है ।

[१८३] ३. सर्वास्तिवादिन्—कौन कहता है कि प्राप्ति धर्मों की उत्पत्ति का हेतु है ? हम उसका यह कारित्र नहीं बताते । हमारे अनुसार प्राप्ति वह हेतु है जो सत्त्वों के भाव की व्यवस्था करता है । हम इसका व्याख्यान करते हैं । मान लीजिये कि प्राप्ति का अस्तित्व नहीं है : लौकिक

^४ प्रवचन के अनुसार वस्तु द्रव्यसत् है या प्रज्ञप्ति सत् । [व्या० १४५.२३]

^१ लोभचित्त के उत्पाद का हेतु इस अनागत लोभचित्त की 'प्राप्ति' है ।

^२ अनास्रव धर्म, दुःखे धर्मज्ञानक्षान्ति आदि ।

^३ यथाक्रम कामधातु के अक्लिष्ट और क्लिष्ट धर्म ।

मानस आर्य और पृथग्जन का क्या व्यवस्थान होगा ? भेद केवल इसमें है कि आर्य में कतिपय अनास्रव धर्मों की प्राप्ति तब भी होती है जब उनका लौकिक मानस होता है ।

सौत्रान्तिक—हमारे मत से यह व्यवस्थान हो सकता है कि पहला प्रहीण क्लेश है, दूसरा अप्रहीण क्लेश है (प्रहीणाप्रहीणक्लेशताविशेष [व्या० १४६.२९]) ।

सर्वास्तिवादिन्—निस्संदेह; किन्तु प्राप्ति के अस्तित्व को न मानकर यह कैसे कह सकते हैं कि इनका क्लेश प्रहीण है, इनका अप्रहीण है ? प्राप्ति के होने पर यह व्यवस्थान होता है । क्लेश प्रहीण तभी होते हैं जब क्लेश-प्राप्ति का विगम होता है । जब तक उसकी प्राप्ति रहती है तब तक क्लेश प्रहीण नहीं होता ।

४. सौत्रान्तिकवाद—हमारे मत में क्लेशों का प्रहाण-अप्रहाण आश्रयविशेष (२.५ और ६, ४४ डी) से सिद्ध होता है । आर्यों में मार्ग-बल से (सत्यदर्शन, भावना) आश्रय-परावृत्ति होती है, उनके आश्रय का अन्यथाभाव होता है (तथापरावृत्त, अन्यथाभूत) । जो क्लेश एक बार मार्ग-बल से प्रहीण हो चुका है उसकी पुनरुत्पत्ति नहीं हो सकती । यथा अग्निदग्ध ग्रीहि का अन्यथा-भाव होता है, वह अबीजीभूत होता है उसी प्रकार आर्य प्रहीण-क्लेश कहलाता है क्योंकि उसका आश्रय क्लेशों के लिए अबीजीभूत हो गया है । लौकिक मार्ग से क्लेशों का आत्यंतिक प्रहाण नहीं होता । यह उन्हें उपहत या विष्कम्भित करता है : पृथग्जन को जो केवल लौकिक मार्ग का अभ्यास करता है प्रहीण-क्लेश कह सकते हैं यदि उसके आश्रय में क्लेश-बीज का उपघात मात्र होता है । विपर्ययरूपेण उसे अप्रहीण-क्लेश कहते हैं यदि बीज अनिर्दग्ध या अनुपहत होते हैं ।—जो उक्त विधि से 'अप्रहीण' है उसे क्लेश से समन्वागत कहते हैं; जो प्रहीण है उसे असमन्वागत कहते हैं । समन्वागम-असमन्वागम द्रव्यसत् नहीं हैं किन्तु प्रज्ञप्ति-धर्म हैं ।

[१८४] यह क्लेश की प्राप्ति-अप्राप्ति के विषय में है । कुशल धर्मों की प्राप्ति-अप्राप्ति के सम्बन्ध में दो प्रकार हैं : (१) अयत्नभावी औपपत्तिक (उपपत्तिलाभिक) कुशल धर्म, (२) प्रायोगिक (प्रयोगलाभिक) कुशल धर्म (२.७१ बी) ।

जब किसी के आश्रय में उत्पत्तिलाभिक कुशलों के बीजभाव का अनुपघात होता है (आश्रयस्य तद्वीजभावानुपघातात्) तब कहते हैं कि वह प्रथम से समन्वागत है । जब यह बीजभाव उपहत होता है तब कहते हैं कि वह कुशल धर्मों से असमन्वागत है ।—वास्तव में यदि क्लेश, बीज का अत्यन्त समुद्घात (अपोद्धरण) हो सकता है जैसा कि आर्य में होता है तो कुशल धर्मों के बीजभाव का अत्यन्त समुद्घात नहीं होता । इस अवधारण के साथ मिथ्यादृष्टि से समुच्छिन्न-कुशलमूल (४.७९ सी) पुद्गल के लिये कहते हैं कि उसने इन मूलों का प्रहाण किया है क्योंकि उसके आश्रय के कुशलमूल के बीजभाव का मिथ्यादृष्टि से उपघात हुआ है ।

जब किसी पुद्गल में प्रायोगिक धर्म—श्रुत-चिन्ता-भावना से उत्पन्न प्रायोगिक कुशल धर्म के उत्पन्न होने पर उनको [पुनः] उत्पन्न करने के सामर्थ्यविशेष (वशित्व) का अविघात

होता है तब उस पुद्गल के लिये कहते हैं कि वह द्वितीय प्रकार के कुशल धर्मों से समन्वागत है।^१

[१८५] अतः जो समन्वागम की आख्या का लाभ करता है, वह अन्य द्रव्यधर्म (नान्यद् द्रव्यम्) नहीं है अर्थात् सर्वास्तिवादियों की कल्पित 'प्राप्ति' नहीं है किन्तु आश्रय (= नामरूप) की एक विशेष अवस्था है [व्या १४७. ३३]: १. क्लेश-बीज आर्य मार्ग से अन-पोद्धत हैं; २. क्लेश-बीज लौकिक मार्ग से अनुपहत हैं; ३. औपपत्तिक कुशल-बीज मिथ्यादृष्टि से अनुपहत हैं; ४. कुशल-प्रयोग के बीज का परिपुष्ट-वशित्व है। अतः अनपोद्धत, अनुपहत, परिपुष्ट-वशित्व काल में बीज ही प्राप्ति की आख्या का लाभ करते हैं।^१ [व्या १४७. ३१] .

किन्तु यह बीज क्या है? सर्वास्तिवादिन् प्रश्न करता है।

बीज से अभिप्रेत नामरूप (३. ३०) अर्थात् पञ्चस्कन्धात्मक रूप है जो सन्ततिपरिणाम-विशेष के द्वारा साक्षात् या पारंपर्येण फलोत्पत्ति में समर्थ है।

सन्तति हेतु-फलभूत त्रैयध्वक संस्कार हैं जो नैरन्तर्येण प्रवृत्त होते हैं।

परिणाम सन्तति का अन्यथात्व अर्थात् सन्तति का प्रतिक्षण अन्यथोत्पाद है।

विशेष अथवा इस परिणाम का परमोत्कर्ष सन्तति का वह क्षण है जो साक्षात् फलोत्पत्ति में समर्थ है।^२

वैभाषिक दोष दिखाते हैं—सूत्र में उक्त है कि “जो लोभ से समन्वागत है वह चार स्मृत्युपस्थानों का उत्पाद (६. १४) करने में असमर्थ है।”

[१८६] सौत्रान्तिक—इस सूत्र में लोभ के ‘समन्वागम’ से लोभ का अधिवासन (अभ्यनुज्ञान) अथवा लोभ का अविमोदन (अव्युपशम) समझना चाहिये। सूत्र यह नहीं कहता कि जिस पुद्गल में लोभ का बीज होता है वह स्मृत्युपस्थानों के उत्पादन में असमर्थ है। वह कहता है कि लोभ का समुदाचार एक पुद्गल को इन स्मृत्युपस्थानों के तत्काल उत्पादन के लिये अयोग्य कर देता है।

संक्षेप में जिस किसी अर्थ में हम ‘समन्वागम’ को लें, चाहे उत्पत्ति-हेतु के अर्थ में, व्यवस्था-हेतु के अर्थ में, आश्रयविशेष या अधिवासन के अर्थ में, समन्वागम सर्वथा प्रज्ञप्ति-धर्म है, द्रव्य-धर्म नहीं है। इसी प्रकार असमन्वागम जो समन्वागम का प्रतिषेधमात्र है प्रज्ञप्ति-धर्म है।

^१ तैरुपचैस्तदुत्पत्तिवशित्वाविधातात् समन्वागमः । [व्या० १४७. २६]

^१ परमार्थ, ३, पृ० १८१, कालम २ शुआन-चाङ्ग: “आश्रय में अनयोद्धत, अनुपहत, वशित्वपरिपुष्ट बीज होते हैं : इस अवस्था के प्रति ‘प्राप्ति’ शब्द का व्यवहार होता है।”

^२ यह लक्षण वैभाषिकों के प्रश्नों का विसर्जन है : “क्या बीज चित्त से भिन्न या अभिन्न एक द्रव्यान्तर है ?”, “क्या सन्तति एक अवस्थित द्रव्य है जिसमें धर्मान्तर की निवृत्ति होने पर धर्मान्तर का प्रादुर्भाव होता है ?”, “क्या परिणाम सांख्यिकों का परिणाम है ?”

२. ५४ सो-डो देखिये—सन्ततिपरिणामवाद ४. ३ सी में पुनः व्याख्यात है।

वैभाषिक कहते हैं कि प्राप्ति और अप्राप्ति द्रव्यसत् हैं।—क्यों?—क्योंकि यह हमारा सिद्धान्त है।^१

त्रैयध्विकानां त्रिविधा शुभादीनां शुभादिका ।

स्वधातुका तदाप्तानामनाप्तानां चतुर्विधा ॥३७॥

३७ ए. त्रैयध्विक धर्मों की प्राप्ति त्रिविध है।^२

अतीत धर्मों की प्राप्ति अतीत, प्रत्युत्पन्न, अनागत, त्रिविध होती है। इसी प्रकार प्रत्युत्पन्न और अनागत धर्मों को समझना चाहिये^३।

[१८७] ३७ बी. शुभादि धर्मों की शुभादिक प्राप्ति।^१

कुशल, अकुशल, अव्याकृत धर्मों की प्राप्ति यथाक्रम कुशल, अकुशल, अव्याकृत होती है।

३७ सी. धात्वाप्त धर्मों की प्राप्ति स्वधातुक होती है।^२

धात्वाप्त धर्म सास्त्र धर्म हैं। कामावचर धर्म की प्राप्ति स्वयं कामधातुपतित होती है; इसी प्रकार अन्य को जानिये।

३७ डी. अधातुपतित धर्मों की प्राप्ति चतुर्विध है।^३

समासेन अनास्रव धर्मों की प्राप्ति चतुर्विध है : यह त्रैधातुक है, यह अनास्रव है । किन्तु इनके अवान्तर भेदों को व्यवस्थापित करना है।

१. अप्रतिसंख्याननिरोध (पृ. १८० देखिये) की प्राप्ति उस धातु की होती है जिसमें वह पुद्गल उपपन्न होता है जो उसकी प्राप्ति करता है।

२. प्रतिसंख्याननिरोध की प्राप्ति रूपावचरी, अरूपावचरी और अनास्रव होती है।^४

^१ तिब्बती भाषान्तर और परमार्थ—शुआन्-चाङ्ग “दोनों मार्ग (सौत्रान्तिकवाद, वैभाषिकवाद) कुशल हैं—कैसे?—प्रथम युक्तिविरुद्ध नहीं है; दूसरा हमारा सिद्धान्त है।”

पंचस्कन्धकः प्राप्तिः कतमा? प्रतिलम्भः समन्वागमः । बीजं वशित्वं संमुखी-भावो यथायोगम् (तिब्बती भाषान्तर के अनुसार)

^२ [त्रैयध्विकानां त्रिविधा]

^३ अतीत धर्मों की प्राप्ति (१) अतीत है अर्थात् ‘जो उत्पन्न-निरुद्ध है’ : यह इन धर्मों की अप्रज, पश्चात्कालज या सहज होती है; (२) अथवा अनागत है अर्थात् ‘जो अनुत्पन्न है’; यह इन धर्मों की पश्चात् कालज होगी; अथवा प्रत्युत्पन्न है अर्थात् ‘जो उत्पन्न और अनिरुद्ध है’ : यह इन धर्मों की पश्चात्कालज है। इसी प्रकार अन्य की योजना कीजिये। प्रत्येक धर्म की यह त्रिविध प्राप्ति नहीं होती। यथा ‘विपाकज’ धर्मों की प्राप्ति केवल इन धर्मों की सहज (२. ३८ सी) होती है। इनके उत्पन्न होने के पूर्व और निरुद्ध होने के पश्चात् इन धर्मों की ‘प्राप्ति’ नहीं होती।

^१ शुभादीनां शुभादिका ।

^२ स्वधातुका तदाप्तानाम्—सास्त्र-धर्म धात्वाप्त, धातुपतित होते हैं।

^३ अनाप्तानां चतुर्विधा [व्या० १५१. ३] ॥—यह अभिधर्म के अपरिचापन हैं।

^४ प्रतिसंख्याननिरोध का प्रतिलम्भ या ‘क्लेशविसंयोग’ (१. ६ ए-बी, २. ५७ डी) पृथग्जन और आर्य दोनों कर सकते हैं। प्रथम अवस्था में प्राप्ति रूपावचरी है यदि निरोध रूपावचर

३. मार्ग सत्य (६. २५ डी) की प्राप्ति अनास्रव ही होती है।

[१८८] शैक्षधर्मों (६. ४५ बी) की प्राप्ति शैक्षी है, अशैक्ष धर्मों की प्राप्ति अशैक्षी है।^१ किन्तु

त्रिधा न शैक्षाशैक्षानामहेयानां द्विधा मता ।

अव्याकृताप्तिः सहजाऽभिज्ञानैर्मणिकाद् ऋते ॥३८॥

३८ ए. नशैक्षाशैक्ष धर्मों की प्राप्ति त्रिविध है।^२

यह नैवशैक्षानाशैक्ष [६. ४५ बी] धर्म सास्रव और असंस्कृत धर्म हैं; इनकी यह संज्ञा इस लिये है क्योंकि यह शैक्ष और अशैक्ष धर्मों से भिन्न हैं।

समासेन इन धर्मों की प्राप्ति त्रिविध है। विशेष व्यवस्थापित करना है :

१. सास्रव धर्मों की प्राप्ति नैवशैक्षीनाशैक्षी है;

२. इसी प्रकार अनार्य से प्राप्त अप्रतिसंख्याननिरोध की प्राप्ति और प्रतिसंख्याननिरोध की प्राप्ति;^३

३. प्रतिसंख्याननिरोध की प्राप्ति शैक्षी है यदि निरोध शैक्षमार्ग से प्राप्त होता है; अशैक्षी है यदि यह निरोध अशैक्षमार्ग से प्राप्त होता है।

दर्शनहेय-भावनाहेय धर्मों की प्राप्ति का छेद यथाक्रम दर्शन और भावना से होता है। अतः प्रहाण की दृष्टि से यह इन धर्मों के जाति की है (२. १३)।

अहेय धर्मों का प्राप्ति-भेद है।

३८ बी. अहेय धर्मों की प्राप्ति द्विविध है।^४

यह धर्म अनास्रव धर्म (१. ४० बी, २. १३ डी) हैं।

[१८९] अप्रतिसंख्याननिरोध की प्राप्ति भावनाहेय है।

इसी प्रकार अनार्य से प्राप्त प्रतिसंख्याननिरोध की प्राप्ति।

(लौकिक) मार्ग से प्राप्त होता है, आरूप्यावचरी है यदि आरूप्यावचर (लौकिक) मार्ग से प्राप्त होता है। द्वितीय अवस्था में यह रूपावचरी और अनास्रव है यदि रूपावचर (लौकिक) मार्ग से निरोध प्राप्त होता है : यह आरूप्यावचरी और अनास्रव है यदि आरूप्यावचर मार्ग से प्राप्त होता है; यह अनास्रव है यदि (६. ४६ में वर्णित नियम के अनुसार) अनास्रव मार्ग से निरोध प्राप्त होता है।

^१ बौद्ध धर्म शैक्ष के, उस आर्य के जो अर्हत् नहीं है, अनास्रव-धर्म हैं। अशैक्ष के धर्म अर्हत् के अनास्रव-धर्म हैं।

^२ [त्रिधा न शैक्षाशैक्षानाम्]

^३ परमार्थः “इसी प्रकार अनार्य से प्राप्त अप्रतिसंख्याननिरोध और प्रतिसंख्याननिरोध की प्राप्ति।” शुआन्-चाङ्ग : “.....अनार्य मार्ग से प्राप्त प्रतिसंख्याननिरोध की प्राप्ति।”

^४ [अहेयानां द्विधा मता]

किन्तु आर्यमार्ग से प्राप्त प्रतिसंख्यानिरोध की प्राप्ति अनास्रव, अहेय है। इसी प्रकार मार्गसत्य की प्राप्ति को जानना चाहिए।^१

हमने यह सामान्य नियम व्यवस्थापित किया है कि त्रैयध्विक धर्म की प्राप्ति त्रिविध हो सकती है (२.३७ ए)। विशेष कहना है।

३८ सी. अव्याकृत की प्राप्ति सहज है।^२

अनिवृताव्याकृत धर्मों की प्राप्ति सहज है : उसकी प्राप्ति होती है यदि वह प्रत्युत्पन्न है, नहीं होती यदि वह अतीत या अनागत है। यदि वह अतीत है तो प्राप्ति अतीत है ; यदि वह अनागत है तो प्राप्ति अनागत है। इस धर्म की दुर्बलता के कारण।^३

३८ डी. दो अभिज्ञा और निर्माण वर्जित हैं।^४

यह नियम सर्व अनिवृताव्याकृत धर्मों को लागू नहीं है। चक्षुरभिक्षा और श्रोत्राभिज्ञा (७.४५) और निर्माणचित्त (२.७२) बलवत् होते हैं क्योंकि प्रयोग-विशेष से उनकी निष्पत्ति होती है : अतः इनकी पूर्व-पश्चात्-सहज प्राप्ति होती है।—कुछ आचार्यों^५ का मत है कि शैल्प-स्थानिक और ऐर्यापथिक (२.७२) प्रकार के अनिवृताव्याकृत धर्मों की प्राप्ति पूर्वज और पश्चात् कालज होती है यदि उनका अत्यर्थ अभ्यास किया गया है (अत्यर्थमभ्यस्तम् = भूशमात्मनः कृतम् [व्या० १५२.१७ आत्मनः के स्थान में आत्मसात् पाठ है।])।

निवृतस्य च रूपस्य कामे रूपस्य नाग्रजा।

अक्लिष्टाऽव्याकृताऽप्राप्तिः सातीताजातयोस्त्रिधा ॥३९॥

[१९०] ३९ ए. इसी प्रकार निवृतरूप की प्राप्ति।^१

निवृताव्याकृत रूप की प्राप्ति केवल सहज होती है। यह रूप निवृताव्याकृत चित्त से उत्थापित काय-वाग्-विज्ञप्ति रूप है। यह विज्ञप्ति यदि अधिमात्र चित्त से उत्थापित होती है तो इस विज्ञप्ति-चित्त के समान अविज्ञप्ति (४.७ ए) को उत्थापित नहीं करती : अतः यह दुर्बल है। अतः उसकी सहज प्राप्ति होती है, पूर्वज और पश्चात् कालज नहीं।

क्या कुशल और अकुशल धर्मों की प्राप्ति के त्रैयध्विक स्वभाव में कुछ अवधारण हैं यथा अव्याकृत धर्मों की प्राप्ति के लिये है ?

^१ एक अवस्था वर्णित नहीं है : आर्य द्वारा लौकिक मार्ग से प्राप्त प्रतिसंख्यानिरोध की प्राप्ति। यह प्राप्ति, जैसा हम ६.४६ में देखेंगे, सास्त्रव और अनास्त्रव दोनों है। [व्या० १५२.३]

^२ अव्याकृताप्तिः सहजा [व्याख्या १५५.२५]

^३ दुर्बलत्वात् : अनभिसंस्कारवत्त्वात्, क्योंकि यह यत्न का फल नहीं है। [व्या० १५२.८]
^४ [अभिज्ञाननिर्माणवर्जिता ॥]

^५ व्याख्या : वैभाषिक—यथा विद्वकर्म की शैल्पस्थानिकों की प्राप्ति पूर्व-पश्चात्-सहज होती है : स्थविर अश्वजित् ऐर्यापथिकों से समन्वागत है। [व्या० १५२.१६]

^१ निवृतस्य च रूपस्य [व्या० १५२.१९]

३९ बी. कामधातु के रूप की प्राप्ति इस रूप से अग्रज नहीं है। २

इस कुशल-अकुशल रूप, यथा प्रातिमोक्षसंवर (४. १९ आदि.), की अग्रजा प्राप्ति सर्वथा नहीं होती, प्राप्ति सहजा, पश्चात् कालजा होती है, पूर्वजा नहीं।

क्या प्राप्ति के समान अप्राप्ति कुशल, अकुशल, अव्याकृत हो सकती है?

३९ सी. अप्राप्ति अनिवृताव्याकृत है। ३

सर्व अप्राप्ति अनिवृताव्याकृत ही होती है (२. ६६)।

३९ डी. अतीत, अजात धर्मों की अप्राप्ति त्रिविध है। ४

[१९१] अतीत, अनागत धर्मों की अप्राप्ति त्रैयध्विकी अर्थात् अतीत, अनागत, प्रत्युत्पन्न हो सकती है। किन्तु प्रत्युत्पन्न धर्मों की प्राप्ति अवश्य होती है: अतः प्रत्युत्पन्न धर्मों की अप्राप्ति केवल अतीत, अनागत हो सकती है।

कामाद्याप्ताऽमलानां च मार्गस्याप्राप्तिरिष्यते।

पृथग्जनत्वं तत्प्राप्तिभूसंचाराद् विहीयते ॥४०॥

४० ए. कामादि धातुओं में आप्तधर्मों की अप्राप्ति और अमल धर्मों की अप्राप्ति त्रिविध है। १

कामधातु में उपपन्न सत्व की काम-रूपारूप्यावचर धर्मों की अप्राप्ति कामावचरी है; रूपधातु में उपपन्न सत्व की अप्राप्ति रूपावचरी है; आरूप्यधातु में उपपन्न सत्व की अप्राप्ति आरूप्यावचरी है। इसी प्रकार अनास्रव धर्मों की अप्राप्ति की योजना होनी चाहिये।

वास्तव में अप्राप्ति कभी अनास्रव नहीं होती।

क्यों?

४० बी-सी. निकाय के अनुसार पृथग्जन वह है जिसने मार्ग का लाभ नहीं किया है २।

१. जैसा मूलशास्त्र (ज्ञानप्रस्थान, २, २१, विभाषा, ४५, ५) में कहा है: “पृथग्जनत्व क्या है?—आर्य धर्मों का अलाभ (आर्यधर्माणामलाभः)”। किन्तु पृथग्जनत्व अनास्रव नहीं है; अतः अप्राप्ति (=अलाभ) अनास्रव नहीं है।

२ कामे रूपस्य नाग्रजा। [व्या० १५२. २७ ‘कामे रूपस्य’ के स्थान में ‘कामरूपस्य’ पाठ है।]

३ अबिलष्टाऽव्याकृताऽप्राप्तिः

क्लेशों की अप्राप्ति विलष्ट नहीं है क्योंकि इस विकल्प में क्लेशविनिर्मुक्त पुद्गल में इसका अभाव होगा: यह कुशल नहीं है क्योंकि कुशलमूलसमुच्छिन्न पुद्गल में इसका अभाव होगा। (विभाषा, १५७, ११)

४ [सातीता जातयोस्] त्रिधा ॥

१ कामाद्याप्तामलानां च [व्या० १५३. १४]

२ [अलब्धमार्गः पृथग्जनः। इष्यते]—

यदि अप्राप्ति अनास्रव हो सकती तो यह अनास्रव धर्मों की अप्राप्ति होती किन्तु पृथग्जन के लक्षण से सिद्ध होता है कि अनास्रव धर्मों की अप्राप्ति अनास्रव नहीं होती।

पृथग्जन पर १. ४०, ४१ ए, २. ९ बी-डी, ३. ४१ सी-डी, ९५ ए, ६. २६ ए, २८ डी, ४५ बी।

हम इस लक्षण की परीक्षा करते हैं—जब शास्त्र का उपदेश है कि पृथग्जनत्व आर्यधर्मों का अलाभ है तो किन आर्यधर्मों का अलाभ इसको अभिप्रेत है ? दुःखे धर्मज्ञानक्षान्ति से आरम्भ कर सर्व अनास्रव मार्ग या आर्य मार्ग (६.२५) आर्यधर्म हैं ।

सर्वास्तिवादिन्—अविशेष वचन होने से शास्त्र का अभिप्राय इन सब धर्मों से है ।

सावधान ! यदि ऐसा है तो दुःखे धर्मज्ञानक्षान्ति के उत्पन्न होने पर भी वह पृथग्जन होगा यदि परिशिष्ट आर्यधर्मों का अलाभ हो ।

[१९२] सर्वास्तिवादिन्—शास्त्र उस अप्राप्ति का उल्लेख करता है जो लाभ के बिना है : यद्यपि आपके पुद्गल को अन्य आर्य धर्मों का लाभ नहीं है तथापि वह पृथग्जन नहीं है क्योंकि इन अन्य धर्मों का अलाभ क्षान्तिलाभ सहगत है । यह प्रत्यक्ष है क्योंकि अन्यथा बुद्ध भगवत् का श्रावक प्रत्येकबुद्ध (६.२३) सन्तानिक आर्यधर्मों से असमन्वागम होने के कारण वह अनार्य होंगे ।

बहुत अच्छा । किन्तु तब शास्त्र में 'एव' शब्द पठित होना चाहिये और उसे "पृथग्जनत्व आर्यधर्मों का अलाभ ही है (अलाभ एव)" ऐसा कहना चाहिये ".....अलाभ" नहीं ।

सर्वास्तिवादिन्—शास्त्र सुष्ठु कहता है क्योंकि एकपद (निरुक्त, २, २) भी अवधारणार्थ (अवधारणानि) होते हैं और 'एव' शब्द की आवश्यकता नहीं है : अब्भक्ष का अर्थ है जो केवल जल खाता है, वायुभक्ष, "जो वायु का ही भक्षण करता है ।"

२. एक दूसरे मत के^१ अनुसार पृथग्जनत्व दर्शनमार्ग की प्रथम अवस्था का, दुःखे धर्मज्ञान-क्षान्ति और उसके सहभू धर्मों का (६.२५), अलाभ है ।

आक्षेप—इस पक्ष में, १६ वें क्षण में (मार्गेऽन्वयज्ञान) आर्य पृथग्जन होगा, आर्य नहीं : क्योंकि इस क्षण में पूर्व क्षान्ति का त्याग होता है^२ । —इस त्याग से अनार्यत्व का प्रसंग नहीं होता क्योंकि क्षान्ति का अलाभ जो पृथग्जनत्व है प्रथम अवस्था में अत्यन्त हृत होता है ।

आक्षेप—यह क्षान्ति त्रिगोत्र है—श्रावक-प्रत्येकबुद्ध-बुद्धगोत्र की है (६.२३) । पृथग्जनत्व का आपका लक्षण इन तीन गोत्रों में से किसके अलाभ का उल्लेख करता है ?

हमको तीनों प्रकार की क्षान्ति अभिप्रेत है ।

सावधान ! इसमें भी वही दोष है । क्षान्ति के त्रिगोत्र के अलाभ से बुद्ध पृथग्जन होंगे ।

[१९३] इसका भी वही परिहार है । हम उस क्षान्ति के अलाभ का उल्लेख करते हैं जो लाभ के बिना है.....पूर्ववत् प्रपञ्च यावत् यथा 'अब्भक्ष', 'वायुभक्ष' ।

अतः "सावधान । यदि ऐसा है तो दुःखे क्षान्ति का लाभ पुद्गल पृथग्जन होगा....." इस दोष के परिहार के लिये जो यत्न है वह व्यर्थ है । सौत्रान्तिकों का व्याख्यान सुष्ठु है । उनके

^१ विभाषा के द्वितीय आचार्य ।

^२ कथावत्थु, ४.४ से तुलना कीजिये ।

अनुसार पृथग्जनत्व वह सन्तति है जिसमें आर्यधर्म अनुत्पन्न हैं (अनुत्पन्नार्यधर्मा सन्ततिः) [व्या० १५४.२८] ।

अप्राप्ति का कैसे विगम होता है ?

४० सी-डी. इसकी विहानि प्राप्ति और भूमिसंचार से होती है ।^१

यथा (१) आर्य मार्ग के लाभ से^२ और (२) भूमिसंचार से (३) पृथग्जनत्व जो आर्य-मार्ग का अलाभ है विहीन होता है । अन्य धर्मों की अप्राप्ति की योजना भी इसी प्रकार करनी चाहिये ।^४

[१९४] आक्षेप—अप्राप्ति विहीन होती है (विहीयते) (१) जब अप्राप्ति—अप्राप्ति का उत्पाद होता है—अर्थात् जब भूमिसंचार से पृथग्जनत्व की प्राप्ति की विहानि होती है; (२) जब अप्राप्ति की प्राप्ति का छेद होता है अर्थात् जब आर्यमार्ग के लाभ से पृथग्जनत्व का छेद होता है । क्या कहने का यह अभिप्राय है कि प्राप्ति और अप्राप्ति की प्राप्ति होती है तथा प्राप्ति और अप्राप्ति की अप्राप्ति होती है ।

हाँ : प्राप्ति और अप्राप्ति की प्राप्ति और अप्राप्ति होती है । इन्हें 'अनुप्राप्ति', 'अनु-अप्राप्ति' कहते हैं । अतः दो प्राप्ति हैं : मूल प्राप्ति और अनुप्राप्ति या प्राप्ति-प्राप्ति ।

क्या इस वाद में प्राप्तियों का अनवस्था-प्रसंग नहीं होता ?

नहीं, क्योंकि परस्पर समन्वागम होता है । प्राप्ति-प्राप्ति (=अनुप्राप्ति) के योग से प्राप्ति से समन्वागम होता है और प्राप्ति के योग से प्राप्ति-प्राप्ति से समन्वागम होता है ।—हम इसका व्याख्यान करते हैं । जब एक सन्तति में एक धर्मविशेष का उत्पाद होता है तो तीन

^१ [सा प्राप्या] भूमिसंचाराच्च [च] विहीयते ॥ [व्या० १५५.१२]

^२ अप्राप्ति या अलाभ के धातु की व्यवस्था उपपत्ति के आश्रयवश होती है (२.४० ए) । अतः कामावचर सत्व का पृथग्जनत्व (जो अप्राप्ति है, २.४० बी-सी) कामावचर होता है । अतः यह नहीं कह सकते कि आर्यमार्ग के लाभ से यह सत्व त्रधातुक पृथग्जनत्व का त्याग करता है ।—आर्यमार्ग के लाभ से सर्व पृथग्जनत्व, चाहे जिस धातु का क्यों न हो, सदा असंभव हो जाता है । अतः यह कह सकते हैं कि यह भाव (कामावचरादि) अपने आकार में विहीन होता है यद्यपि सत्व को एक ही प्रकार के पृथग्जनत्व की प्राप्ति होती है । त्याग के दो आकार हैं—विहानि और प्रहाण । इनमें विशेष है ।

^३ एक पृथग्जन कामधातु से विरक्त हो प्रथम ध्यान में संचार करता है : उसका कामावचर पृथग्जनत्व विहीन होता है किन्तु वह इससे आर्य नहीं होता : क्योंकि प्रथम ध्यानभूमिक अन्य पृथग्जनत्व का प्रादुर्भाव होता है । अन्य भूमियों के लिये अर्थात् अधर से ऊर्ध्व और ऊर्ध्व से अधर भूमियों में संचार के लिये इसी प्रकार योजना करनी चाहिये ।

^४ कामावचर श्रुत-चिन्तामय कुशल धर्मों के प्राप्ति-लाभ से अप्राप्ति विहीन होती है । उपपत्ति लाभिक कुशल धर्मों (२.७१ बी) की प्राप्ति से समुच्छिन्नकुशल की अप्राप्ति विहीन होती है ।—जब कोई सत्व कामधातु से च्युत हो प्रथम ध्यान में उपपन्न होता है तब वह प्रथम ध्यानभूमिक धर्मों की अप्राप्ति से विहीन होता है. इस वाद से कठिन प्रश्न समुत्थापित होते हैं जिनकी परीक्षा संक्षेप से व्याख्या में की गई है । [व्या० १५५.१९]

धर्मों का सहोत्पाद होता है अर्थात् (१) यही धर्म जिसे मूलधर्म कहते हैं, (२) मूलधर्म की प्राप्ति, (३) इस प्राप्ति की प्राप्ति । प्राप्ति के उत्पादवश वह सत्त्व मूलधर्म से और प्राप्ति-प्राप्ति से समन्वागत होता है; प्राप्ति-प्राप्ति की उत्पत्ति से वह प्राप्ति से समन्वागत होता है^१ । अतः अनवस्थाप्रसंग नहीं होता ।—जब कुशल या क्लिष्ट^२ धर्म की उत्पत्ति होती है तो उसी क्षण में तीन धर्मों का सहोत्पाद होता है । इनमें यह 'कुशल' या क्लिष्ट धर्म संगृहीत है । तीन धर्म यह हैं : मूलधर्म, उसकी प्राप्ति, इस प्राप्ति की प्राप्ति (प्राप्ति-प्राप्ति)^३ । द्वितीय क्षण में ६ धर्मों का सहोत्पाद होता है—अर्थात् मूलधर्म की प्राप्ति, प्रथम क्षण की प्राप्ति-प्राप्ति, प्रथम क्षण की प्राप्ति-प्राप्ति की प्राप्ति तथा तीन अनुप्राप्ति जिनके योग से पूर्वोक्त तीन प्राप्तियों से समन्वागत होता है । तृतीय क्षण में १८ धर्मों का सहोत्पाद होता है अर्थात् ९ प्राप्ति : प्रथम क्षणोत्पन्न तीन धर्मों की प्राप्ति; द्वितीय क्षणोत्पन्न ६ धर्मों की प्राप्ति तथा ९ अनुप्राप्ति जिनके योग से पूर्वोक्त ९ प्राप्तियों के योग से समन्वागत होता है ।

[११५] इस प्रकार प्राप्तियों का उत्तरोत्तर वृद्धि-प्रसंग होता है^४ । अनादि-अनन्त संसार में पर्यापन्न अतीत-अनागत क्लेशों की (क्लेश और उपक्लेश) प्राप्तियाँ और संप्रयोग (२.५३ सी-डी) तथा सहभू धर्मों (२. ५० बी) के सहित उत्पत्तिलाभिक (२.७१ बी) कुशल धर्मों की प्राप्तियाँ प्रतिक्षण अनन्त संख्या में उत्पन्न होती हैं । यदि संसरण करते हुए एक प्राणी की सन्तति का विचार करें तो क्षण २ पर उत्पद्यमान प्राप्तियों की संख्या अनन्त होती है । पुनः यदि बहुप्राणियों का विचार किया जाय तो अप्राप्तियाँ अनन्त अप्रमेय होती हैं । यह प्राप्तियों का अति उत्सव है कि यह अरूपिणी हैं : इसलिये यह अवकाश का लाभ करती हैं । यदि यह प्रतिघातिनी होतीं तो एक प्राणी की प्राप्तियों को नीलाकाश में स्थान न मिलता । दो प्राणियों की प्राप्तियों को तो और भी कम ।

‘निकाय सभाग’ (सभागता) क्या है ?

सभागता सत्त्वसाम्यमासंज्ञिकमसंज्ञिषु ।

निरोधविचत्तचैतानां विपाकस्ते बृहत्फलाः ॥४१॥

^१ २.४५ सी-डी. में वर्णित जाति-क्रीड़ा और जातिजाति की क्रीड़ा से तुलना कीजिये ।

^२ यहाँ अव्याकृत धर्म की परीक्षा नहीं करते क्योंकि इसकी प्राप्ति सहज ही होती है (तस्य सहजैव प्राप्तिः) : संख्या भिन्न है । [व्या० १५६. १०]

^३ जापानी संपादक का कहना है कि इन तीन धर्मों में से प्रत्येक के लिये चार लक्षण तथा चार अनुलक्षण (२.४५ सी-डी) अधिक होना चाहिये । इस प्रकार प्रथम क्षण में २७ धर्म होते हैं ।

^४ चतुर्थ क्षण में २७ प्राप्ति होती हैं अर्थात् प्रथम-द्वितीय-तृतीय क्षण में उत्पन्न धर्मों की ३, ६, १८ प्राप्तियाँ, तथा २७ अनुप्राप्तियाँ : इस प्रकार ५४ धर्म । पाँचवें क्षण में ८१ प्राप्ति और इतनी ही अनुप्राप्ति ।

^५ सभागता सत्त्वसाम्यम्—प्रकरण, १४ बी ६ : “निकायसभाग क्या है ?”—सर्वों की स्वभावसमता । [व्या० १५३. ३]

४१ ए. सभागता वह है जिसके योग से सत्त्वों का साम्य होता है^३ ।

[१९६] १. सभागता नाम का एक द्रव्य है, एक धर्म है जिसके योग से सत्त्व तथा सत्त्व-संख्यात धर्मों (१.१०) का परस्पर सादृश्य (सभाग, सम, समान, सदृश) होता है । (विभाषा, २७, ४) ।

२. शास्त्र में (ज्ञानप्रस्थानादि) इस द्रव्य की निकायसभाग संज्ञा है : आचार्य श्लोकबन्ध के कारण सभागता संज्ञा का प्रयोग करते हैं ।

३. सभागता दो प्रकार की है—अभिन्न और भिन्न ।

प्रथम सभागता सर्वसत्त्ववर्तिनी है : उसके योग से प्रत्येक सत्त्व का सब सत्त्वों के साथ सादृश्य होता है । उसे सत्त्वसभागता कहते हैं ।

द्वितीय में अनेक अवान्तर भेद हैं : इन प्रभेदों में से प्रत्येक केवल कुछ सत्त्वों में पाया जाता है ।—सत्त्व धातु, भूमि, गति (३.४), योनि (३.९), जाति (ब्राह्मणादि), व्यंजन, उपासकत्व (४.१४), भिक्षुता, शैक्षत्व, अर्हत्व आदि^२ के अनुसार भिन्न होते हैं । इतनी ही सभागता होती हैं जिनके योग से एक विशेष प्रकार का प्रत्येक सत्त्व उस प्रकार के सत्त्वों के सदृश होता है ।

४. पुनः सत्त्वसंख्यात धर्मों के लिये एक सभागता है : धर्मसभागता । यह स्कन्ध-आयतन-धातुतः है : स्कन्धसभागता आदि, रूपस्कन्धसभागता आदि ।

५. सभागता (सत्त्वसभागता) नामक अविशिष्ट द्रव्य के अभाव में अत्योन्यविशेषभिन्न सत्त्वों के लिये सत्त्वादि अभेद बुद्धि और प्रज्ञप्ति कैसे होंगी ? इसी प्रकार धर्मसभागता के योग से ही स्कन्ध, धातु आदि बुद्धि और प्रज्ञप्ति युक्त हैं^२ ।

[१९७] ६. क्या सत्त्वसभागता (मनुष्यत्व आदि) का परित्याग और प्रतिलाभ किसे बिना गतिसंचार, च्युति-उपपत्ति होती है ?—चार कोटि हैं :

१. एक स्थान से च्युत होना (यथा कामधातु से) और उसी स्थान में उपपद्यमान होना : गतिसंचार के होने पर भी सभागता उसी अवस्था में रहती है ; वह सत्त्वसभागता का न त्याग करता है, न प्रतिलाभ करता है ;

२. नियमावक्रान्ति (६.२६ ए) में प्रवेश करना : गतिसंचार के बिना पृथग्जनत्व-स्वभाव की सभागता का त्याग और आर्यत्व-स्वभाव की अपर सभागता (आर्य-सभागता)

^३ प्रत्येक सत्त्व में अन्य अन्य होते हुए भी सत्त्वसभागता अभिन्न कहलाती है क्योंकि सादृश्य है । उसको एक और नित्य मानना वैशेषिकों की भूल है ।

^१ 'आदि' से उपासिका, भिक्षुणी, नैवशैक्षनाशैक्ष आदि का ग्रहण होता है । [व्या० १५७.१६]

^२ दो पाठ हैं : एवं स्कन्धादिबुद्धिप्रज्ञप्तयोऽपि योज्याः [व्या० १५७.१९] और एवं धात्वादि-बुद्धिप्रज्ञप्तयोऽपि योज्याः : "धर्मसभागता के कारण धातु कामधातु के होते हैं..." । [व्या० १५७.२१]

का प्रतिलाभ होता है; ३. मनुष्यादि गति से च्युत होना और अन्य गति में (गतिसंचार) उपपद्यमान होना; ४. इन आकारों को वर्जित कर अन्य आकार ।

सौत्रान्तिक सभागता नामक धर्म को स्वीकार नहीं करते और अनेक दोष दिखाते हैं ।

१. यदि पृथग्जनसभागता नाम का कोई द्रव्य है तो फिर आर्यधर्म-अलाभस्वभाव (२. ४० सी) पृथग्जनत्व की कल्पना से क्या प्रयोजन ? पृथग्जनसभागता से ही पृथग्जन होगा यथा मनुष्यसभागता से ही मनुष्य होता है क्योंकि वैभाषिक मनुष्यसभागता से अन्य मनुष्यत्व की कल्पना नहीं करते ।

२. लोकसभागता को प्रत्यक्ष नहीं देखता । वह प्रज्ञा से सभागता का परिच्छेद नहीं करता (परिच्छिनन्ति) क्योंकि सभागता का कोई व्यापार नहीं है जिससे उसका ज्ञान हो : यद्यपि लोक सत्वसभागता को नहीं जानता तथापि उसमें सत्वों के जात्यभेद की प्रतिपत्ति होती है (प्रतिपद्यते) । अतः सभागता के होने पर भी उसका व्यापार क्या होगा ?

३. निकाय को शालि, यव, सुवर्ण, लौह, आम्र, पनस आदि की असत्वसभागता भी क्यों नहीं दृष्ट है ? किन्तु उनके लिये सामान्य प्रज्ञप्तियों का उपयोग होता है ।

४. जिन विविध सभागताओं की अर्थात् सत्वसभागता, धातुसभागता, गतिसभागता आदि की प्रतिपत्ति निकाय को है वह अन्योन्य भिन्न हैं । किन्तु सब के लिये सामान्य बुद्धि और प्रज्ञप्ति होती है : सब सभागता है ।

[१९८] ५. सर्वास्तिवादिन् वैशेषिकों के वाद का समर्थन करता है (द्योतयति) । यह भी सामान्यपदार्थवादी है जिस सामान्य के योग से वस्तुओं के लिये सामान्य बुद्धि और प्रज्ञप्ति का उत्पाद होता है । वह विशेष नामक एक दूसरा द्रव्य भी मानते हैं जिससे विविध जाति के लिये विशेष बुद्धि और प्रज्ञप्ति प्रवृत्त होती है ।

वैभाषिक इसका विरोध करता है और कहता है कि उसका वाद वैशेषिकों के वाद से भिन्न है । वैशेषिक मानते हैं कि सामान्य एक पदार्थ है जो एक होते हुए भी अनेक में वर्तमान है (एकोऽप्यनेकस्मिन् वर्तते [व्या० १५९. २]) । अतः वह कहता है कि यदि मैं वैशेषिकों के सामान्य को द्योतित करता हूँ तो मैं उनके बताये हुए निरूपण को दूषित करता हूँ । —सभागता द्रव्य है क्योंकि भगवत् नरक में उपपन्न प्राणातिपातकारी का वर्णन करते हुए कहते हैं कि “यदि वह इत्थंत्व को प्राप्त होता है, यदि वह मनुष्यों की सभागता को प्राप्त होता है” (मध्यम, २४, ३) १ ।

१ व्याख्या में सूत्र उद्धृत है : प्राणातिपातेनासेवितेन भावितेन बहुलीकृतेन [व्या० १५९. ६] (अंगुत्तर, ४. २४७, आदि से तुलना कीजिये) नरकेषूपपद्यते । स चेद् इत्थंत्वमागच्छति मनुष्याणां सभागतां प्राप्नोति प्राणातिपातेनात्पाद्युर्भवति । दशभूमक में स चेद् . . . इस वाक्य के स्थान में ‘अथ चेत् पुनर्मनुष्येषूपपद्यते’ है । दिव्य, १९४, ३० : मनुष्याणां सभागतायामुपपन्न इति (महाव्युत्पत्ति, २४५, ५४) ;

सौत्रान्तिक उत्तर देता है—इस वचन से सूत्र सभागता नामक द्रव्यान्तर का उपदेश नहीं देता ।—सूत्र सभागता शब्द से क्या प्रज्ञप्त करता है ?—सत्त्वसभागतादि शब्दों से सूत्र को स्वजाति-सादृश्य अभिप्रेत है : इसी प्रकार शालि, यव, मुद्ग, भाषादि की सभागता को जानिये ।

यह मत वैभाषिकों को स्वीकृत नहीं है^२ ।

आसंज्ञिक कौन है ?

[१९९] ४१ बी-सी. आसंज्ञिक वह है जो असंज्ञि सत्त्वों में चित्त-चैत्यों का निरोध करता है^१ ।

जो सत्त्व असंज्ञि या असंज्ञि देवों में उपपन्न होते हैं उनमें एक धर्म होता है जो चित्त-चैत्यों का निरोध करता है और जिसे 'आसंज्ञिक' कहते हैं । इस धर्म से अनागत अध्व के चित्त-चैत कालान्तर के लिये संनिरुद्ध होते हैं । और उत्पत्ति का लाभ नहीं करते । यह धर्म उस धर्म के सदृश है जो नदीतोय का निरोध करता है (नदीतोयनिरोधवत्) अर्थात् सेतु के सदृश है ।

यह धर्म एकान्ततः

४१ डी. विपाक है ।

यह एकान्ततः असंज्ञि समापत्ति (२.४२ ए) का विपाक है^२ ।

असंज्ञि देव किस स्थान में निवास करते हैं ?

४१ डी. वह बृहत्फल में निवास करते हैं ।

बृहत्फल देवों का एक ऊर्ध्व प्रदेश है जो असंज्ञि सत्त्वों का वासस्थान है; यथा ब्रह्मपुरोहित देवों का (३.२ सी^३ ; विभाषा, १५४, ८) ध्यानान्तरिका एक उच्छिन्न प्रदेश है जो महाब्रह्मों का वासस्थान है ।

क्या यह असंज्ञि सत्त्व इसलिये कहलाते हैं क्योंकि यह सदा असंज्ञी होते हैं अथवा क्या यह कदाचित् संज्ञी होते हैं ?

उपपत्तिकाल और च्युतिकाल में (३.४२, विभाषा, १५४, ९)^४ वह संज्ञी होते हैं ।

१२२, १६ : ब्रह्मलोकसभागतायां चोपपन्नो महाब्रह्मा संवृत्तः । शिक्षासमुच्चय, १७६, ९ : स [ब] निकायसभागे देवमनुष्याणां प्रियो भवति ।

^२ शुआन्-चाङ्ग का अनुवाद : "यह मान्य नहीं है क्योंकि यह हमारे सिद्धान्त के विरुद्ध है" । वह इस वाक्य को छोड़ देते हैं : "वैभाषिक कहते हैं" (वैभाषिक कहते हैं : "यह अयुक्त है")

^१ आसंज्ञिकमसंज्ञिषु । निरोधश्चित्तचैतानां विपाकस्तु बृहत्फले ॥ [व्या० १५९.१३] —प्रकरण, फाल० १४ बी ६—दीध, ३.२६३ : सन्तावुसो सत्ता असंज्ञिज्जानो अप्पत्ति-संवेदिनो सेय्यथापि देवा असंज्ञिज्जसत्ता—१.२८, ३.३३ . . . सञ्जुप्पादा च पन ते देवा तम्हा काया चवन्ति—९ सत्त्वावासों में से एक अंगुत्तर, ४,४०१ ; कोश, ३.६ सी.

^२ विभाषा, १५८, ९, ५ मत ।

^३ बहिर्देशक का इसके विपरीत कहना है कि चतुर्थ ध्यान के लोक के ९ विभाग हैं—बृहत्फल (बृहत्फल) पर व्यूनाफ, इन्द्रोडक्शन पृ० ६१४.

^४ अन्धकों के मत का कथावत्थु, ३.२ में प्रतिषेध है ।

[२००] वह असंज्ञि कहलाते हैं क्योंकि दीर्घ काल तक उसकी संज्ञा स्थगित रहती है । जब इस दीर्घ काल के पश्चात् वह पुनः संज्ञा का उत्पाद करते हैं तो उनकी च्युति होती है । जैसा सूत्र में कहा है कि “जब वह पुनः संज्ञा का उत्पाद करते हैं तब उस सत्त्व के सदृश जो निद्रा से जगता है उनकी च्युति होती है ।”

असंज्ञि सत्त्वों के लोक से च्युत हो वह अवश्य कामधातु में पुनः उपपन्न होते हैं, अन्यत्र नहीं । (१) वास्तव में जिस के योग से यह सत्त्व असंज्ञियों में उपपन्न होते हैं उस असंज्ञिसमापत्ति (२.४२ ए) के संस्कार का परिक्षय होता है । असंज्ञि सत्त्वों में निवास करते हुए वह अपूर्व का उपचय नहीं करते और असंज्ञि-समापत्ति का पुनः अभ्यास करने के अयोग्य होते हैं : अतः उनकी च्युति होती है यथा क्षीणवेग बाण पृथिवी पर पतित होते हैं ।^२ (२) दूसरे पक्ष में असंज्ञि सत्त्वों में उपपन्न सत्त्व ‘काम धातु में विपच्यमान’ और ‘अपर पर्याय वेदनीय’ (४.५० बी) कर्म से अवश्य समन्वागत होते हैं । इसी प्रकार उत्तरकुरु (३.९० सी-डी) में जो सत्त्व उपपन्न होते हैं वह उत्तरकुरु-भव के अनन्तर की देवगति में विपच्यमान कर्म से अवश्य समन्वागत होते हैं ।

मूलशास्त्र कहता है : “दो समापत्ति क्या है ?—असंज्ञि-समापत्ति, निरोध-समापत्ति ।”^३ असंज्ञि-समापत्ति क्या है ?

यथा आसंज्ञिक एक धर्म है जो चित्त और चैत्यों का निरोध करता है ।

तथासंज्ञिसमापत्तिर्ध्यानेऽन्त्ये निःसृतीच्छया ।

शुभोपपद्येद्यैव नार्यस्यैकाधिकाप्यते ॥४२॥

४२ ए. उसी प्रकार असंज्ञि-समापत्ति है^३ ।

[२०१] असंज्ञि-समापत्ति असंज्ञि सत्त्वों की समापत्ति है (असंज्ञिनां समापत्तिः), अथवा वह समापत्ति है जिसमें संज्ञा नहीं होती ।

‘तथा’ शब्द से यह प्रदर्शित होता है कि यह समापत्ति आसंज्ञिक की तरह चित्त-चैत्यों का निरोध करती है ।

यह किस भूमि की है ?

^१ समापत्ति शब्द के अर्थ पर पृ. २१३ देखिये ।

^२ पूरा नाम संज्ञावेदितनिरोधसमापत्ति है, पृ. २११ देखिये ।

प्रकरण (१४ बी ५): असंज्ञि-समापत्ति निःसरणमनसिकारपूर्वक चित्त-चैत का निरोध है । शुभकृत्स्नों के क्लेशों से, ऊर्ध्व क्लेशों से नहीं, विनिर्मुक्त पुद्गल इसका लाभ करता है । निरोधसमापत्ति शान्तविहार संज्ञापूर्वक चित्त-चैत्यों का निरोध है और इसका लाभ वह पुद्गल करता है जो आकिञ्चन्यायतन के क्लेशों से विनिर्मुक्त है ।—चस्कन्धक में वसुबन्धु ने इन लक्षणों से सहायता ली है ।

^३ तथा [असंज्ञिसमापत्तिर्] ध्यानेऽन्त्ये [मोक्षमिच्छता] ।

[शुभो] पपद्येद्यैव (नार्य) एकाधिकाप्यते ॥

४२ बी. अन्त्य ध्यान की ।

इस समापत्ति के अभ्यास के लिये योगी को चतुर्थ ध्यान में समापन्न होना चाहिये ।

किस उद्देश्य से वह उसका अभ्यास करता है ?

४२ बी. मोक्ष की इच्छा से ।

योगी की यह मिथ्या कल्पना होती है कि आसंज्ञिक जो सहस्र कल्प की असंज्ञा है और जो असंज्ञि-समापत्ति का फल है यथार्थ मोक्ष है ।

आसंज्ञिक विपाक है । अतः यह अवश्य अव्याकृत है । असंज्ञि-समापत्ति—

४२ सी. कुशला है । इसका विपाक असंज्ञिदेव का पंचस्कन्ध है जो, जैसा कि हम जानते हैं, उपपत्तिकाल और च्युतकाल में संज्ञी होते हैं ।

विपाक की दृष्टि से वह किस प्रकार का है ?

४२ सी. केवल उपपद्यवेदनीय है ।

यह 'दृष्ट-धर्म-वेदनीय', 'अपर-पर्याय-वेदनीय' नहीं है, यह 'अनियत-वेदनीय' (४.५० भी नहीं है ।

निस्सन्देह योगी इस समापत्ति का लाभ कर इस समापत्ति से परिहीण (परिहा) हो सकता है किन्तु वैभाषिकों के अनुसार वह पुनः उसका उत्पादन कर असंज्ञि सत्त्वों में उपपन्न होता है । इसका यह अर्थ है कि जो योगी इस समापत्ति का लाभ होता है वह अवश्य 'नियाम' (६.२६ ए) में अवक्रान्ति नहीं करता^१ ।

[२०२] केवल पृथग्जन इस समापत्ति का अभ्यास करते हैं ।

४२ डी. आर्य नहीं ।

यह इस समापत्ति को विनिपात-स्थान, अपाय-स्थान (अर्थात् अपाय-स्थान या गिरितट विनिपात स्थान) देखते हैं और उसमें समापन्न होने का यत्न नहीं करते ।

इसके विपर्यय पृथग्जन आसंज्ञिक को यथार्थ मोक्ष मानते हैं । उसके प्रति उनकी निःसरण संज्ञा मोक्षसंज्ञा होती है । अतः वह मोक्षोपनायिका समापत्ति में समापन्न होते हैं । किन्तु आर्य जानते हैं कि सास्त्रव यथार्थ मोक्ष नहीं हो सकता । अतः वह इस समापत्ति की भावना नहीं करते ।

जब आर्य चतुर्थ ध्यान में प्रवेश करते हैं तो क्या वह अतीत और अनागत उस समापत्ति की प्राप्ति का प्रतिलाभ करते हैं यथा वह चतुर्थ ध्यान के लाभ से अतीत और अनागत चतुर्थ ध्यान की प्राप्ति का प्रतिलाभ करते हैं^१ ।

^१ नियामावक्रान्ति से आर्य अपायगति, आसंज्ञिक, महाब्रह्मोपपत्ति, कौरवोपपत्ति, अष्टंभव के अप्रतिसंख्यानिरोध का प्रतिलाभ करता है । असंज्ञि-समापत्ति से परिहाण नहीं होती, विभाषा, १५२, पृ० ७७३, कालम ३ ।

^१ जो कोई चतुर्थ ध्यान में प्रवेश करता है वह उन सब चतुर्थ ध्यानों की प्राप्ति का सकृत् लाभ करता है जिनकी उसने अनादिमान् संसार में भावना की है या जिनकी वह भविष्य में भावना करेगा ।

अनार्य भी अतीत-अनागत असंज्ञि-समापत्ति की प्राप्ति का प्रतिलाभ नहीं करते ।

क्यों ? अभ्यस्त होने पर भी महाभिसंस्कार साध्य और अचित्तक होने से यह समापत्ति ४२ डी. एक अध्व में प्राप्त होती है ।

[२०३] न अतीत, न अनागत किन्तु एकाध्विक अर्थात् प्रत्युत्पन्न असंज्ञि-समापत्ति का लाभ होता है (आप्यते, लभ्यते) यथा प्रातिमोक्ष संवर का होता है । इस समापत्ति के द्वितीय क्षण में, लब्ध समापत्ति के सब उत्तर क्षणों में वह अतीत और प्रत्युत्पन्न उस समापत्ति से समन्वागत होता है यावत् वह उस समापत्ति का त्याग नहीं करता । —दूसरी ओर अचैत्तिक होने से अनागत भावना की प्राप्ति का लाभ असंभव है (नानागता भाव्यते)^१ । [व्या० १६०. २२]

निरोधाख्या तथैवेयं विहारार्थं भवाग्रजा ।

शुभा द्विवेद्याऽनियता चार्यस्याप्या प्रयोगतः ॥४३॥

निरोध-समापत्ति क्या है^२ ।

४३ ए. निरोधाख्या समापत्ति तथैव है^३ ।

अर्थात् निरोध-समापत्ति, आसंज्ञिक, असंज्ञि-समापत्ति के सदृश है । यह एक धर्म है जो चित्त-चैत्तों का निरोध करता है ।

असंज्ञि-समापत्ति और निरोध-समापत्ति में क्या भेद है ?

४३ बी-डी. शान्तविहार के लिए भवाग्रज, शुभ, द्विविपाकात्मक और अनियत; आर्य द्वारा प्रयोग से प्राप्त^४ ।

१. आर्य इस समापत्ति की भावना करते हैं क्योंकि वह शान्तविहार-संज्ञापूर्वक मनसिकार से उसका ग्रहण करते हैं^५ । असंज्ञि-समापत्ति की भावना निःसरण (= मोक्ष) संज्ञापूर्वक मनसिकार से असंज्ञा का ग्रहण करने से होती है ।

२. यह भवाग्रज है अर्थात् नैवसंज्ञानासंज्ञायतन (८.४) समापत्ति से आरंभ कर इसमें प्रवेश होता है जब कि असंज्ञि-समापत्ति चतुर्थध्यानभूमिक है ।

३. यह शुभ है; यह न अव्याकृत है, न क्लिष्ट क्योंकि इसका समुत्थापकहेतु (४.९ बी) शुभ है ।

^१ अनागत कुशल चित्त पूर्व प्राप्ति का आलम्बन है ।

^२ निरोधसमापत्ति, संज्ञावेदितनिरोधसमापत्ति (नीचे पृ. २११ देखिये) पर ६. ४३ सी-डी, ८. ३३ ए (विमोक्ष), कथावत्थु, ६. ५, १५. ७ देखिये ।—महाविभाषा, १५२, १४ में इस समापत्ति पर अनेक मत हैं : कुछ के विचार से यह एक द्रव्यमात्र है—निरोधसाक्षात्कार; दूसरों के मत से, ११ द्रव्य : १० महाभूमिक और चित्तनिरोध; दूसरों के मत से, २१ द्रव्य : महाभूमिक, कुशलमहाभूमिक और चित्तनिरोध. निरोधसमापत्ति, सिद्धि, ६१, २०४, २११-२१४, २४७, २६८, २८३, ४०५-४०९, ७५१ ।

^३ निरोधाख्या तथैवा [पि] [व्या० १६०. २५]

^४ [विहाराय भवाग्रजा । शुभा द्विवेद्या नियतार्थः प्रयोगत आध्यते ॥]

^५ शान्तविहारसंज्ञापूर्वकेण मनसिकारेण [व्या० १६०. २८] —विहार = समाधिविशेष ।

[२०४] ४. इसके दो प्रकार के विपाक हैं—उपपद्यवेदनीय या अपरपर्यायवेदनीय (४.५०)^१ । यह 'अनियत' भी है क्योंकि जिस योगी ने इस समापत्ति का उत्पाद किया है वह दृष्टधर्म में निर्वाण का लाभ कर सकता है ।

इसका विपाक क्या है ?

यह समापत्ति भवाग्र के चार स्कन्ध अर्थात् भवाग्र-भव (३.३) का उत्पाद करती है ।

५. केवल आर्य—पृथग्जन नहीं—इसका उत्पाद करते हैं । यह उसका उत्पाद नहीं कर सकते (१) क्योंकि यह उच्छेदभीरु हैं (उच्छेदभीरुत्वात् [व्या० १६१. ७]^२), (२) क्योंकि इस समापत्ति का उत्पादन केवल आर्यमार्ग के बल से होता है : वास्तव में जो आर्य दृष्ट-निर्वाण है उसकी उसमें अधिमुक्ति होती है^३ ।

६. यद्यपि आर्य इसका लाभ करते हैं । तथापि इसका लाभ वैराग्यमात्र से नहीं होता । यह प्रयोगलभ्य, महाभिस्कारसाध्य ही है ।

अतीत, अनागत का लाभ नहीं होता । असंज्ञि-समापत्ति-निर्देश में इसका व्याख्यान हुआ है ।

बोधिलभ्या मुनेन प्राक् चतुस्त्रिंशत्क्षणाप्तितः

कामरूपाश्रये तूभे निरोधाख्यावितो नृषु ॥४४॥

[२०५] ४४ ए-बी. मुनि के लिए बोधिलभ्य है, पूर्व नहीं, क्योंकि मुनि ३४ क्षण में बोधि-जय करते हैं^१ ।

बुद्ध निरोध-समापत्ति का लाभ बुद्ध होने के क्षण में अर्थात् क्षयज्ञान (६.६७) काल में करते हैं । बुद्धों का कोई प्रायोगिक कुशल नहीं है । उनके सब कुशल वैराग्य से प्रति-

^१ यह 'अपर पर्याय वेदनीय' है यदि आर्य कामधातु में निरोध-समापत्ति का उत्पाद करता है जिसका फल भवाग्रोत्पत्ति है किन्तु रूपधातु में उपपन्न होकर कालान्तर में भवाग्र का लाभ कर भवाग्र में उपपन्न होता है । [व्या १६१.१]

^२ यह समापत्ति भवाग्रभूमिक है जहां रूप का अभाव होता है । पृथग्जनों का विश्वास है कि इन अवस्थाओं में चित्त-चैतन्य का निरोध उच्छेद है । असंज्ञि-समापत्ति के विषय में उनको उच्छेद-भय नहीं होता क्योंकि वह चतुर्थध्यानभूमिक है जहां रूप का सद्भाव है । वास्तव में निरोध-समापत्ति में निकायसभाग, जीवितेन्द्रियादि चित्तविप्रयुक्त संस्कार होते हैं किन्तु पृथग्जनों के लिये विप्रयुक्त अदृश्य हैं । [व्या १६१.८]

^३ दृष्टनिर्वाणस्य तदधिमुक्तितः [व्या १६१.१९]—पाठभेद है जिसका अनुसरण चीनी अनुवादक करते हैं, दृष्टधर्मनिर्वाणस्य... अर्थात् "आर्य इस समापत्ति के द्वारा, इस समापत्ति में, दृष्टधर्म में ही निर्वाण का लाभ चाहता है" : दृष्टधर्मनिर्वाणस्य तदधिमुक्तितः [व्या १६१.१५] । दृष्टे जन्मनि निर्वाणं दृष्टधर्मनिर्वाणम् । तस्य तदधिमुक्तितः । तदित्यधिमुक्तितस्तदधिमुक्तिः । तेन वाधिमुक्तितस्तदधिमुक्तिः । तदधिमुक्तेस्तदधिमुक्तितः । दृष्टे जन्मन्येतन्निर्वाणमित्यार्यस्तमधिमुच्यते ।

^१ बोधिलभ्या मुनेन [न प्राक् चतुस्त्रिंशत्क्षणाप्तितः ।] [व्या १६१.३१] ६.२४ ए-बी. देखिये—कथावत्थु, १.५, १८.५ से तुलना कीजिये ।

लब्ध होते हैं : ज्यों ही उनका छन्द होता है उनकी इच्छामात्र से ही गुण-समूह उद्भूत होते हैं २।

यह कैसे है कि भगवत् पूर्व निरोध-समापत्ति का बिना उत्पाद किये क्षयज्ञान काल में 'उभयतो-भागविमुक्त' होते हैं अर्थात् क्लेशावरण और समापत्यावरण (६.६४) से विमुक्त होते हैं ?

वह 'उभयतोभागविमुक्त' होते हैं मानों उन्होंने पूर्व ही इस समापत्ति का उत्पाद किया हो क्योंकि इसमें उनका वशित्व है, उसके सम्मुखीकरण की सामर्थ्य है (विभाषा, १५३.१०) ।

पाश्चात्यों^३ का मत है कि शैक्षावस्था में बोधिसत्व पहले ही इस समापत्ति का उत्पाद करते हैं और पश्चात् बोधि का लाभ करते हैं । इस मत को क्यों नहीं स्वीकार करते ?

यह स्थविर उपगुप्त के नेत्रीपदशास्त्र के इस वाक्य के अनुकूल होगा : "जो निरोध-समापत्ति का उत्पाद कर क्षयज्ञान का उत्पाद करता है उसको तथागत कहना चाहिये^४ ।"

काश्मीर वैभाषिक इसका प्रतिषेध करते हैं कि बोधिसत्व क्षयज्ञान के उत्पाद के पूर्व निरोध-समापत्ति का उत्पाद करता है ।

[२०६] निकाय वास्तव में स्वीकार करता है (विभाषा १५३, १०-११) कि बोधिसत्व ३४ क्षण में सत्याभिसमय (६.२७) के १६ चित्त-क्षणों में और भवाग्र-(= नैवसंज्ञाना-संज्ञायतन)वैराग्य के १८ क्षणों में अर्थात् ९ प्रकार के भावाग्रिक क्लेशों के प्रहाण के लिये ६ आनन्तर्यमार्ग और ९ विमुक्तिमार्ग (६.४४) में बोधि का लाभ करता है । १८ वाँ क्षण क्षयज्ञान है ।

—यह ३४ क्षण पर्याप्त है क्योंकि 'सत्याभिसमय' में प्रवेश करने के पूर्व बोधिसत्व पृथग्जनत्व की अवस्था में (३.४१) लौकिक मार्ग द्वारा भवाग्र से अन्य सर्व भूमियों से विरक्त हो चुका है, उसे अधोभूमिक क्लेशों का पुनः प्रहाण नहीं करना है ।—१८ क्षणों का एक मार्ग है जिसमें आर्य भिन्न स्वभाव का चित्त अर्थात् लौकिक, सास्त्रव चित्त उत्पन्न नहीं करता यथा निरोध-समापत्ति में समापन्न होने का चित्त । अतः बोधिसत्व शैक्षावस्था में अर्थात् अर्हत् होने के पूर्व सत्याभिसमय और भवाग्र-वैराग्य के १८ वें क्षण के मध्य में निरोध-समापत्ति का उत्पाद नहीं करता ।

बहिर्देशक^५ कहते हैं : इसमें क्या दोष है यदि बोधिसत्व इस सास्त्रवचित्त का उत्पाद करते हैं ?

^२ व्याख्या स्तोत्रकार मातृचेट का एक श्लोक उद्धृत करती है (वर्णनार्हवर्णन, ११८ : एफ० डब्ल्यू० टामस, इण्डियन एण्टिक्वेरी, जिल्द ३२, पृ० ३४५) : न ते प्रायोगिकं किञ्चित् कुशलं कुशलानुग । [व्या १६२.५] दो पाद नामसंगीति में उद्धृत हैं—व्यवसायद्वितीयेन प्राप्तं पदमनुत्तरम् ।

^३ जापानी संवादक कोश की प्राचीन टीकाओं में दिये विविध अर्थ उद्धृत करते हैं : 'पाश्चात्य' गान्धार के स्रग्गिस्तिवादी या सौत्रास्तिक या इन्धु देश के आचार्य हैं । यह पाश्चात्य कहलाते हैं क्योंकि कश्मीर मण्डल से पश्चिम के हैं । यह बहिर्देशक कहलाते हैं क्योंकि कश्मीर के बाहर के हैं ।—नीचे, पृ० २०६, एन० १ देखिये ।

^४ निरोधसमापत्तिमुत्पाद्य क्षयज्ञानमुत्पादयतीति वक्तव्यं तथागत इति [व्या १६२.१९] ।

^५ इन्धु देश के आचार्यों का वही मत है जो पाश्चात्यों का है । ६. १७६ देखिये ।

इस पक्ष में बोधिसत्व व्युत्थानाशय होता है (व्युत्थानाशयः स्यात् [व्या० १६३.१]^२) किन्तु बोधिसत्व व्युत्थानाशय नहीं होता ।

सत्य ही वह अव्युत्थानाशय है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि एक सास्रव-चित्त के सम्मुखीकरण के लिये वह अनास्रव मार्ग का व्युत्थान नहीं करता ।

इस विकल्प में वह कैसे अपने आशय का व्युत्थान नहीं करेगा ?

उसका यह प्रणिधान है (मध्यमागम, ५६, ६) कि “मैं इस उत्कुटुकासन^३ का परित्याग न करूँगा जब तक सर्व क्लेश के क्षय का मैं लाभ न करूँ ।”—किन्तु वह इस आशय का उल्लंघन [२०७] नहीं करता क्योंकि एक ही आसन में (६.२४ ए-बी) वह अपने उद्देश्य का सम्मुखीभाव करता है^४ ।

यद्यपि असंज्ञि-समापत्ति और निरोध-समापत्ति में बहुप्रकार के विशेष हैं तथापि इनमें यह साम्य है :

४४ सी. किन्तु यह दो समापत्ति काम और रूपाश्रय में होती हैं^२ ।

इसका प्रतिषेध करना कि असंज्ञि-समापत्ति का उत्पाद रूपधातुमें होता है मूलशास्त्र^३ का विरोध करना है । “एक रूपभव है जो पंचस्कन्धक^४ नहीं है अर्थात् (१) रूपावचर संज्ञि

^२ व्युत्थानाशय [व्या १६३.१] = व्युत्थानाभिप्राय “ऐसा अभिप्राय रखना जिसका व्युत्थान, त्याग हो सके ।” एक दूसरा अर्थ : आशय = कुशल = कुशलमूल । अतः “ऐसे कुशलमूलों का होना जिनका व्युत्थान, समुच्छेद हो सके ।” किन्तु बोधिसत्व के कुशलमूल ऐसे होते हैं कि यदि एक बार उनका समुखीभाव आरंभ होता है तो सम्यक्संबोधि की प्राप्ति के पूर्व उनका व्युत्थान नहीं होता ।

‘व्युत्थान’ का अर्थ ‘समापत्ति से उठना’ भी है (संयुक्त, ३.२६५ इत्यादि)

^३ विभाषा, १६, १६ : “सब आसन शुभ हैं । बोधिसत्व उत्कुटुकासन का क्यों ग्रहण करते हैं ?”

^४ शुआन् चाङ्ग में इतना अधिक है : “प्रथमवाद सुष्ठु है क्योंकि यह हमारा सिद्धांत है ।”

^२ कामरूपाश्रये तूभे [व्या १६३.१४]

विभाषा, १५२, २—तीन मत : केवल कामधातु में, तीन अवयव ध्यानों में भी, चतुर्थ ध्यान में भी ।

विभाषा के अनुसार निरोध-समापत्ति सात अहोरात्र से अधिक नहीं रह सकती ।

^३ ज्ञानप्रस्थान, १९, १७ में चतुर्विध प्रश्न है : क्या ऐसा रूपभव है जो पंचस्कन्धक नहीं है ? क्या ऐसा भव है जिसमें पंचस्कन्ध हों और वह रूपधातु के न हों ? क्या ऐसा रूपभव है जो पंचस्कन्धक है ? क्या ऐसा भव है जो रूपभव नहीं है और जो पंचस्कन्धक नहीं है ?

^४ ज्ञानप्रस्थान और कोट में ‘स्कन्ध’ शब्द का प्रयोग नहीं है किन्तु एक पर्यायवाची शब्द का व्यवहार है । व्याख्या की हस्तलिखित पोथियों में इस पर्याय के व्यवहार और व्यवचार यह दोनों रूप पाये जाते हैं ।—शुआन्-चाङ्ग का चीनी अनुवाद ‘हंग’ है जिसके लिये संस्कृत शब्द संस्कार, विहरण आदि हैं । परमार्थ का अनुवाद ‘पान’ है जो संस्कृत में नीति, नय है । पालि के अनुसार ‘व्यवहार’ पाठ निश्चित मालूम पड़ता है ।

ए. पालि—वोकार = खन्ध (चाइल्डर्स); विभंग, १३७ : सञ्ज्ञाभवो असञ्ज्ञाभवो नेव-सञ्ज्ञानासञ्ज्ञाभवो एकावोकारभवो चतुवोकारभवो पंचवोकारभवो; यमक, कथावत्थु, अनुवाद, पृ० ३८ के अनुसार : कथावत्थु, ३.११ : क्या असंज्ञित्व के भव में एक

[२०८] देवों का भव जो असंज्ञि-समापत्ति या निरोध-समापत्ति में समापन्न होते हैं,^१ (२) रूपावचर असंज्ञि देवों का भव जिन्होंने आसंज्ञिक का प्रतिलाभ किया है ।^२

इस वचन से यह सिद्ध होता है कि कामावचर और रूपावचर सत्त्व इन दो समापत्तियों की भावना करते हैं ।

दो समापत्तियों में यह विशेष सदा होता है ।

४४ डी. निरोध-समापत्ति प्रथम मनुष्यों में^३ ।

जिस आश्रय ने असंज्ञि-समापत्ति का कभी उत्पाद नहीं किया है वह इस समापत्ति को काम-धातु या रूपधातु में उत्पन्न कर सकता है । किन्तु निरोध-समापत्ति के प्रथम उत्पाद के लिये इस आश्रय को अवश्य मनुष्य होना चाहिये । एक मनुष्य, एक आर्य जिसने इस समापत्ति का उत्पाद किया है प्राप्त-त्याग से वहाँ से परिहीण हो सकता है । वह रूपधातु में पश्चात् उत्पन्न हो सकता है और वहाँ पुनः इस समापत्ति का उत्पाद कर सकता है ।

किन्तु प्रश्न है कि क्या निर्वाणसदृश निरोध-समापत्ति से परिहाणि होती है ।

वैभाषिक कहते हैं—हाँ, परिहाणि का निषेध करना उदायिसूत्र^३ का विरोध करना है “आयुष्मन् ! एक भिक्षु शील-सम्पन्न, समाधि-सम्पन्न, और प्रज्ञा-सम्पन्न होता है । वह संज्ञा-

बोकार होता है या पांच बोकार । (बुद्धघोस का निरूपण : विविधेन विसुं विसुं करीयति) । बी. व्याख्या—काश्यप तथागत की स्कन्धों के लिये संज्ञा व्यवहार है—व्यवहार (विशेष-णावकार) का अर्थ पाणिनि, ५.२.१२७ के अनुसार सव्यवहार है; अतः—‘जो अपनी अनित्यता से, अन्यथाभाव से, विसंवादिनी है ।’ यह लक्षण इस श्लोक के अनुसार स्कन्धों में घटित होता है : “रूप फेनपिंडोपम है . . .” [व्या १६३.२७—३१] व्यवहार के स्थान में वहाँ व्यवहार पाठ है (संयुक्त, ३.१४२) ।

सी. विभाषा, १९२, ४—पूर्व तथागत सम्यक्सम्बुद्ध स्कन्धों को व्यवहार की संज्ञा देते हैं किन्तु तथागत सम्यक्संबुद्ध शाक्यमुनि व्यवहारों को स्कन्ध की संज्ञा देते हैं । पूर्व तथागत ५ व्यवहारों का वर्णन करते हैं; शाक्यमुनि ५ उपादानस्कन्धों का वर्णन करते हैं । यहाँ अभिधर्म में ‘संपंचव्यवहार’ भव का उल्लेख यह दिखाने के लिये है कि ५ स्कन्ध जिनका वर्णन शाक्यमुनि करते हैं पूर्वबुद्धों के ५ व्यवहार हैं ।—पूर्वबुद्ध व्यवहार आख्या काव्यों प्रयोग करते हैं जब कि प्रत्युत्पन्न बुद्ध स्कन्ध आख्या का प्रयोग करते हैं ? क्योंकि बुद्ध जानता है कि विनेयजन को क्या उपयुक्त है . . . । व्यवहार शब्द क्यों है ? प्रवृत्तिवशा (संचार ?) : पूर्वोत्पन्न स्कन्ध पश्चादुत्पन्न स्कन्धों के कारण वृद्धि को प्राप्त होते हैं अथवा पश्चदुत्पन्न स्कन्ध पूर्वस्कन्धों के कारण वृद्धि को प्राप्त होते हैं . . .

^१ यह सत्त्व जो स्वभाव से संज्ञी हैं विसभागचित्त में स्थित होते हैं जब वह इन दो समापत्तियों में से किसी एक में समापन्न हो असंज्ञि होते हैं । उदायिसूत्र, ८. १४०, सिद्धि, ४०७ ।

^२ निरोधः प्रथमं नृषु ॥

^३ इस सूत्र का उपदेश शारिपुत्र ने किया है । इस सूत्र का नाम उदायिसूत्र है क्योंकि शारिपुत्र का विबंधक उदायि है । संस्कृत रूपान्तर पालि पाठ के अत्यंत समीप है ।—मध्यमागम ५, ४ और अंगुत्तर, ३.१९२ ।

आवस्थां निदानम् । तत्रायुष्मान् शारिपुत्रो भिक्षूनामन्वयते स्म । इहायुष्मन्तो भिक्षुः

[२०९] वेदितनिरोध-समापत्ति में अभीक्ष्ण समापन्न होता है और उससे व्युत्थान करता है। इसका स्थान है। यदि दृष्टधर्म में वह पूर्वमेव आज्ञा^१ तक नहीं पहुँचता और मरणकाल में भी नहीं तो काय के भेद के अनन्तर कवडीकारभक्ष देवों का अतिक्रमण कर वह किसी दिव्य मनोमय काय में उपपन्न होता है। वहाँ उपपन्न हो वह संज्ञावेदितनिरोध-समापत्ति में अभीक्ष्ण समापन्न होता है और उससे व्युत्थान करता है। इसका स्थान है।”

यह सूत्र वस्तुतः प्रदर्शित करता है कि निरोध-समापत्ति से परिहाणि होती है।

एक ओर जिस मनोमय काय का वर्णन शारिपुत्र करते हैं उसे बुद्ध रूपावचर^२ बताते हैं। दूसरी ओर निरोध-समापत्ति भावाग्निकी है जो आरूप्यधातु का सर्वोच्च स्थान है। जो भिक्षु इसका लाभो (तल्लाभिन्) होता है उसकी उपपत्ति रूपधातु में नहीं होती यदि उसकी वहाँ से परिहाणि नहीं होती, यदि वह उसका त्याग नहीं करता^३।

“ [२१०] एक दूसरे निकाय^१ के अनुसार निरोध-समापत्ति चतुर्यध्यानभूमिक भी है और इसकी परिहाणि नहीं होती।

शीलसम्पन्नश्च भवति समाधिसम्पन्नश्च प्रज्ञासम्पन्नश्च । सोऽभीक्ष्णं संज्ञावेदितनिरोधं समापद्यते च व्युत्थते च । अस्ति चैतत् स्थानम् इति यथाभूतं प्रजानाति । स नेहैव दृष्ट एव धर्मे प्रतिपत्त्येव आज्ञामारागयति नापि मरणसमये भेदाच्च कायस्यातिक्रम्य देवान् कवडीकारभक्षान् अन्यतमस्मिन् दिव्ये मनोमये काय उपपद्यते । स तत्रोपपन्नो.... [व्या १६४. १२]

व्याख्या : प्रतिपत्त्येव = पूर्वमेव [व्या० १५६. २८ में प्रतिपद्येव पाठ है।]

इस सूत्र का विचार ८. ३ सी. में किया गया है (आरूप्यधातु में रूप-सद्भाव का वाद) — दोष, १. १९५ से तुलना कीजिये।

^१ आज्ञामारागयति, [व्या १६४. १६] यथा महावस्तु, ३. ५३. ९ में है।—परमार्थ : “वह आज्ञाताबोन्ध्रिय का लाभ नहीं करता।” शुआन्-चाङ्ग : “वह अर्हत्व के लाभ के लिये यथोचित प्रयोग नहीं करता.....।”

^२ उसे मनोमय कहते हैं क्योंकि शुक-शोणित के बिना उसका प्रादुर्भाव होता है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वह संज्ञामय काय है (दोष, १. १९५) और आरूप्यावचर है जैसा उदायि का मत था।

महावस्तु के बोधिसत्त्व के ‘मनोमय काय’ पर ‘ओपिनियन्स ऑन हिस्ट्री आफ़ दिडान्मा’ पृ० २५८ देखिये।

^३ जापानी संपादक की टिप्पणी : १ मनोमय काय के देव जिनका सूत्र में उल्लेख है (ए) सर्वास्तिवादिन् के लिये (यही मत दोष, १. १९५ में है) रूपधातु के हैं; (बी) सौत्रान्तिक के लिये रूपधातु और आरूप्यधातु के हैं, (सी) उदायिन् के लिये असंज्ञिसत्त्व हैं।— २. सर्वास्तिवादिन् के अनुसार निरोधतनापत्ति से परिहाणि, सौत्रान्तिक और उदायिन् के अनुसार परिहाणि नहीं।

किन्तु व्याख्या के अनुसार सौत्रान्तिक समापत्ति-परिहाणि मानते हैं। वह सदा इसका प्रतिषेध करते हैं कि आर्य की आर्यमार्ग से परिहाणि होती है (यह सर्वास्तिवादिन् के विरुद्ध है)। अतः व्याख्या की कठिनाइयों का समाधान करना पड़ता है। [व्या १६६. २]

^१ फू-कुआंग के अनुसार महासांघिक आदि।

यह मत अयुक्त है। यह समापत्ति चतुर्थध्यानभूमिक नहीं है क्योंकि सूत्र की शिक्षा है कि योगी ९ अनुपूर्व समापत्ति का लाभ करता है^२।

अतः व्युत्क्रान्तक (८.१८ सी) नामक समापत्ति का जिसमें योगी समापत्ति की विविध अवस्थाओं का उल्लंघन करता है कैसे व्याख्यान करें ?

अनुपूर्व समापत्ति के उत्पाद का नियम प्राथमकल्पिक^३ के प्रति है। जिसने वशित्व का लाभ किया है वह इच्छानुसार समापत्तियों का उल्लंघन करता है।

अतः दो समापत्तियों में विशेष है।

१. भूमितः। प्रथम चतुर्थध्यानभूमिक है, द्वितीय भावाग्निकी है (नैवसंज्ञानासंज्ञायतन);
२. प्रयोगतः। प्रथम मिथ्यारूप से आसंज्ञिक को मोक्ष समझ कर निःसरण संज्ञा से प्रवृत्त होता है, द्वितीय शान्तविहार की संज्ञा से प्रवृत्त होता है;

३. सन्तानतः। प्रथम का उत्पाद पृथग्जन में होता है, द्वितीय का आर्य में;

४. विपाकस्वभावतः। प्रथम असंज्ञि-सत्त्वों में उपपत्ति का उत्पादन करता है, द्वितीय भवाश्रयपत्ति का उत्पाद करता है (कथावत्थु, १५.१०);

५. विपाकप्रकारतः। प्रथम का विपाक नियतवेदनीय है, उपपद्यवेदनीय है। द्वितीय का विपाक अनागामी के लिये नियतवेदनीय है, अर्हत् के लिये अनियतवेदनीय है। यदि विपाक होता है तो यह उपपद्यवेदनीय या अपरपर्यायवेदनीय होता है;

[२११] ६. प्रथमोत्पादनतः। प्रथम का उत्पाद दो धातुओं में से किसी में होता है, द्वितीय का केवल मनुष्यों में।

इन दो समापत्तियों का साधर्म्य इसमें है कि दोनों का स्वभाव सर्व चित्त-चैत का निरोध है (चित्तचैतानां निरोधः)। प्रथम को 'असंज्ञि-समापत्ति' और दूसरे को 'संज्ञावेदितनिरोध-समापत्ति' क्यों कहते हैं ?

क्योंकि प्रथम समापत्ति का प्रयोग केवल संज्ञा^४ के प्रतिकूल है और द्वितीय का प्रयोग केवल संज्ञा और वेदना के प्रतिकूल है। परचित्तज्ञानवचनवत्। यथा परचित्तज्ञान (७.५ बी.) दूसरे के चैतों को आलम्बन बनाता है, किन्तु इसका नाम संक्षिप्त है क्योंकि इसका प्रयोग केवल पर-चित्त को लक्ष्य करता है^५।

^२ दीर्घ, १७, ११; दीर्घ, ३.२६६; महाव्युत्पत्ति, ६८, ७ : नवानुपूर्वसमापत्तयः [व्या० १६६.९] : चार ध्यान, चार आरूप्य और निरोधसमापत्ति।

^३ प्राथमकल्पिकः = आदितः समापत्तिविधायकः [व्या १६६.१०]

^४ असंज्ञि-समापत्ति का प्रयोग इस प्रकार है : संज्ञा रोग है, संज्ञा शल्य है, संज्ञा गण्ड है; संज्ञानिरोध शान्त है, प्रणीत है।

^५ प्रयोग में यह प्रणिधान होता है : "मैं परचित्त को जानूँगा।"

दोनों समापत्तियों में चित्त बहुकाल के लिये निरुद्ध होता है^३ । समापत्ति-व्युत्थान के समय बहुकालनिरुद्ध चित्त से एक अन्य चित्त का कैसे उत्पाद होता है^४ ?

वैभाषिक मत से कोई कठिनाई नहीं है : अतीत धर्मों का अस्तित्व है (५.२५) । अतः समापत्ति से पूर्व का चित्त, समापत्ति-चित्त, समापत्ति से पश्चात् के चित्त का, व्युत्थान-चित्त का समनन्तरप्रत्यय (२.६२) होता है (विभाषा, १५२, १०) ।

[२१२] सौत्रान्तिकों की यह युक्ति है । जब एक सत्त्व आरूप्यधातु में उपपन्न होता है तब रूप एक दीर्घकाल के लिये (३.८१ बी) समुच्छिन्न होता है : यदि पश्चात् यह सत्त्व पुनः कामधातु या रूपधातु में उपपन्न होता है तो इसका नवीन रूप बहुकाल-निरुद्ध रूप-सन्तति से संजात नहीं होता किन्तु चित्त से ही होता है । यथा व्युत्थानचित्त का हेतु समापत्ति से पूर्व का चित्त नहीं होता: यह सेन्द्रियकाय से उत्पन्न होता है । इसीलिये पूर्वाचार्य कहते हैं कि “दो धर्म अन्योन्यबीजक हैं : यह दो धर्म चित्त और सेन्द्रियकाय हैं ।”

परिपृच्छाशास्त्र^१ में स्थविर वसुमित्र कहते हैं : जो निरोध-समापत्ति को अचित्तक मानते हैं उन्हीं के लिये यह दोष है कि किस प्रकार समापत्ति के अनन्तर चित्त की उत्पत्ति होती है । किन्तु मेरा मत है कि यह समापत्ति एक सूक्ष्म चित्त से सहगत होती है । मेरे लिये इसमें दोष नहीं है^२ ।

भदन्त घोषक इस मत को दूषित मानते हैं। वास्तव में यदि कोई विज्ञान इस समापत्ति में होता है तो विज्ञान, इन्द्रिय और विषय इस त्रिक के सन्निपात से वहाँ संस्पर्श होना चाहिये; संस्पर्श-वश वहाँ वेदना और संज्ञा (३.३० बी) होगी । यथा भगवत् का उपदेश है : “मन-इन्द्रिय और धर्मों के कारण मनोविज्ञान की उत्पत्ति होती है; त्रिकसन्निपात, संस्पर्श; वेदना, संज्ञा, चेतना

^३ सिद्धांत-भेद है । वैभाषिकादि के मत से यह २ समापत्ति और आसंज्ञिक अचित्तक हैं (अचित्तकान्येव... [व्या १६७.५]); स्थविर वसुमित्रादि के अनुसार वह अपरिस्फुट मनो-विज्ञानवश सचित्तक हैं; योगाचार के अनुसार आलयविज्ञानवश वह सचित्तक हैं । (व्याख्या)

^४ यह प्रश्न सौत्रान्तिकों का है । उनके अनुसार समनन्तरनिरुद्ध और बहुकालनिरुद्ध चित्त का समान रूप से अभाव है : सदा समनन्तरनिरुद्ध चित्त से चित्तान्तर उत्पन्न होता है : तुला-दण्डोन्नामावनामवत् [व्या० १६७.१३] (बोधिचर्यावतार, ४८३. ३ में शालिस्तम्भ से तुलना कीजिये) ।

^१ आचार्य शास्त्र के नाम का उल्लेख करते हैं क्योंकि वसुमित्र ने (इनके नाम के पूर्व कभी स्थविर और कभी भदन्त आता है) पंचवस्तुक आदि अन्य शास्त्रों की रचना की है [व्या १६७.२२] ।—धर्मत्रात की लिखी पंचवस्तुक की एक टीका है, नैज्जिज्यो १२८३; जापानी संपादक सूचित करते हैं कि यह विभाषा के वसुमित्र नहीं हैं किन्तु कोई सौत्रान्तिक है ।—(पू-कुआंग २६, १० देखिये) । सिद्धि, २११—सौत्रान्तिक निकायों पर ।

^२ विभाषा, २५२, ४ : “दार्ष्टान्तिक और विभज्यवादिन् का मत है कि निरोध-समापत्ति में एक सूक्ष्म चित्त का उच्छेद नहीं होता । वह कहते हैं कि “कोई ऐसे सत्त्व नहीं हैं जो अचित्तक और अरूपक दोनों हों; कोई ऐसा समाहित नहीं है जो अचित्तक हो । यदि समाहित अचित्तक होता तो जीवितेन्द्रिय का समुच्छेद होता । उसको कहते कि नहीं है : समाधिस्थ है किन्तु मत है ।”

का सहोत्पाद होता है^१ ।” अतः यदि यह स्वीकार किया जाय कि इस समापत्ति में विज्ञान [२१३] (चित्त) रहता है तो वेदना और संज्ञा का निरोध नहीं होगा । किन्तु इस समापत्ति को संज्ञा-वेदितनिरोध कहते हैं ।

वसुमित्र उत्तर देते हैं—सूत्र-वचन है कि “वेदनाप्रत्ययवश तृष्णा होती है” किन्तु यद्यपि अर्हत् वेदना का अनुभव करते हैं तथापि अर्हत् में तृष्णा नहीं उत्पन्न होती । उसी प्रकार यहाँ भी : सब संस्पर्श वेदनाप्रत्यय नहीं हैं ।

यह युक्ति कुछ सिद्ध नहीं करती । वास्तव में सूत्र में यह विशेष है कि “अविद्यासंहिता संस्पर्श से उत्पन्न वेदना के कारण तृष्णा की उत्पत्ति होती है” (३.२७)^१ किन्तु सूत्र कहता है कि “संस्पर्श-वश वेदना उत्पन्न होती है ।” वेदनोत्पत्ति में स्पर्श को विशेषित नहीं किया है । अतः वैभाषिक कहते हैं कि निरोधसमापत्ति में चित्त का निरोध होता है ।

वसुमित्र : यदि यह समापत्ति सर्वथा अचित्तिका है तो अचित्तिका का समापत्तित्व कैसे है ?

उसे समापत्ति कहते हैं क्योंकि वह महाभूतों का समतापादन^२ करती है, चित्तोत्पत्ति-प्रातिकूल्य का समवस्थान करती है अथवा क्योंकि योगी चित्त-बल से वहाँ समागमन करते हैं (समागच्छन्ति, समापद्यन्ते) । इस कारण ध्यानादि का भी समापत्तित्व होता है ।

क्या इन दो समापत्तियों का द्रव्यतः (स्वलक्षणतः) अवधारण करना चाहिये ?

सर्वास्तिवादिन् का उत्तर है—हाँ, क्योंकि यह चित्तोत्पत्ति में प्रतिबन्ध है (चित्तोत्पत्ति-प्रतिबन्धनात्) । [व्या० १६८.७]

[२१४] सौत्रान्तिक का उत्तर है कि नहीं । जिसे आप ‘समापत्ति’ कहते हैं यह वह नहीं है जो चित्तोत्पत्ति में प्रतिबन्ध है किन्तु यह ‘समापत्ति-चित्त’ है, वह चित्त जो समापत्ति-अवस्था के पूर्व का है : यह चित्त चित्तान्तर के विरुद्ध है ; इसके कारण कालान्तर के लिये अन्य चित्तों का

^१ संयुक्तागम, २.८; संयुक्त, २.७२ और कोश, ३.३० बी में उद्धृत ग्रन्थों से तुलना कीजिये ।

^१ संयुक्तागम, १२, १४; संयुक्त, ३.९६

^२ महाभूतसमतापादनम् [व्या १६८.१]—महाव्युत्पत्ति, ६८, ९ में यह वाक्य आ गया है । विभाषा, १५४.१ : जो निरोधसमापत्ति में समापन्न होता है उसे अग्नि दग्ध नहीं कर सकती, जल उसे विलस्र नहीं कर सकता, क्षुर उसे छिन्न नहीं कर सकता, कोई उसका घात नहीं कर सकता, (संजीव, खाण् कोण्डञ्ज के वस्तु से तुलना कीजिये : इनका उल्लेख विसुद्धि, १२. जे पी टी एस. १८९१, ११२ में है) । इस गुण से वह क्यों समन्वागत है ? वसुमित्र कहते हैं : क्योंकि इस समापत्ति को आघात नहीं पहुँच सकता अतः जो इस समापत्ति में समापन्न होता है वह आहत नहीं हो सकता ।—अन्यत्र : समापत्ति का अर्थ चित्त-समता का आपादन है । यहाँ जब चित्त है नहीं है तो समापत्ति की कैसे बात हो सकती है ?—समापत्ति दो प्रकार की है : एक जो चित्त समता का आपादन करती है ; दूसरी जो महाभूत-समता का आपादन करती है । यद्यपि यह दो समापत्ति चित्त-समता का समुच्छेद करती हैं क्योंकि यह चित्त का निरोध करती हैं तथापि यह महाभूत-समता का आपादान करती हैं । विभाषा. १५२, पृ० ७७५ भी ।

उत्पाद नहीं होता । समापत्ति-चित्त के कारण चित्तविरुद्ध आश्रय^१ या सन्तान का आपादन होता है । जिसे 'समापत्ति' कहते हैं कि वह कालान्तर के लिये चित्त की अप्रवृत्तिमात्र है; यह द्रव्यधर्म नहीं है किन्तु एक 'प्रज्ञप्तिधर्म' है ।

सर्वास्तिवादिन्—यदि समापत्ति द्रव्यधर्म नहीं है तो यह संस्कृत कैसे है ?

यह 'अप्रवृत्तिमात्र' समापत्ति-चित्त के पूर्व न था और उत्तर काल में व्युत्थित (व्युत्थान-चित्त) योगी के नहीं होता । अतः व्यवहारतः उसे 'संस्कृत' प्रज्ञप्त करते हैं (प्रज्ञप्यते) क्योंकि इसका आदि-अन्त है ।—अथवा जिसे हम 'समापत्ति' आख्या से प्रज्ञप्त करते हैं वह आश्रय का अवस्थाविशेष है जो समापत्ति-चित्त से जनित है ।

इसी प्रकार आसंज्ञिक (२.४१ बी-सी) को जानना चाहिये । आसंज्ञिक एक द्रव्यान्तर नहीं है जो चित्तोत्पत्ति में प्रतिबन्ध है; इस आख्या से हम असंज्ञि देवों की असंज्ञावस्था को, चित्त के अप्रवृत्तिमात्र को प्रज्ञप्त करते हैं जो चित्त-विशेष-जनित अवस्था है ।

वैभाषिक इस मत को स्वीकार नहीं करते । उनका मत है कि आसंज्ञिक और दो समापत्ति द्रव्यसत् है^२ ।

जीवितेन्द्रिय क्या है ?

४५ ए. जीवित आयु है^३ ।

[२१५] वास्तव में अभिधर्म^१ कहता है : "जीवितेन्द्रिय क्या है ?—त्रैधातुक आयु ।"

आयुर्जीवितमाधार उष्मविज्ञानयोहि यः ।

लक्षणानि पुनर्जातिर्जरा स्थितिरनित्यता ॥४५॥

आयु किस प्रकार का धर्म है ?

४५ ए-बी. उष्म और विज्ञान का आधार^२ ।

क्योंकि भगवत् कहते हैं कि "जब आयु, उष्म और विज्ञान काय का परित्याग करते हैं तो अपविद्ध काय शयन करता है जैसे अचेतन काष्ठ^३ ।"

^१ २. ५-६ में आश्रय की व्याख्या हुई है; पृ० १८३ भी देखिये ।

^२ शुआन् चाङ्ग का अनुवाद : "यह वाद सुष्ठु नहीं है क्योंकि यह हमारे सिद्धांत के विरुद्ध है ।"—हम इतना अधिक कहते हैं : "वैभाषिक ऐसा कहते हैं ।" ऊपर पृ० १९८, नोट २ देखिये ।

^३ आयुर्जीवितम्

बुद्धघोस अभिधर्म के इस वाद को पुब्बसेलिय और सम्मितियों का बताते हैं : जीवितेन्द्रिय एक चित्तविषययुक्त अरूपधम्म है । कथावत्थु, ८. १०, काम्पेण्डियम् पृ० १५६ देखिये; विभंग, पृ० १२३, धम्मसंगणि, १९, ६३५, अत्थसालिनी, ६४४ ए ।

^१ ज्ञानप्रस्थान, १४, १९ (इन्द्रियस्कन्धक, १), प्रकरण, १४ बी ६; पृ० १७९ ।

^२ आधार उष्मविज्ञानयोहि यः ।

^३ आयुरुष्माथ विज्ञानं यदा कायं जहत्यमी ।

अपविद्धस्तदा शेते यथा काष्ठमचेतनः ॥

संयुक्त, २१, १४, मध्यसू, ५८, ४, संयुक्त, ३. १४३ (विविध पाठ); मज्झिम, १. २९६ से तुलना कीजिये ।—नोचे ४. ७३ ए-बी में उद्धृत ।

आयुः और उष्मन्, ३, १०७; ८, १३७; विभाषा, पृ० ७७१, कालम् १

अतः एक पृथक् धर्म है जो उष्म और विज्ञान का आधार है, जो सन्तान की स्थिति का हेतु है और जिसे आयु कहते हैं^४ ।

(१) सौत्रान्तिक जीवितेन्द्रिय (जीवित, आयु) के द्रव्यतः अस्तित्व का प्रतिषेध करते हैं ।

१. सौत्रान्तिक—यदि आयु उष्म और विज्ञान का आधार है तो उसका कौन आधार है ?

वैभाषिक—इसका आधार उष्म और विज्ञान है ।

सौत्रान्तिक—यदि आयु, उष्म और विज्ञान यह तीन धर्म एक दूसरे के आधार हैं और इस अन्योन्य आधार से सन्तान की प्रवृत्ति होती है तो इनका अन्त कैसे होगा ? कौन [२१६] पहले निरुद्ध होगा जिसके निरोध से अन्य का भी निरोध हो ? क्योंकि यदि इनमें से एक का निरोध पहले नहीं होता तो यह तीन धर्म नित्य होंगे और इनकी अनिवृत्ति का प्रसंग होगा ।

वैभाषिक—आयु का आधार कर्म है; कर्म से आयु का आक्षेप हुआ है और आयु की स्थिति उतने काल के लिये होती है जितने काल के लिये कर्म का आक्षेप होता है ।

सौत्रान्तिक—यदि ऐसा है तो क्यों नहीं स्वीकार करते कि उष्म और विज्ञान का आधार कर्म है और आयु का कोई प्रयोजन नहीं है ।

वैभाषिक—जिसका कर्म आधार है वह विपाक-स्वभाव है । यदि विज्ञान का आधार कर्म होता तो गर्भावस्था से लेकर मरणपर्यन्त सर्व विज्ञान विपाक होता जो अयथार्थ है । अतः आयु जिसका आधार कर्म है उष्म और विज्ञान का अवश्य आधार है ।

सौत्रान्तिक—अतः कहिये कि कर्म उष्म का आधार है और उष्म विज्ञान का आधार है । आयु निष्प्रयोजन है ।

वैभाषिक—आयु आवश्यक है क्योंकि आरूप्यधातु में उष्म का अभाव है । यदि आयु न हो तो आरूप्यधातु में विज्ञान का क्या आधार हो ?

सौत्रान्तिक—आरूप्यधातु में विज्ञान का आधार कर्म है ।

वैभाषिक—आपको क्या मत-परिवर्तन का अधिकार है ? कभी आप मानते हैं कि विज्ञान का आधार उष्म है, कभी कर्म को इसका आधार मानते हैं ।^१ —पुनः आपने इसे स्वीकार कर लिया है : इस दोष के परिहार की आवश्यकता है कि गर्भावस्था से लेकर मरणपर्यन्त सर्व विज्ञान विपाक है । अतः आयु का अस्तित्व है और यह उष्म और विज्ञान का आधार है ।

^४ विभाषा, १५१, ८ : विभज्यवादिन् इस सूत्र को यह सिद्ध करने के लिये उद्धृत करते हैं कि यह तीन धर्म, आयु, उष्म और विज्ञान, सदा युगपत् होते हैं : इनका अविनिर्भाग है । किन्तु वसु-मित्र का कहना है कि सूत्र आश्रय-सन्तान को लक्ष करता है . . . आयुसंस्कारस्कन्ध धर्मधातु, धर्मयतन में संगृहीत है; उष्म रूपस्कन्ध और स्पृष्टव्यायतन में; विज्ञान विज्ञानस्कन्ध, सप्तधातु और मन-आयतन में : अतः सूत्र का अक्षरार्थ नहीं लेना चाहिये । पुनः यदि यह तीन धर्म सदा युगपत् होते हैं तो आरूप्यधातु में उष्म होगा; असत्वाख्य में आयु और विज्ञान होंगे और असंज्ञिसमापत्ति में विज्ञान होगा ।

^१ शुआन्-चाङ् : “हमने जो कहा है उसके अतिरिक्त—आपने क्या कहा है ?—इस दोष के परिहार के लिये . . .” ।

२. सौत्रान्तिक—मैं आयु के अस्तित्व का प्रतिषेध नहीं करता । मैं केवल इतना कहता हूँ कि आयु द्रव्य नहीं है ।

वैभाषिक—अतः आयु नाम से प्रज्ञप्त धर्म क्या है ?

[२१७] सौत्रान्तिक—यह एक आवेध, सामर्थ्यविशेष है जिसे पूर्वजन्म का कर्म प्रति-सन्धि-क्षण में सत्व में आहित करता है । इस सामर्थ्यवश एक नियत काल के लिये निकाय-सभाग (२.४१) के स्कन्ध-प्रबन्ध का अवस्थान होता है । यथा बीज अंकुर में एक सामर्थ्य-विशेष आहित करता है जिससे पाककाल-पर्यन्त सस्य-सन्तान की स्थिति होती है । यथा क्षिप्त शर में एक सामर्थ्य-विशेष आहित होता है जिसके कारण एक काल तक उसके सन्तान की अनुवृत्ति, उसकी स्थिति होती है^१ ।

वैशेषिक मत है कि शर में वेगाख्य-संस्कार नामक गुणविशेष उत्पन्न होता है । इस गण के बल से पतन-पर्यन्त शर का बिना प्रतिरोध के गमन होता है ।^२

संस्कार का एकत्व है; दूसरी ओर शर के लिये प्रतिबन्धक का अभाव है : अतः शर की देशान्तर-प्राप्ति में शीघ्र-शीघ्रतर-शीघ्रतम ऐसा काल-भेद नहीं है^३; पुनः शर का पतन नहीं होता । क्या आप कहेंगे कि वायु संस्कार में प्रतिबन्धक है ? जो वायु प्रतिबन्धक है वह अविशेष है, यथा समीप में है वैसे ही दूर में है । या तो शर के अर्वाक् पतन का प्रसंग होगा अथवा शर का कभी पतन न होगा ।

वैभाषिकों का मत है कि आयु द्रव्यसत् है^४ ।

(२) मरण कैसे होता है ?

क्या केवल आयुःक्षय से मरण होता है ?

प्रज्ञप्तिशास्त्र^५ कहता है कि “ऐसा होता है कि एक सत्व आयुःक्षय से, बिना पुण्यक्षय के, [२१८] मृत होता है । चार कोटि हैं १. आयुर्विपाक कर्म के क्षय से मरण; २. भोगविपाक^६ कर्म के क्षय से मरण; ३. उभयक्षय से (उभयक्षयात्) मरण; ४. विषम के अपरिहार से मरण, यथा अत्यशन ।”

^१ सस्यानां पाककालावेधवत् क्षिप्तेषु स्थितिकालावेधवच्च । [व्या १६५.५,७]

^२ वैशेषिकदर्शन, ५, १, १६; एच० उड्ड, वैशेषिक फिलासफी, पृ० १६३—शर का दृष्टांत वैशेषिक के लिये महत्व नहीं रखता क्योंकि वह वेग को द्रव्य मानता है । अतः आचार्य वैशेषिक-वाद का प्रतिषेध करते हैं ।

^३ शीघ्रतरतमप्राप्तिकालभेदानुपपत्तिः [व्या १६९.२०]

^४ शुआन्-चाङ : “आयु एक द्रव्य है जो उष्म और विज्ञान का आधार है : यह वाद सुष्ठु है ।” जापानी संपादक की टिप्पणी : आचार्य का मत सर्वास्तिवादियों का है—किन्तु यह मानना पड़ेगा कि शुआन्-चाङ इन शब्दों को छोड़ देते हैं : “वैभाषिक कहते हैं” . . . , क्योंकि पंच-स्कन्ध में वसुबन्धु सौत्रान्तिकवाद को स्वीकार करते हैं ।

^५ कर्मप्रज्ञप्तिशास्त्र, अध्याय ११ एम डी ओ ७२, फ़ोलियो २४० बी०

^६ कर्म के विविध फल पर ४. ८५ और आगे देखिए ।—‘भोग’ पर योगसूत्र, २.१३

आयु : संस्कार के उत्सर्ग (२.१०) से भी मरण है २ ।

जब आयु क्षीण होती है तब भोगविपाक कर्म के क्षय का मरण में सामर्थ्य नहीं होता और अन्योन्य । अतः तृतीय कोटि को इस प्रकार समझना चाहिये : “उभयक्षय के होने पर मरण” ।

(३) अकालमरण (३.८५ सी)

ज्ञानप्रस्थान (१५, १२) कहता है : “क्या आयु के विषय में यह कहना चाहिये कि यह ‘सन्तानवर्ती’ है अथवा यह कि ‘सकृत् उत्पन्न होकर यह अवस्थान करती है’ (सकृदुत्पन्नं तिष्ठति) ?—कामधातु के जो सत्व (असंज्ञि-समापत्ति, निरोध-समापत्ति) दो समापत्तियों में से किसी एक में भी समापन्न नहीं हैं उनकी आयु प्रथम प्रकार की है । कामधातु के जो सत्व इन दो समापत्तियों में समापन्न हैं उनकी और रूपधातु तथा आरूप्यधातु के सत्वों की आयु द्वितीय प्रकार की है ।”

इस वचन का क्या अर्थ है ?

यदि आश्रय के उपघात से आयु का उपघात होता है तो यह आयु आश्रयसन्ततिप्रतिबद्ध है । यदि आश्रय का उपघात न होने से आयु की स्थिति उस काल तक होती है जिस काल के लिये उसका उत्पाद हुआ है तो कहते हैं कि सकृत् उत्पन्न हो आयु की स्थिति होती है ३ ।

काश्मीर मत यह है कि प्रथम प्रकार की आयु सान्तराय है, द्वितीय प्रकार की निरन्तराय है ।

अतः अकालमरण होता है ४

२ परमार्थ में नहीं है । । ऊपर पृष्ठ १२२ देखिये ।—विभाषा, २०, १५ ।

३ बहिर्देशकों का यह मत है—काश्मीर मत भी यही है, शब्दमात्र भिन्न है । अथवा इनका यह मत है कि प्रथम प्रकार की आयु ‘स्वसन्तत्युपनिबद्ध’ है किन्तु निरुद्ध हो सकती है । [ग्या १७०.९] विभाषा, १५१, पृ० ७७१ ।

४ कथावत्थु, १७.२ के अनुसार राजगिरिक और सिद्धिस्थिक अर्हत् की अकाल-मृत्यु का प्रतिषेध करते हैं (कोश, २.१०)—राकहिल (लाइफ आफ बुद्ध, पृष्ठ १८९) और वेंजी-लीफ, पृष्ठ २४४ के अनुसार प्रज्ञप्तिवादी अकाल-मृत्यु का प्रतिषेध करते हैं—बोधिचर्या-वतार (२.५५) एक काल-मरण और शत अकाल-मृत्यु मानता है । इनमें से प्रत्येक मृत्यु वात-पित्त-श्लेष्मकृत और तत्सन्निपातकृत होती है; इस प्रकार ४०४ मृत्यु होती हैं । (१) समुच्छेदमरण, अर्हत् की मृत्यु, (२) खणिकमरण, अनित्यताभक्षित धर्मों का निरन्तर अभाव और (३) सम्मुत्तिमरण, वृक्षादि के कारण मृत्यु इन तीन के अतिरिक्त अभिधम्म में है (१) कालमरण (ए) पुण्यक्षय से (पुञ्जा), (बी) आयुक्षय से, (सी) उभय-क्षय से; (२) अकालमरण उपच्छेदक कर्मवश (उपच्छेदककम्मणा), यथा दूसीमार, कलभू आदि, यथा पूर्वकृत कर्मविपाकवश] वध (विसुद्धिमग, ८. वारेन, पृ० २५२; अंगुत्तर की अट्ठकथा, पी. टी. एस. पृ० १११; नेत्तिप्पकरण, पृष्ठ २९; मिलिन्द, पृ० ३०१)—अभिधम्मसंगह, काभ्येण्डियस पृ० १४९ ।

जैनमत, उमास्वाति, तत्त्वार्थाधिगमसूत्र, २.५२ : द्विविधान्यायुंसि . . .

[२१९] सूत्र में भी कहा है कि चार आत्मभाव-प्रतिलम्भ^१ हैं : वह आत्मभाव जिसका मारण अपने से होता है, पर से नहीं, इत्यादि^२। चार कोटि हैं : १. आत्म-संचेतना : कामधातु के कुछ सत्व यथा क्रीडा-प्रदूषिकदेव और मनः-प्रदूषिकदेव^३ अपने हर्षातिरेक या क्रोधातिरेक से स्वयं आत्मभाव का मारण करते हैं। बुद्धों को भी गिनाना चाहिये क्योंकि उनकी स्वयं मृत्यु होती है, वह स्वयं निर्वाण में प्रवेश करते हैं। २. पर-संचेतना : जरायुज और अण्डज। ३. आत्म-पर-संचेतना : प्रायेण कामधातु के सत्व। नारक, अन्तराभविक (३.१२) आदि का परिवर्जन करना चाहिये। ४. न आत्म-संचेतना और न पर-संचेतना : अन्तराभविक सत्व, रूपधातु और आरूप्यधातु के सब सत्व, कामधातु के सत्वों का एक भाग : नारक (३.८२), उत्तरकुरु के निवासी (३.७८ सी), दर्शनमार्गस्थ (६.२८), [२२०] मैत्रीभावनास्थ (८.२९), असंज्ञि-निरोध-समापत्तियों में समापन्न (२.४२, कथा-वत्थु, १५.९), राजर्षि अर्थात् जिस चक्रवर्ती राजा ने प्रव्रज्या ली है, जिनदूत^४, जिनोद्दिष्ट^५ :

^१ अक्षरार्थ : आत्मभावप्रतिलम्भ—मज्झिम, ३.५३ में दो प्रकार वर्णित हैं : सब्बापज्झ और अब्बापज्झ।

^२ दीघ, ३.२३१, अंगुत्तर, २.१५९ : अत्थावुसो अत्तभावपटिलाभो यस्मिं अत्तभावपटिलाभे अत्तसंचेतना येव कमति नो परसंचेतना कोश, ६.५६ देखिये—व्याख्या : आत्म-संचेतना = आत्मना मारणम्; परसंचेतना = परेणमारणम् [व्या० १७०.१५]। ६ २५३, २५५, २६२ देखिये।

^३ दीघ, १.१९, ३.३१—विभाषा, १९९, १५। इसमें ऐकमत्य नहीं है कि यहाँ चातुर्महाराज और त्रयस्त्रिंश अथवा कामधातु के अन्य प्रकार के देव इष्ट हैं।

^४ जिनदूत—यथा भगवत् ने आन्ध्रपाली के पास एक शूक भेजा था। लिच्छवि योग्या कर रहे थे। उन्होंने उसे देखा और शरजाल से उसे ढक दिया। किन्तु जिनदूत जब तक दूतकृत्य संपादित नहीं करता तब तक उसका मारण नहीं हो सकता। [व्या १७०.२०]

^५ जिनोद्दिष्ट = इत्यन्तं कालमनेन जीवितव्यमिति य आदिष्टो भगवता। [व्या० १७०.२४ में जिनोद्दिष्ट के स्थान में जिनादिष्ट पाठ है।]

कदाचित् यह अर्थ करना चाहिये : “जिनको बुद्ध यह जानते हुए आदेश देते हैं कि यह इतने काल तक जीवित रहेंगे।” यश और जीवक पर एम० जे० प्रिजोलुस्की की जो टिप्पणियाँ हैं वह इस अर्थ को संभव बताती हैं।

“महावग्ग, १.७ में ९४ अत्यन्त दुरूह है। यश का आक्रोश है “यह क्या भय है ! किन्तु हम नहीं जानते कि किस भय का वह उल्लेख करता है। सर्वास्तिवाद विनय के समकक्ष परिच्छेद में यह स्पष्ट किया गया है : “तब यश नगर-द्वार को लांघ कर वाराणसी की नदी के समीप पहुँचा। उस समय भगवत् इस नदी के तट पर चंक्रमण कर रहे थे। जल को देख-कर यश पूर्ववत् चिल्लाया। इसको सुनकर बुद्ध ने कुमार से कहा : इस स्थान में भय का कोई कारण नहीं है। स्रोत को पार करो और आओ।” (टोक. १७, ३, २६ ए)।

“सुभद्र की गर्भवती स्त्री (दिव्यावदान, २६२-२७० से तुलना कीजिये) पुत्रप्रसव के पूर्व मर जाती है; उसका शरीर जलाया जाता है किन्तु शिशु नहीं जलता। बुद्ध जीवक से कहते हैं कि जाओ और शिशु को प्रज्वलित अग्नि से निकाल लाओ। जीवक आदेश को मानते हैं और बिना किसी उपघात के वापिस आते हैं (१७.१, ६ ए)।”

धर्मिल^३, उत्तर^४, गंगिल^५, वणिक्पुत्र यशकुमार, जीवकादि, चरमभक्ति बोधिसत्त्व, बोधिसत्त्व की माता जब बोधिसत्त्व गर्भ में हैं, चक्रवर्तिन्, चक्रवर्तिमाता जब चक्रवर्तिन् गर्भ में है।

आक्षेप—सूत्र शारिपुत्र के एक प्रश्न का और भगवत् के दिये हुए विसर्जन का उल्लेख करता है : “भदन्त ! वह कौन सत्त्व हैं जिनके आत्मभाव-प्रतिलम्ब का मारण न अपने से होता है, न पर से ?”—“शारिपुत्र ! नैवसंज्ञानासंज्ञायतन में उपपन्न सत्त्व” अर्थात् आरूप्यधातु के सर्वोच्च स्थान भवाग्र में उपपन्न ।—इस सूत्र के होते आप कैसे कह सकते हैं कि रूपधातु [२२१] और आरूप्यधातु के सब सत्त्वों के आत्मभाव-प्रतिलम्ब की आत्मसंचेतना और परसंचेतना दोनों नहीं होतीं ?

निकाय (विभाषा, १५१, १२) निरूपण करता है : रूपधातु के सत्त्व और आरूप्यधातु की प्रथम तीन भूमियों के सत्त्वों के आत्मभाव-प्रतिलम्ब की आत्मसंचेतना होती है अर्थात् स्वभूमिक मार्ग से उनका मारण होता है, परसंचेतना भी होती है अर्थात् उपरिभूमि (६.४८, ८.२२) सामन्तक के मार्ग से उनका मारण होता है। किन्तु आरूप्यधातु के उच्चतम स्थान में स्वभूमिक आर्यमार्ग और उपरि भूमिक आर्यमार्ग दोनों नहीं होते। अतः वहाँ के सत्त्वों के आत्मभाव-प्रतिलम्ब की न आत्मसंचेतना होती है और न परसंचेतना।

हमको उत्तर दुर्बल प्रतीत होता है। वास्तव में आरूप्यधातु की अन्तिम भूमि में परभूमिक (आर्किचन्यायतन ८.२०) आर्यमार्ग का अभ्यास हो सकता है। अतः एक दूसरा व्याख्यान स्वीकार करना चाहिये (विभाषा, वही)। शारिपुत्र के प्रश्न के उत्तर में बुद्ध नैवसंज्ञानासंज्ञायतन के सत्त्वों का उल्लेख कर रूपधातु और आरूप्यधातु के सब सत्त्वों को प्रज्ञप्त करना चाहते हैं क्योंकि पर्यन्त के ग्रहण से उसके आदि का संप्रत्यय होता है। हम सिद्ध कर सकते हैं कि यह अन्यत्र भी देखा जाता है। कभी प्रवचन आदि से उसके पर्यन्त का ग्रहण करता है यथा “प्रथम सुखोपपत्ति (३.७२), तद्यथा ब्रह्मकायिक देव।” पर्यन्तग्रहण से “ब्रह्मकायिक, ब्रह्मपुरोहित, महाब्रह्म” प्रथम सुखोपपत्ति हैं। कभी प्रवचन पर्यन्त से उसके आदि का ग्रहण करता है : “द्वितीय सुखोपपत्ति, तद्यथा आभास्वर देव।” आदिग्रहण से “परीक्षाभ, अप्रमाणाभ और आभास्वर” द्वितीय सुखोपपत्ति हैं।

किन्तु इस व्याख्यान का विरोध हो सकता है। इन दो पूर्वोक्त वचनों में ‘तद्यथा’ शब्द पाया जाता है जो दृष्टान्तवाचक है। अनुवाद ‘अर्थात्’ न होना चाहिये किन्तु ‘यथा’ होना चाहिये। दृष्टान्तों का यह धर्म है कि उस प्रकार के एक का निर्देश करने से सर्व शेष का संप्रत्यय होता है। और हम यह स्वीकार करते हैं कि सुखोपपत्तियों पर जो दो वचन हैं उनमें प्रवचन आदि या पर्यन्त का निर्देश कर सूची की सब आख्याओं को प्रज्ञप्त करता है। किन्तु भगवत् ने शारिपुत्र को जो उत्तर दिया उसमें ‘तद्यथा’ शब्द नहीं है।

^३ व्याख्या का यह पाठ है—तिब्बती : चू लेन

^४ तिब्बती : म्छोग कैन

^५ चीनी भाषान्तर में गंजिल है; गंगिक की असफल आत्महत्या, अववानशतक, ९८।

[२२२] हम कहते हैं कि 'तद्यथा' शब्द दृष्टान्तवाचक नहीं है। यह अनुपसंहार है क्योंकि हम इसका प्रयोग उन सूत्रों में भी देखते हैं जो पूर्ण सूची देते हैं : "नानात्वकाय, नानात्व-संज्ञी रूपी सत्व तद्यथा मनुष्य और एक देव..." (३.६)। अतः 'तद्यथा' शब्द उपदर्शनार्थ है। अतः भगवत् शारिपुत्र को दिये हुए अपने उत्तर में पर्यन्तग्रहण से उसके आदि का संप्रत्यय कराते हैं अर्थात् साकल्येन दो ऊर्ध्व धातुओं का उल्लेख करना चाहते हैं।^१

संस्कृत धर्म (संस्कृतस्य) के क्या लक्षण हैं ?

४५ सी-डी. लक्षण यह हैं—जाति, जरा, स्थिति, अनित्यता।^२

यह चार धर्म—जाति, जरा, स्थिति, अनित्यता—संस्कृत के लक्षण हैं। जिस धर्म में यह लक्षण पाये जाते हैं वह संस्कृत है, जिसमें यह नहीं पाये जाते वह असंस्कृत है।^३

जाति संस्कृतों का उत्पादन करती है (उत्पादयति); स्थिति उनकी स्थापना करती है (स्थापयति); जरा उनका ह्रास करती है; अनित्यता उनका विनाश करती है।

[२२३] संस्कृत के ३ 'संस्कृत लक्षणों' की शिक्षा क्या सूत्र में नहीं है? वास्तव में सूत्र में उक्त है : हे भिक्षुओ ! संस्कृत के यह तीन संस्कृत लक्षण हैं। यह तीन क्या हैं? संस्कृत का उत्पाद प्रज्ञात होता है, व्यय भी प्रज्ञात होता है और उसका स्थित्यन्यथात्व भी प्रज्ञात होता है।^४

वैभाषिक—सूत्र को चतुर्थ लक्षण भी कहना चाहिये था। जो लक्षण सूत्र में उक्त नहीं है वह 'स्थिति' है। सच तो यह है कि स्थित्यन्यथात्व समासान्त पद में 'स्थिति' शब्द का इसने प्रयोग

^१ भगवत् के विसर्जन में 'तद्यथा' शब्द का न होना यह नहीं सिद्ध करता कि इस विसर्जन का अक्षरार्थ लेना चाहिये।

^२ [लक्षणानि... जातिर्जरास्थितिरनित्यता] ॥

तिब्बती भाषान्तर : लक्षणान्येव।

परमार्थ : "पुनः संस्कृत के लक्षण हैं..."

शुआन-चाङ् : "लक्षण अर्थात् संस्कृत की जाति, स्थिति, जरा, अनित्यता।"

विभाषा, ३८, १२; अभिधर्महृदय (नैज्जियो, १२८८), २. १०

१. ७ ए-बी में संस्कृत का तात्कालिक लक्षण बताया गया है।

लक्षणानिपुनर्जातिः... मध्यमकवृत्ति, ५४६, मध्यमकावतार, १९३ : "अभिधर्म के अनुसार चार सहभू हैं।"—षड्दर्शनसंग्रह के अनुसार सांमितीयों का यह वाद है : चतुःक्षणिकं वस्तु, जातिर्जनयति, स्थितिः स्थापयति, जरा जरयति, विनाशो विनाशयति।

^३ विपर्ययादसंस्कृत इति यत्रैतानि न भवन्ति सोऽसंस्कृत इति। [व्या १७१. २३]।—किन्तु क्या यह नहीं कह सकते कि स्थिति असंस्कृत का एक लक्षण है? नहीं। लक्षण से द्रव्यान्तररूप इष्ट है। यह लक्षण विशेषित धर्म से अन्य है। यह इस धर्म की जाति, स्थिति, जरा और व्यय में हेतु है। असंस्कृत की स्थिति होती है किन्तु इसका स्थितिलक्षण नहीं होता, नीचे पृ. २२४, पंक्ति ५ देखिये।

^४ यह त्रिलक्षणसूत्र है (नीचे पृ० २२७ पंक्ति ११ देखिये)—संयुक्तागम, १२, २१; अंगुत्तर, १. १५२ : तीणिमानि भिक्खवे संखतस्स संखतलक्खणानि। कतमानि तीणि। उप्पादो पज्जायति वयो पज्जायति ठितस्स अज्जायत्तं पज्जायति।—संस्कृत पाठ इस प्रकार है : स्थित्यन्यथात्व (मध्यमकवृत्ति, पृ. १४५); कथावत्थु, अनुवाद, पृ० ५५ : ठितानं अज्जायत्त। अन्यथाभाव पर संयुक्त, २. २७४—अभिधम्म केवल तीन लक्षण मानता है; कुछ आचार्य स्थिति को भी छोड़ देते हैं (कथावत्थु, अनुवाद, टिप्पणी पृ० ३७४)।

विज्ञानवाद के चार लक्षण, बोधिसत्वभूमि, १, १७, § १५ (मध्यमकवृत्ति, पृ. ५४६)।

किया है : किन्तु स्थित्यन्यथात्व 'जरा' का पर्याय है। यथा सूत्र 'जाति' के पर्याय 'उत्पाद' का व्यवहार करता है, 'अनित्यता' के पर्याय 'व्यय' का व्यवहार करता है उसी प्रकार 'जरा' के पर्याय 'स्थित्यन्यथात्व' का प्रयोग करता है।

यदि सूत्र केवल तीन ही लक्षणों का निर्देश करता है तो इसका कारण यह है कि विनेयों^१ में उद्देग उत्पन्न करने के लिये यह उन्हीं धर्मों को संस्कृत का लक्षण निर्दिष्ट करता है जिनके कारण संस्कृत का त्रैयध्विक संचार होता है : जाति के बल से इसका अनागत से प्रत्युत्पन्न में संचार होता है (संचारयति); जरा (स्थित्यन्यथात्व) और अनित्यता (व्यय) पुनः प्रत्युत्पन्न से अतीत में संचार कराते हैं क्योंकि जब जरा दुर्बल करती है (दुर्बलीकृत्य) तो अनित्यता विघात करती है (विघातात्)। निकाय में एक उपमा दी है (विभाषा, ३९, ६) : मान लीजिये कि एक पुद्गल निर्जन अरण्य में है और उसके तीन शत्रु उसका विघात करना चाहते हैं। पहला इस पुद्गल का [२२४] अरण्य से निष्कासन करता है, दूसरा उसको दुर्बल करता है, तीसरा उसके जीवित को विनष्ट करता है। संस्कृत के प्रति तीन लक्षणों की यही वृत्ति है।—इसके विपरीत 'स्थिति' संस्कृत की स्थापना करती है और उसके अवस्थान में हेतु है। इसीलिये सूत्र लक्षणों में उसकी गणना नहीं करता। पुनः असंस्कृत का भी स्वलक्षण में स्थितिभाव होता है : स्थितिलक्षण असंस्कृत की इस स्थिति के सदृश है। असंस्कृत का भी संस्कृतत्व-प्रसंग न हो इसलिये सूत्र 'स्थिति' को संस्कृत का लक्षण नहीं निर्दिष्ट करता।

सौत्रान्तिकों की यह कल्पना है कि सूत्र में स्थिति का निर्देश है। स्थिति और जरा को यह एक साथ निर्दिष्ट करता है : स्थित्यन्यथात्व अर्थात् 'स्थिति और अन्यथात्व'। आप कहेंगे कि इन दो लक्षणों को विभागशः न कहकर एक लक्षण के रूप में कहने का क्या प्रयोजन है?—यह स्थिति संगत्सद है : 'स्थिति' में आसंग न हो इसलिये सूत्र उसको जरा के साथ (अभिसमस्य) निर्दिष्ट करता है यथा (अलक्ष्मी सहित) श्री को कालकर्णी सहित निर्दिष्ट करते हैं।^२

अतः संस्कृत-लक्षण चार ही हैं।

किसी धर्म के जाति, स्थिति आदि भी संस्कृत हैं। अतः इनका उत्पाद, स्थिति, अन्यथात्व, व्यय होता है। अतः पर्याय से इनके चार लक्षण, जाति-जाति आदि होते हैं जो मूलधर्म के अनुलक्षण हैं। यह अनुलक्षण भी संस्कृत हैं। अतः इनमें से एक एक के चार चार लक्षण होंगे। यह अपर्यवसान दोष है।

कोई अपर्यवसान दोष नहीं है।

^१ आभिप्रायिको हि सूत्रनिर्देशो न लाक्षणिकः । [व्या १७२.३]

^२ यही उपमा, एक दूसरे उपदेश के लिये, अथसालिनी, ६५५

^३ अभिमिव कालकर्णसहितम् [व्या १७२.२२]; बर्तक—इन्द्रोडकान, पृ. २५५ से तुलना कीजिये।

जातिजात्यादयस्तेषां तेष्वधर्मैकवृत्तयः ।

अन्यस्य जनिका जातिर्न हेतुप्रत्ययैर्विना ॥४६॥

४६ ए-बी. पर्याय से जाति-जाति, स्थिति-स्थिति, आदि इनके लक्षण होते हैं । मूललक्षण की वृत्ति आठ धर्मों में है, अनुलक्षण की एक धर्म में ।^१

[२२५] पूर्वोक्त चार मूल लक्षण ।

चार अनुलक्षण—जाति-जाति, स्थिति-स्थिति, जरा-जरा, अनित्यता-अनित्यता ।

सब संस्कृत मूललक्षणवश संस्कृत हैं । यह पर्याय से चार अनुलक्षणवश संस्कृत हैं ।

आप कहते हैं कि विशेषित धर्म के तुल्य मूललक्षणों में से प्रत्येक के चार लक्षण होने चाहिये और इसी प्रकार । यह इसलिये है क्योंकि आप नहीं मानते कि यह भिन्न लक्षणों की वृत्ति (= धर्मकारित्र = पुरुषकार ४.५८) है ।

जब एक धर्म की उत्पत्ति होती है जिसे आप मूलधर्म, चित्त, चैत कहते हैं तो आत्मनवम ९ धर्मों का सहोत्पाद होता है : मूलधर्म, चार मूललक्षण, चार अनुलक्षण । प्रथम मूललक्षण अर्थात् मूलजाति (जाति, मूलजाति) मूलधर्म, तीन मूललक्षण (स्थिति, जरा और अनित्यता) और चार अनुलक्षणों का उत्पाद करता है : कुल मिलाकर आठ धर्मों का । यह अपना उत्पाद नहीं करता : यह जाति-जाति नामक अनुलक्षण से उत्पन्न होता है ।—यथा एक मुर्गी अनेक अंडे देती है किन्तु एक अंडे से एक ही मुर्गी पैदा होती है (विभाषा, ३९,४), उसी प्रकार मूलजाति (जाति, मूलजाति) से आठ धर्म जनित होते हैं किन्तु जाति-जाति से केवल एक धर्म अर्थात् मूलजाति जनित होती है ।

इसी प्रकार अन्य मूललक्षण और अनुलक्षणों की यथायोग योजना होनी चाहिये । स्थिति-स्थिति मूलस्थिति की स्थापना करती है और यह मूलस्थिति मूलधर्म, तीन मूललक्षण और स्थिति-स्थितिसहित चार अनुलक्षणों की स्थापना करती है । इसी प्रकार मूल जरा और अनित्यता हैं जो आठ धर्मों को जीर्ण और विनष्ट करती हैं और जो अनुरूप अनुलक्षण से, जरा-जरा और अनित्यता-अनित्यता से, स्वयं जीर्ण और विनष्ट होती हैं ।

[२२६] अतः लक्षणों के स्वयं लक्षण होते हैं जिन्हें अनुलक्षण कहते हैं : इनकी संख्या ४ है, १६ नहीं और अनिष्टा दोष नहीं है ।

सौत्रान्तिक कहता है:

१. यह तो आकाश को विभक्त करना है ।^१ जाति, स्थिति आदि पृथक्-पृथक् द्रव्य नहीं

^१ जातिजात्यादयस्तेषां तेष्वधर्मैकवृत्तयः । [व्या १७२.३४ तथा १७३.६]

लक्षण और अनुलक्षणों के वाद का प्रतिषेध नागार्जुन ने मध्यमक, ७.१ में किया है । —साम्प्रतीयां के वाद के लिये मध्यमकवृत्ति, पृ. १४८ देखिये । उत्पाद, उत्पादोत्पाद, आदि यह सात लक्षण और सात अनुलक्षण मानते हैं ।

^२ तदेतद् आकाशं पटघटे [व्या १७३.२२ में पाटघटे पाठ है] : आकाश कुछ है नहीं; यह सप्रतिघरूप का सर्वथा अभाव है । यह विभक्त नहीं हो सकता (विपटघटे, विभिद्यते) ।

हैं (न द्रव्यतः संविद्यन्ते [व्या १७३. २५]) जो इनका विभाग हो। हमको द्रव्यों की—रूपादि धर्मों की—उपलब्धि प्रत्यक्ष, अनुमान या आगम से होती है : इन तीन प्रमाणों से लक्षणों का द्रव्यतः अस्तित्व नहीं सिद्ध होता।

किन्तु सर्वास्तिवादिन् उत्तर देता है कि सूत्रवचन है कि ‘संस्कृत का उत्पाद प्रज्ञात होता है (उत्पादोऽपि प्रज्ञायते.....)’^२

मूर्ख ! व्यंजन तुम्हारा प्रतिसरण है और तुम अर्थ के विषय में भूल करते हो किन्तु भगवत् ने कहा है कि अर्थ प्रतिसरण है, व्यंजन प्रतिसरण नहीं है।^३ इस सूत्र का अर्थ स्पष्ट है।

अविद्या से अन्ध बाल की संस्कार-प्रबन्ध में आत्मतः और आत्मीयतः अधिमुक्ति होती है और इसलिये इस प्रबन्ध में उनका अभिष्वंग होता है, उनकी रक्षि होती है। भगवत् इस मिथ्या कल्पना का और तज्जनित अभिष्वंग का अन्त करना चाहते हैं। वह यह प्रदर्शित करना चाहते हैं कि प्रवाह संस्कृत है अर्थात् प्रतीत्यसमुत्पन्न है और वह बताते हैं कि प्रतीत्यसमुत्पन्न के कौन तीन लक्षण हैं : ‘संस्कृत के तीन संस्कृत-लक्षण विज्ञान-विषय हैं।’ भगवत् प्रवाह का ही संस्कृतत्व द्योतित करना चाहते हैं क्योंकि यह स्पष्ट है कि प्रवाह-क्षण के वह तीन लक्षण नहीं बताते क्योंकि वह कहते हैं कि यह तीन लक्षण प्रज्ञात होते हैं। वास्तव में [२२७] क्षण का उत्पाद, जरा और व्यय अप्रज्ञायमान हैं। जो अप्रज्ञायमान है वह लक्षण होने की योग्यता नहीं रखता।

सूत्र संस्कृत शब्द का पुनः ग्रहण इसलिये करता है—‘संस्कृत के तीन संस्कृत लक्षण हैं’—जिसमें आप जानें कि यह तीन लक्षण संस्कृत के अस्तित्व के लक्षण नहीं हैं (संस्कृतास्तित्वे लक्षणानि) यथा बलाका समीप के जल के अस्तित्व का लक्षण है; यह संस्कृत के साधु-असाधुत्व के लक्षण नहीं हैं यथा कन्या के लक्षण बताते हैं कि यह शुभ या अशुभ हैं और यह द्रव्य के लक्षण नहीं हैं जो दिखाते हैं कि यह द्रव्य संस्कृत है (संस्कृतलक्षणम् = संस्कृतत्वे लक्षणम्)। [अतः हम सूत्र का अनुवाद इस प्रकार करते हैं : ‘संस्कृत के तीन प्रत्यक्ष लक्षण हैं जो दिखाते हैं कि यह संस्कृत है अर्थात् प्रतीत्यसमुत्पन्न है।’]

२. हमारे अनुसार उत्पाद या जाति का यह अर्थ है कि प्रवाह का आरंभ है (प्रवाहस्य आदिः); व्यय या अनित्यता प्रवाह की निवृत्ति, उपरति है; स्थिति आदि से निवृत्ति तक अनुवर्तमान प्रवाह है; स्थित्यन्यथात्व या जरा अनुवर्तमान प्रवाह का अन्यथात्व, पूर्वापरविशेष है। इस दृष्टि से अर्थात् उत्पाद, व्यय आदि को प्रवाहरूप से अवधारण कर, प्रवाहादि, प्रवाहनिवृत्ति, अनुवर्तमानप्रवाह, प्रवाहान्यथात्व अवधारण कर भगवत् ने नन्द से जो नित्य उपस्थितस्मृति थे

^२ पृ. २२३ टिप्पणी १ देखिये।

^३ चत्वारिमानि भिक्षवः प्रतिसरणानि। कतमानि चत्वारि। धर्मः प्रतिसरणं न पुद्गलः। अर्थः प्रतिसरणं न व्यंजनम्। नीतार्थसूत्रान्तं प्रतिसरणं न नेयार्थम्। ज्ञानं प्रतिसरणं न विज्ञानम्। [व्या १७४. ८]।

मध्यमकवृत्ति २६८, ५९८ में उद्धृत ग्रन्थ। संघभद्र का उत्तर, ४०६, कालम २, पृ० १६

कहा : “आयुष्मन् ! तुम्हारी जान में वेदना उत्पन्न होती है, अवस्थान करती है, क्षय-अस्त को प्राप्त होती है ।”^१

[२२८] अतः हम कहते हैं :^२

“जाति प्रवाह का आदि है, व्यय उसका उच्छेद है, स्थिति प्रवाह ही है, स्थित्यन्यथात्वं पूर्वापर विशेष है ।”

पुनः

“उत्पाद अभूत्वा भाव है, स्थिति प्रबन्ध है, अस्तित्वता प्रबन्ध का उच्छेद है, जरा उसकी पूर्वा-पर विशिष्टता है ।”

“क्या आपका कहना है कि क्षणिक धर्म का व्यय स्थिति के बिना [अनन्तर] होता है ? किन्तु [यदि धर्म क्षणिक है] तो इसका स्वयं व्यय होता है : आपकी क्षणिक धर्म की स्थिति-परि-कल्पना वृथा है ।”^३

[२२९] अतः जब सूत्र स्थिति का उल्लेख करता है तो उसका अभिप्राय प्रवाह से होता है ।

^१ संयुक्त, ११, १४—प्रवाहगता हि वेदनास्तस्य विदिता एवोत्पद्यन्ते । विदिता अवतिष्ठन्ते । विदिता अस्तं परिक्षयं पर्यादानं गच्छन्ति । न क्षणगताः क्षणस्य दुरवधारत्वात् [व्या १७५.६] ।

तिब्बती भाषान्तरः : कुलपुत्र नन्द (अंगुत्तर ४.१६६ से तुलना कीजिये)

संयुक्त, ५.१८० से तुलना कीजिये; मज्झिम, ३.२५ (जहाँ भगवत् शारिपुत्र के संबंध में वही कहते हैं जो वह यहाँ नन्द के लिये कहते हैं) :

धम्मो विदिता उपपज्जन्ति विदिता उपट्ठहन्ति विदिता अब्भत्थं गच्छन्ति ।

प्रथम परिच्छेद—संघभद्र, ४०७. २. १२; तृतीय—४०७.२, ९; ६३२, ३, १७ भी देखिये ।

^२ जातिरादिः प्रवाहस्य [उच्छेदो व्ययः] स्थितिस्तु सः ।

[स्थित्यन्यथात्वं] तस्यैव [पूर्वापरविशिष्टता] ॥

अभूत्वा भाव उत्पादः प्रबन्धः स्थितिरनित्यता ।

तदुच्छेदो [जरा तस्य पूर्वापरविशिष्टता] ॥ [व्या १७५.११ इत्यादि]

क्षणिकस्य हि धर्मस्य [स्थितिं बिना भवेद् व्ययः] ।

स च व्येति [स्वयं] तस्माद् वृथा तत्परिकल्पना ॥ [व्या १७५.१९]

मज्झिम, ३.२५ में यह वाक्य है—एवं किल ये धम्मा अहुत्वा सम्भोत्ति । यह सूत्रान्तिकवाद है—अभूत्वा भाव उत्पादः (पृ. २२९, पं० १८), मिलिन्द, पृ. ५१ में यही वाक्य इस प्रकार है—अहुत्वा संभोति; सर्वास्तिवादो और मिलिन्द, पृ. ५२ इसका विरोध करते हैं : नत्थि केचि संवारा ये अभज्जता जायन्ति—नागसेन विभज्जवादिन् है, पृ. ५० ।

^३ यदि किसी का यह मत है कि “यह स्थितिसद्भाव के कारण है कि उत्पन्न धर्म का एक क्षण अविनाश होता है, यदि स्थिति न हो तो यह एक क्षण भी न हो” तो ऐसा नहीं है क्योंकि हेतुप्रत्ययपूर्वक क्षण का अस्तित्व है । [व्या १७५.२९]

यदि किसी का यह मत है कि “हेतुप्रत्यय से उत्पन्नान धर्म का स्थिति उपग्रहण करती है (उपगृह्णाति)” तो हम पूछते हैं कि “यदि स्थिति उपग्रहण न करे तो क्या होगा ?”—

“धर्म का आत्मसत्ता न होगी (आत्मसत्ता धर्मस्य न भवेत्)” —“अतः कहिये कि स्थिति जनिका है, स्थापिका नहीं है ।”

यदि यह कहो कि “स्थिति सन्तान की अवस्थापना करती है (अवस्थापयति)” तो हेतु-प्रत्यय के लिये स्थिति की आख्या सुरक्षित रखना चाहिये ।

इस प्रकार अभिधर्म (प्रकरणपाद, १४ बी ७) का लक्षण युक्त पाया जाता है : “स्थिति क्या है ? उत्पन्न और अनिरुद्ध संस्कार” —क्षणधर्मता ‘उत्पन्न का अविनाश’ नहीं हो सकती ।

किन्तु ज्ञानप्रस्थान (२, १३) कहता है : “एक चित्त के संबन्ध में (एकस्मिन् चित्ते) उत्पाद क्या है ? यह जाति है ।—व्यय क्या है ? यह मरण है ।—स्थित्यन्यथात्व क्या है ? यह जरा है ।”

किन्तु शास्त्र के इस वाक्य की अभिसंधि चित्त-क्षण से नहीं है किन्तु निकायसभागचित्त से है । [एक निकायसभाग में (२-४१) अनेक चित्त होते हैं किन्तु इस अनेक चित्त को एक चित्त कह सकते हैं ।]

३. किन्तु यदि लक्षणों को द्रव्य न मानें तो कह सकते हैं कि प्रत्येक पृथग्भूत क्षण के चार लक्षण होते हैं ।

वास्तव में (१) प्रत्येक क्षण का अभूत्वा भाव है : उसका अभूत्वा भाव उसकी जाति है ; (२) भूत्वा अभाव होता है : यह उसका व्यय है ; (३) क्षण की स्थिति उत्तरोत्तरक्षणानु-बन्ध है : वास्तव में उत्तर क्षण का पूर्व क्षण से सादृश्य है ; अतः यह उसका प्रतिनिधिभूत है : पूर्व क्षण मानों अब भी है, अब भी अवस्थान करता है (अवतिष्ठत इयं) । अतः उत्तर क्षण पूर्व क्षण की स्थिति माना जा सकता है ; (४) इस स्थिति का विसदृशत्व उसका स्थित्यन्यथात्व है ।

क्या आप कहते हैं कि जब उत्तरोत्तर क्षण सदृश होते हैं तब विसदृशत्व नहीं होता ? — विसदृशत्व होता है जैसा कि एक वज्र के चिर-आशुतर पातकाल के भेद से होता है जो क्षिप्त या अक्षिप्त है, जो बलपूर्वक क्षिप्त है या दुर्बलता के साथ क्षिप्त है :^१

[२३०] यह भेद वज्र के महाभूतों के भिन्न परिणामविशेष के कारण है ।—जब धर्मों की उत्तरोत्तर उत्पत्ति निकायसभाग में होती है तब भेद स्वल्प होता है ; इसीलिये यद्यपि वह निर्विशेष नहीं है तथापि उनको सदृश मानते हैं ।

सर्वास्तिवादिन् दोष दिखाते हैं—लक्षणों की आपकी व्यवस्था अव्यापिनी है, सब संस्कृत धर्मों में नहीं घटती । वास्तव में आपका बताया हुआ स्थिति का लक्षण उत्तर क्षण की अपेक्षा करता है । शब्द या अर्चि के अन्तिम क्षण के लिये, अर्हत् के चित्त के अन्तिम क्षण के लिये, इस उत्तर क्षण का अभाव होता है । अतः शब्द, अर्चि, अर्हत् के अन्तिम क्षण की न स्थिति है, न अन्यथात्व ।

सब संस्कृत धर्मों की स्थिति है ऐसा हम नहीं कहते ! हम कहते हैं कि जिसकी स्थिति है उसका अवश्य अन्यथात्व होता है । भगवत् तीन लक्षणों का उपदेश करते हैं क्योंकि कुछ अवस्थाओं में (संभवं प्रति) तीन लक्षण होते हैं । किन्तु अन्त्य अर्चि-क्षण का उत्पाद और व्यय ही होता है ; इसकी स्थिति और स्थित्यन्यथात्व नहीं होते ।

^१ क्षिप्ताक्षिप्तबलदुर्बलक्षिप्तस्य वज्रादेश्चिराशुतरपातकालभेदात् ।
[व्या १८६. १२, २२] । ३, संघभट्ट, ४०८, ३, ७.

संक्षेप में संस्कृत धर्म का अभूत्वा भाव होता है, भूत्वा अभाव होता है, इन धर्मों का प्रवाह इनकी स्थिति है, प्रवाह का विसदृशत्व इनका स्थित्यन्यथात्व है। त्रिलक्षणसूत्र में भगवत् की यही शिक्षा है। उत्पादादि द्रव्य नहीं हैं।

४. वैभाषिक का आक्षेप—आपके अनुसार उत्पाद यही संस्कृत धर्म है क्योंकि इसका अभूत्वा भाव है। अतः लक्ष्य धर्म लक्षण भी होगा।

क्या दोष है? महापुरुष के लक्षण महापुरुष से अन्य नहीं हैं। शबलाश्व के लक्षण शृंग, ककुद, गलस्तन, खुर, पुच्छ शबलाश्व से अन्य नहीं हैं। महाभूत का अस्तित्व काठिन्यादि (१.१२ डी) स्वलक्षण से पृथक् नहीं है।—यथा वैभाषिक के मत में जो क्षणिकवादिन् है धूम का ऊर्ध्वगमन धूम से अन्य नहीं है।^१

[२३१] आइये; और सूक्ष्म परीक्षा करें। यद्यपि संस्कृत रूपादि के स्वभाव का ग्रहण हो भी तथापि तब तक उनका संस्कृतत्व लक्षित नहीं होता जब तक उनका प्रागभाव पश्चादभाव और सन्तति-विशेष ज्ञात नहीं होते। अतः संस्कृतत्व संस्कृतत्व से लक्षित नहीं होता किन्तु प्राग-भावादि से संस्कृतत्व लक्षित होता है।^१ और रूपादि संस्कृतों से भिन्न जात्यादि द्रव्यान्तर नहीं होते।

५. यदि हम लक्षणों के द्रव्यत्व को स्वीकार करते हैं तो क्योंकि वह सहभूत कहे जाते हैं हमको मानना पड़ेगा कि धर्मों का उत्पाद, स्थिति, जरात्व और व्यय एक ही काल में होता है।

व्यर्थ ही सर्वास्तिवादी कहते हैं कि लक्षणों का कारित्र-काल भिन्न होता है, अनागत जाति स्वोत्पत्ति के पूर्व ही कारित्र करती है तथा उत्पन्न होकर और उत्पाद नहीं करती; स्थिति, जरा और अनित्यता अपना कारित्र करती हैं जब वह प्रत्युत्पन्न होती हैं, न कि जब अनागत होती हैं और क्योंकि अन्तिम तीन लक्षणों का कारित्र-काल उस समय होता है जब प्रथम का कारित्र समाप्त हो जाता है इसलिये चार लक्षणों का बिना विरोध के सहभूतत्व होता है।

पहले हम जाति का विचार करें जो अनागत अवस्था में ही अपना कारित्र करती है। इसकी परीक्षा करनी होगी कि क्या एक अनागत धर्म का द्रव्यतः अस्तित्व (५.२५, पृ० ५०) है, क्या द्रव्यतः होते हुए भी अनागत जाति कारित्र करती है।—यदि अनागत जाति उत्पाद का अपना कारित्र करती है तो वह अनागत कैसे सिद्ध होती है? वास्तव में वैभाषिकों का सिद्धांत है कि

^१ धूम क्षणिक है। जब यह ऊर्ध्व देशान्तर में 'उत्पद्यमान' होता है तब इसकी ऊर्ध्वगमन की आख्या होती है (ऊर्ध्वगमनाख्यां लभते) और यह ऊर्ध्वगमन धूम से भिन्न लक्षित होता है। (४.२ बी देखिये)

^१ न च संस्कृतानां रूपादीनां तावत् संस्कृतत्वं लक्ष्यते गृह्यतापि स्वभावं यावत् प्रागभावो न ज्ञायते पश्चाच्च संततिश्च विशेष (इति) न तेनैव संस्कृतत्वेन संस्कृतत्वं लक्ष्यते। यदि रूप के स्वभाव का ग्रहण कर, उसके प्रागभाव को जानने के पूर्व, में उसे संस्कृत के रूप में (संस्कृतमिति) ग्रहण करता तो यह कहा जा सकता था कि संस्कृत संस्कृत का लक्षण है, संस्कृत संस्कृत से लक्षित है (तेनैव तल्लक्षितं स्यात्), किन्तु ऐसा नहीं है। [व्या १७७. २६]। ५.२५ पृ० ५०

[२३२] अनागत धर्म वह है जो अप्राप्तकारित्र है (अप्राप्तकारित्रं ह्यनागतमि सिद्धान्तः [व्या १७८.९]। आपको अनागत का लक्षण बताना होगा। दूसरे पक्ष में जब धर्म उत्पन्न होता है, जब वह उपरतकारित्र है, तब उत्पाद की क्रिया अतीत होती है। आप यह कैसे सिद्ध करते हैं कि जाति वर्तमान है? आपको वर्तमान का लक्षण कहना होगा।

अन्य लक्षणों के लिये दो में से एक बात है। उनका कारित्र या तो एक साथ होता है या उत्तरोत्तर होता है। पहले पक्ष में जब स्थिति धर्म का अवस्थान करती है तो जरा उसको जीर्ण करती है और अनित्यता उसका विनाश करती है : वही धर्म अवस्थान करता है, जीर्ण होता है और विनष्ट होता है। दूसरे पक्ष में यह स्वीकार करना कि लक्षणों के कारित्र का सह-भूतत्व नहीं है यह स्वीकार करना है कि तीन क्षण हैं और यह क्षणिकत्व^१ को बाधित करता है।

वैभाषिक उत्तर देता है : हमारा क्षण वह काल है जिसमें लक्षण अपना कार्य परिसमाप्त करते हैं (कार्यपरिसमाप्तिलक्षण एष नः क्षणः)^२। [व्या १७८.१८]

इस विकल्प में आप बतावें कि क्यों सहोत्पन्नों में स्थिति अपना कारित्र करती है, स्थाप्य की स्थापना करती है (स्थाप्यं स्थापयति) किन्तु उस काल में जरा जीर्ण नहीं करती और अनित्यता विनाश नहीं करती?—यदि आपका यह उत्तर है कि अधिक बलवान् होने से स्थिति अपने कारित्र को पहले करती है तो हम प्रश्न करते हैं कि पश्चात् स्थिति कैसे इस प्रकार निर्बल हो जाती है कि जरा और अनित्यता के संयोग से केवल वह स्वयं जीर्ण और विनष्ट नहीं होती किन्तु उसके साथ वह धर्म भी जीर्ण और विनष्ट होता है जिसको यह स्थापित करती है?

कदाचित् आप यह कहें कि कृतकृत्य होकर स्थिति पुनः कारित्र नहीं कर सकती यथा जाति जन्य को जनित कर पुनः उत्पाद नहीं करती?—यह उपमा युक्त नहीं है। जाति का पुरुषकार इसमें है कि यह जन्य धर्म को अनागत से वर्तमानता में आनीत करती है : वर्तमानता में आनीत [२३३] धर्म का पुनः आनयन जाति नहीं कर सकती। किन्तु स्थिति का पुरुषकार 'स्थाप्य' धर्म को स्थापित करता है (स्थापयति) और स्थाप्यधर्म को जीर्ण और विनष्ट होने से बचाता है। स्थिति स्थाप्य की अत्यन्त स्थापना कर सकती है। अतः स्थिति अपने पुरुषकार की पुनरावृत्ति कर सकती है।

किस अन्तराय या किन प्रतिबन्धों के कारण स्थिति के कारित्र का एक बार आरंभ होने पर उपरम होता है? क्या यह प्रतिबन्ध जरा और अनित्यता हैं : जरा स्थिति को दुर्बल करती है और अनित्यता पश्चात् दुर्बल स्थिति का घात करती है? इस विकल्प में जरा और अनित्यता स्थिति से बलीयसी हैं। अतः यह युक्त है कि वह पूर्व अपने कारित्र को करती हैं।—पुनः स्थिति और

^१ वैभाषिक 'क्षणिकवादी' है : धर्म की स्थिति एक क्षण के लिये होती है और उसी क्षण में वह विनष्ट होता है। ४.२ बी देखिये; वसिलीफ़, पृ. ३२५—किन्तु क्षण का क्या अर्थ समझना चाहिये? इसमें कठिनाई है।

^२ अन्य लक्षण, ३.८६ ए।

परमार्थ का पाठ : चतुर्लक्षणकार्यपरिसमाप्तिः।

शब्दसूची में 'क्षण' देखिये।

उसके कारित्र की आपकी कल्पना के अनुसार केवल मूलधर्म ही नहीं किन्तु जरा और अनित्यता भी स्थिति के कारित्र से स्थापित होती हैं। अतः जब स्थिति का कारित्र निवृत्त होता है तब जरा, अनित्यता और उस मूलधर्म की भी स्थिति नहीं रहती। प्रश्न है कि कैसे और कहाँ जरा और अनित्यता जीर्ण और विनष्ट करने के अपने कारित्र को करेंगे।

हम सत्य ही नहीं जानते कि जरा और अनित्यता को क्या करना है। स्थिति-सामर्थ्य से ही एक धर्म उत्पन्न होकर कालविशेष के लिये विनष्ट नहीं होता, उत्पन्नमात्र हो विनष्ट नहीं होता। यदि स्थिति उपरतकारित्र हो धर्म की उपेक्षा करे तो धर्म की ध्रुव ही स्थापना न होगी अर्थात् यही इसका विनाश है।

हम धर्म की स्थिति और अनित्यता को जानते हैं : “उत्पन्न होकर धर्म का विनाश नहीं होता, अवस्थित होकर धर्म का विनाश होता है।”—किन्तु धर्म की जरा कैसे होती है? जरा स्थित्यन्यथात्व है, दो अवस्थाओं का विसदृशत्व है। क्या धर्म के लिये यह कह सकते हैं कि यह अपने से अन्य प्रकार का हो जाता है?

“यदि यह वहीं रहता है तो यह अन्यथा नहीं होता। यदि इसका अन्यथाभाव होता है तो यह वह नहीं है। अतः एक धर्म का अन्यथात्व असंभव है।”

[२३४] निकायान्तर^१ के अनुसार अग्नि-पुद्गरादि विनाश के बाह्य हेतुओं के संनिपात से अनित्यतालक्षण काष्ठ-घटादि धर्मविशेष का विनाश करता है।—वृथावाद! यथा एक रोगी ओषधि का व्यवहार करके उसको प्रभावशील बनाने के लिये देवों की प्रार्थना करता है! इस सिद्धान्त के नय में विनाश के बाह्यहेतु ही विनाश करते हैं, अनित्यतालक्षण का कोई प्रयोजन नहीं है।

इसी निकाय का मत है कि अनित्यतालक्षण के योग से चित्त और चैत, शब्द और अर्चि का क्षणनिरोध होता है और यह विनाश के बाह्य कारणों की अपेक्षा नहीं करते। अनित्यता और स्थिति अपने कारित्र को युगपत् करते हैं : एक धर्म की स्थिति और विनष्टता युगपत् होती है। यह अयुक्त है।

हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि भगवत् की संस्कृत लक्षणों की देशना प्रवाह के प्रति है। इस अर्थ में सूत्र सुनीत है :^२ “तीन लक्षण दिखाते हैं कि संस्कृत संस्कृत है अर्थात् प्रतीत्यसमुत्पन्न है . . . ।”^३

यदि अनागत जाति जन्य धर्म को जनित करती है तो सब अनागत धर्मों की उत्पत्ति युगपत् क्यों नहीं होती ?^४

^१ यदि स एव नासावथान्यथा न स एव [हि।

तस्मादेकस्य धर्मस्य नान्यथात्वं प्रसिध्यति ॥] [व्या १७९.७] संघभद्र, ४१०, १, २०

^२ सम्मतीय (४.२ सी देखिये) [व्या १७९.९]

^३ एवमेतत् सूत्रे सुनीतम् . . . [व्या १७९.१४]

^४ भूमिका में हम अनित्यत्व और क्षणिकत्व पर विविध वादों का अध्ययन करेंगे।

^५ ऊपर पृ० २३१ देखिये। सर्व संस्कृत धर्म स्वलक्षण ‘जाति’ से जनित होता है। जन्य धर्म के

४६ सी-डी. जन्य धर्म की जनिका जाति है किन्तु हेतुप्रत्यय के बिना नहीं।^१

हेतुप्रत्यय के सामग्र्य के बिना केवल जाति जन्य धर्म के उत्पाद का सामर्थ्य नहीं रखती।
अतः सब अनागत धर्म युगपत् उत्पन्न नहीं होते हैं।

[२३५] १. सौत्रान्तिकों का आक्षेप—यदि ऐसा है तो हमारा विचार है कि हेतु उत्पाद करते हैं; जाति नहीं—यह लक्षण विचित्र है जो अनादिकाल से धर्मसहगत है और जो धर्म का उत्पाद करता है यदि पश्चात् इस धर्म के हेतुओं का सामग्र्य होता है ! जब हेतु परिपूर्ण होते हैं तब धर्म की उत्पत्ति होती है; जब वह परिपूर्ण नहीं होते तब इसकी उत्पत्ति नहीं होती है। आप 'जाति' का क्या सामर्थ्य बताते हैं ?^२

२. सर्वास्तिवादिन् का उत्तर—व्या आप सब धर्मों को जिनका अस्तित्व है जानते हैं ? धर्म की प्रकृति सूक्ष्म है !^३ यद्यपि उनका द्रव्यत्व प्रत्यक्ष है तथापि वह दुःपरिच्छेद्य हैं।

पुनः 'जाति' लक्षण के अभाव में जातबुद्धि (=जात इति) नहीं होगी।^४ और यदि 'जाति' धर्म से अन्य द्रव्य नहीं है जिसका अभूत्वा भाव होता है तो, 'रूपस्य उत्पादः', 'वेदनाया उत्पादः' इन पदों का षष्ठी-वचन युक्त न होगा यथा 'रूपस्य रूपम्', 'वेदनायाः वेदना' इनका षष्ठी-निर्देश नहीं होता।—इसी प्रकार स्थिति, जरा, अनित्यता की योजना यथायोग्य होनी चाहिये।

३. सौत्रान्तिक का उत्तर—यह वाद आपको बहुत दूर ले जायगा : शून्यता, अनात्मत्व को युक्त सिद्ध करने के लिये आप 'शून्य', 'अनात्म' का द्रव्यतः अस्तित्व मानेंगे। पुनः एक, दो, [२३६] महत्, अणु, पृथक्, संयुक्त, विभक्त, पर, अपर, सद् रूप आदि बुद्धि की सिद्धि के लिये आप वैशेषिकों के तुल्य एक द्रव्यपरम्परा मानेंगे : संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व

साथ ही 'जाति' की उत्पत्ति होती है; स्वजन्म के पूर्व ही 'अनागत' जाति उसको जनित करती है।

^५ जन्यस्य जनिका जातिर्न हेतुप्रत्ययैर्विना।

हेतु और प्रत्यय का लक्षण २. ४९, ६१ सी में दिया है।

^६ व्याख्या भदन्त अनन्त वर्मा के उत्तर को उद्धृत करती है: "चक्षु आलोकादि के बिना चक्षुर्विज्ञान कउत्पाद नहीं करता किन्तु इसलिये ऐसा नहीं है कि उसकी उत्पत्ति में वह कारण नहीं है:"
—उत्तर: "हम कहते हैं कि आलोकादि के होते हुए भी अन्ध नहीं देखता, अनन्ध देखता है।
अतः चक्षु का दृष्ट-सामर्थ्य^७। जाति के लिये ऐसा नहीं है।"

२. ७१^८ बी-७२, ३. ३५ डी और ७. ३२ की व्याख्या में अनन्त वर्मा का नामोल्लेख है।

[व्या १७९. १९]

^९ सूक्ष्मा हि धर्मप्रकृतयः [व्या १७९. २४]—स्पर्शादि चैत का स्वभाव सूक्ष्म है क्योंकि दुःपरिच्छेद्य है।—सौत्रान्तिक कहते हैं—निस्सन्देह; किन्तु भगवत् ने स्पर्शादि का कारित्र निर्धारित किया है: "जो कुछ वेदनास्कन्ध, संज्ञास्कन्ध, संस्कारस्कन्ध है वह सब स्पर्श-प्रत्ययवश है...." किन्तु उन्होंने 'जाति' का कारित्र निर्धारित नहीं किया है।

^{१०} रूप में रूपबुद्धि स्वलक्षणापेक्षा होती है। किन्तु "रूप जात है" यह जातबुद्धि रूपापेक्षा नहीं होती क्योंकि "वेदना जात है" इस वेदना का जब प्रश्न होता है तब भी मेरी यही जाति-बुद्धि होती है।" अतः जातबुद्धि रूप-वेदना से अर्थान्तर जाति-द्रव्य के कारित्र की अपेक्षा करती है।
[व्या १७९. २९]

अपरत्व, सत्ता आदि। आपको घटबुद्धि सिद्ध करने के लिये एक 'घटत्व' परिकल्पित करना होगा।

षष्ठी के विधान के लिये रूप का संयोग है। आपको इष्ट नहीं है कि रूप का स्वभाव रूप से अन्य है—और इस पर भी आप "रूपस्य स्वभावः" यह कह कर षष्ठी की कल्पना करते हैं।

अतः आपने यह सिद्ध नहीं किया कि 'जाति' द्रव्य है। आपने यह भी सिद्ध नहीं किया कि यह प्रज्ञप्तिमात्र नहीं है क्योंकि इसका अभूत्वा भाव है।

जब मैं किसी धर्म के अभूत्वा भाव को ज्ञापित करना चाहता हूँ तब मैं कहता हूँ कि "यह धर्म जात है", मैं इस धर्म को उत्पन्न प्रज्ञप्त करता हूँ।—रूप, वेदनादि बहु धर्म उत्पन्न होते हैं अर्थात् उनका 'अभूत्वा भाव' होता है। अतः बहु जाति हैं अर्थात् बहु धर्म उत्पन्न होते हैं। जाति के बहु-विकल्प (बहुभेद) हैं। अतः उसको विशेषित करने के लिये जिसमें चोदक जाने कि रूप का उत्पाद है, वेदनादि का नहीं, मैं षष्ठी का प्रयोग करूँगा, 'रूपस्य उत्पादः', 'वेदनाया उत्पादः' यद्यपि रूप का उत्पाद उत्पद्यमान रूपमात्र है। यथा लोक में कहते हैं 'चन्दन का गन्ध' यद्यपि चन्दन गन्धमात्र है और 'शिलापुत्रक शरीर' यद्यपि शिलापुत्रक शरीरमात्र है।^१

४. सर्वास्तिवादिन् का उत्तर—क्योंकि हम जाति-लक्षण के अस्तित्व को मानते हैं जो संस्कृत [२३७] में होते हैं और असंस्कृत में नहीं होते अतः हम सुगमता के साथ बताते हैं कि क्यों असंस्कृत की उत्पत्ति नहीं होती। किन्तु यदि संस्कृत 'जाति' के बिना ही उत्पन्न होते हैं तो आकाशादि असंस्कृत क्यों नहीं उत्पन्न होते ?

हमारा कहना है कि संस्कृतों की उत्पत्ति होती है क्योंकि उनका 'अभूत्वा भाव' है (अभूत्वा भवन्ति)। किन्तु असंस्कृत नित्य है। उसकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है ?—आप बताते हैं कि असंस्कृत धर्मविशेष जाति-लक्षण से रहित होते हैं क्योंकि आपके अनुसार ऐसी धर्मता है^१ : हम कहेंगे कि धर्मता के कारण सब धर्म नहीं उत्पन्न होते, जातिमत् होते (न सर्व जायते)।—इसके अतिरिक्त आपके अनुसार सर्व संस्कृत का तुल्य जातिमत्त्व होता है (तुल्ये जातिमत्त्वे)। असंस्कृत का जातिमत्त्व आप नहीं मानते किन्तु आप मानते हैं कि रूपोत्पाद के प्रत्ययों से वेदनात्पत्ति के प्रत्यय अन्य हैं, एक के प्रत्यय दूसरे के उत्पादन में समर्थ नहीं होते। इसी प्रकार हमारे मत में संस्कृत और असंस्कृत समान रूप से जातिलक्षण से विरहित हैं। इसलिये सर्व प्रत्यय जो संस्कृत का उत्पादन करते हैं असंस्कृत के उत्पादन में समर्थ नहीं हैं।

^१ बौद्ध (बौद्धसिद्धान्त) विश्वास करते हैं कि चन्दन गन्धादिसमूहमात्र है। वैशेषिकसिद्धान्त में चन्दन द्रव्यसत् है। इसलिये आचार्य दूसरा दृष्टान्त उपन्यस्त करते हैं। शिलापुत्रक शरीर के दृष्टान्त को वैशेषिक मानते हैं। [व्या १८०. २६]।—मध्यमकवृत्ति, पृ. ६६ देखिये; सांख्यप्रबचनभाष्य, पृ. ८४, १४८; इत्यादि।

^१ धर्माणामनादिकालिका शब्दितः।

५. वैभाषिक कहते हैं कि जाति आदि चार लक्षण द्रव्य हैं।^१—क्यों ?^१—क्या हम आगम का त्याग इसलिये करें कि दूषक हैं ? मृग हैं इसलिये क्या कोई क्षेत्र का वपन नहीं करता ? मक्षिका गिरती हैं इसलिये क्या कोई मोदक नहीं खाता ?^२—दोष का प्रतिविधान करना चाहिये [२३८] और सिद्धांत का अनुसरण करना चाहिये। (दोषेषु प्रतिविधातव्यं सिद्धान्तश्चानुसर्तव्यः) [व्या० १८१. २५]

नामकायादयः संज्ञा वाक्याभरसमुक्तयः ।

कामरूपाप्तसत्त्वाख्या निष्यन्शब्दाव्याकृतास्तथा ॥४७॥

सभागात् विराकोऽपि त्रैधानुक्त्याप्तयो द्विधा ।

लक्षणानि च निष्यन्दाः समापत्तसमन्वयाः ॥४८॥

नामकाय, पदकाय, व्यंजनकाय क्या हैं ?

^१ विभाषा, ३८, १२ : कुछ का मत है कि संस्कृत लक्षण द्रव्य नहीं है। यह दाष्टीन्तिक हैं जो कहते हैं कि “संस्कृत लक्षण विप्रयुक्तसंस्कारस्कन्ध में संगृहीत हैं, विप्रयुक्त संस्कार-स्कन्ध द्रव्य नहीं हैं; अतः संस्कृत लक्षण द्रव्य नहीं हैं।” उनके मत का प्रतिषेध करने के लिये . . .

^१ शुभान्-चाङ् : “यह वाद सुष्ठु है। क्यों ?”

^२ अर्थात् अभिधर्मशास्त्र ।

^३ एक ही अर्थ की चार लोकोक्ति हैं : एक अच्छी वस्तु का हम इसलिये परित्याग नहीं करते कि इसमें दोष हैं, इसमें यह भय है।

ए. न हि भिक्षुकाः सन्तीति स्थाल्यो नाधिश्रियन्ते ।

बी. न च मृगाः सन्तीति यवा (पाठान्तरं शाल्यो) नोप्यन्ते ।

यह दो लोकोक्तियाँ प्रायः साथ पाई जाती हैं। इनका अध्ययन कर्नल जेकब ने ‘सेकेण्ड हैण्ड-फुल आफ पापुलर मैक्सिम’ (बंबई, निर्णयशागर, १९०९, पृ. ४२, अनुकनणिक-नहि भिक्षुकाः) में किया है। उन्होंने हवाले भी दिये हैं : महाभाष्य, १.९९, २.१९४, ३.२३ (कीलहानं), इसी अर्थ में (न हि दोषाः सन्तीति परिभाषा न कर्तव्या लक्षणं वा न प्रणयम्। न हि भिक्षुकाः . . .); वाचस्पतिमिश्र, न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, पृ. ६२, ४४१; भासती, पृ. ५४; सर्वदर्शनसंग्रह, कावेल के अनुवाद का पृष्ठ ३—कामसूत्र का भी उल्लेख करना चाहिये (कंठलाग आक्सफोर्ड २१६ बी देखिये) जहाँ यह दो लोकोक्तियाँ वात्स्यायन की बताई गई हैं (वेबर की सूचना, इंडो स्टूडियन १३, पृ. ३२६) ।

सी. अतोऽजोर्णभयाघ्राहारपरित्यागो भिक्षुकभयान्न स्थाल्या अनधिश्रयणं दोषेषु प्रतिविधातव्यमिति न्यायः ।

इस तीसरी लोकोक्ति के लिये कर्नल जेकब पंचपादिका, पृ. ६३ (जिसका अन्तिम भाग ‘दोषेषु प्रतिविधातव्यम्’ वसुबन्धु में है), जीवन्मुक्तिविवेक, पृ. ८ (जो इस लोकोक्ति को आनन्दबोध्याचार्य का बताता है) और हितोपदेश, २.५०, ‘दोषभीतेरनारम्भः . . .’ उद्धृत करते हैं ।

डी. न मक्षिकाः पतन्तीति मोदका न भक्ष्यन्ते ।

इस लोकोक्ति के लिये वसुबन्धु के अतिरिक्त दूसरा प्रमाण नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि भिक्षु होने के कारण बौद्धों ने भिक्षुक और स्थाली की लोकोक्ति के स्थान में मक्षिका और मोदक की कम धुनने वाली उक्ति स्वीकार की है ।

४७ ए-बी. नामकाय आदि संज्ञा, वाक्य और अक्षर की समुक्ति हैं ।^१

१. 'नामन्' (नाम या शब्द) का 'संज्ञाकरण'^२ अर्थ करना चाहिये, यथा रूप, शब्द, गन्धादि शब्द ।

२. 'पद' से वाक्य का अर्थ लेते हैं अर्थात् जितने से अर्थ की परिसमाप्ति होती है (यावतार्थपरिसमाप्तिः)^३, यथा यह वाक्य : "संस्कार अनित्य हैं" एवमादि ।^४—अथवा 'पद' वह है जिससे क्रिया-गुण-काल के संबन्धविशेष गमित होते हैं (येन गम्यन्ते) [व्या १८२.२७] : यथा वह पकाता है, वह पढ़ता है, वह जाता है; वह कृष्ण है, गौर है, रक्त है; वह पकाता है, वह पकावेगा, उसने पकाया ।^५

३. व्यंजन का अर्थ अक्षर, वर्ण, स्वर-व्यंजन है यथा अ, आ, इ, ई आदि ।

किन्तु क्या अक्षर लिपि-अवयव के नाम नहीं हैं ?

वर्णों का उच्चारण लिपि-अवयव की प्रतीति कराने के लिये नहीं होता किन्तु वर्ण की प्रतीति

^१ नामकायादयः संज्ञावाक्याक्षरसमुक्तयः [व्या १८१.२८]

सुरेन्द्रनाथदास गुप्त : स्टडी आफ पतञ्जलि (कलकत्ता, १९२०) (पृ. १९२-२०१) में स्फोट के भिन्न मतों का वर्णन है । सिद्धि, ६८; स्फोट पर एंग्रेज, मीलिंग्स विन्डिश, १९१४ ।

^२ संज्ञाकरण लोकभाषा की आख्या है; नारुघेय इसका पर्याय है यथा लोक में कहते हैं : "देवदत्त इसका संज्ञाकरण है" । किन्तु यहाँ अर्थ इस प्रकार है : "जिससे संज्ञा जनित होती है" । वास्तव में 'संज्ञा' एक चैतन्यिक धर्म है : बुद्धि, संज्ञा, परिकल्प (१.१४ सी-डो); नामन् वह है जो इस धर्म को 'करता है', उत्पन्न करता है ।

^३ यहाँ सुप्-तिङन्त पद अभिप्रेत नहीं है । (पाणिनि, १.४.१४) ।

^४ पूरी गाथा को एक 'पद' समझना चाहिये :

अनित्यता बन् संस्कारा उत्पादव्ययधर्मिणः ।

उत्पद्य हि निरुद्धघन्ते तेषां व्युपशमः सुखः ॥ [व्या १८२.५]

इसका अनेक प्रकार से अर्थ करते हैं :

ए. प्रतिज्ञा : "संस्कार अनित्य हैं ।" हेतु : "क्योंकि उनका स्वभाव उत्पन्न और निरुद्ध होना है ।" दृष्टान्त । "जो उत्पन्न होकर निरुद्ध होते हैं वह अनित्य हैं ।"

बी. हेतु : "उनका स्वभाव उत्पन्न और निरुद्ध होना है"—यह इससे सिद्ध होता है कि "वह वास्तव में उत्पन्न होकर निरुद्ध होते हैं ।"

सी. संस्कार अनित्य हैं । अन्य शब्दों में उनका स्वभाव उत्पन्न और निरुद्ध होना है । "क्योंकि उत्पन्न होकर वह निरुद्ध होते हैं"; "जो अनित्य हैं वह दुःख हैं, अतः उनके व्युपशम में सुख है ।" बुद्ध विनयेयजन को यही सिखाना चाहते हैं ।

इस गाथा को इन्द्र ने भगवत् की मृत्यु पर कहा था, वीध, २. १५७; संयुक्त, १. १५८ डायलाग्स, २. १७६; जातक, ९४; मध्यमकवृत्ति पृ. ३९; द्यूत्रे मैनूस्कृष्ट आफ र्हीन्स, जे० ए एस० १८९८, २. ३०० (ज्ञान अगर्द पृ. १०८); उदानवर्ग, १. १; एनडीओ, २६, अनित्यतासूत्र; जे० पृजोलुस्की, एयुनेरै, पृ. ९

^५ यह 'नामपद' का उदाहरण है ।

^६ नामन् स्वलक्षण का द्योतक है; पद क्रियादिसंबन्धविशेष का द्योतक है जहाँ उस वस्तु का अवस्थान है जिसका स्वलक्षण ज्ञात है ।

कराने के लिये लिपि-अवयव लिखे जाते हैं जिसमें जब उन्हें नहीं सुनते तब भी लेख से उनकी प्रतीति होती है। अतः वर्ण लिपि-अवयव के नाम नहीं हैं।

४. 'काय' का अर्थ 'समुक्ति' है; धातुपाठ ४. ११४ के अनुसार 'समुक्ति' का अर्थ 'समुदाय' है।

[२४०] अतः नामकाय = रूप, शब्द, गन्धादि; पदकाय = "संस्कार अनित्य हैं, धर्म अनात्म हैं, निर्वाण शान्त है" इत्यादि; व्यंजनकाय = क, ख, ग

१. सौत्रान्तिक का आक्षेप—क्या नाम, पद और व्यंजन वाक्स्वभाव और इसलिये 'शब्द' नहीं हैं? अतः वह रूपस्कन्ध में संगृहीत हैं; वह चित्तविप्रयुक्त संस्कार नहीं हैं जैसा सर्वास्तिवादी कहते हैं।

सर्वास्तिवादिन्—वह वाक्स्वभाव नहीं है। वाक्घोष है और घोषमात्र से, यथा क्रन्दन से, अर्थ अवगत नहीं होता।—किन्तु वाक् नामन् में प्रवृत्त होता है (वाचं उपादाय)। यह नामन् अर्थत्व को द्योतित करता है (द्योतयति), प्रतीति उत्पन्न करता है (प्रत्याययति)।

सौत्रान्तिक—जिसे मैं 'वाक्' कहता हूँ वह घोषमात्र नहीं है किन्तु यह वह घोष है जिससे अर्थ अवगत होता है अर्थात् वह घोष जिसके संबन्ध में वक्ताओं में संकेत है कि यह अमुक अर्थ की प्रतीति करेगा। इसी प्रकार पूर्वो ने 'गो' शब्द को ९ पदार्थों की प्रतीति कराने की शक्ति दी है:

"विद्वानों ने यह व्यवस्थापित किया है कि गो शब्द के ९ अर्थ हैं: दिशा, गो-वृषभ, भूमि, किरण, वाक्, वज्र, चक्षु, लोक और जल।"^१

जो सिद्धांत यह मानता है कि "नामन् पदार्थ का द्योतक है" उसे यह मानना पड़ेगा कि गो शब्द के यह भिन्न अर्थ संवृति से हैं। अतः यदि अमुक नाम से श्रोता को अमुक अर्थ द्योतित होता है तो यह घोषमात्र है जो उसकी प्रतीति कराता है। जिसे आप 'नामन्' कहते हैं उस द्रव्य की कल्पना का क्या प्रयोजन है?

२. सौत्रान्तिक पुनः कहते हैं—नाम या तो वाक्-जन्य (उत्पाद्य) है या वाक्-प्रकाश्य (व्यंग्य)^२ है।

[२४१] ए. प्रथम विकल्प में क्योंकि वाक् घोषस्वभाव है इसलिये सर्व घोषमात्र, यहाँ तक कि पशु-गर्जित भी, नामन् का उत्पाद करेगा—यदि आपका यह उत्तर है कि नामन् का उत्पाद

^१ अमरसिंह, ३. नानार्थवर्ग, २५ से तुलना कीजिये।

^२ अर्थात् "वाक् के होते चित्तविप्रयुक्त धर्म 'नामन्' उत्पन्न होता है" (वाचि सत्यां स चित्तविप्रयुक्त उत्पद्यते) [व्या १८३. २१]।

^३ अर्थात् "चित्तविप्रयुक्त धर्म 'नामन्' घोष से उत्पद्यमान होने से उत्पन्न होता है: घोष अर्थ-द्योतन के लिये उसकी प्रकाशित करता है।" (घोषे गोत्पद्यमानेन स चित्तविप्रयुक्तो धर्म उत्पद्यते। स तं प्रकाशयत्यर्थ-द्योतनाय [व्या १८३. २७]।

विशिष्ट घोष से—वर्णात्मक घोष से—ही होता है तो हम कहते हैं कि जो घोष-विशेष नामन् का उत्पाद कर सकता है वह अर्थ का भी द्योतक होगा ।

दूसरे विकल्प में भी यही आलोचना है, केवल 'उत्पद्' धातु के स्थान में 'प्रकाश' धातु होगा ।

बी. किन्तु यह कल्पना कि वाक् नामन् का उत्पाद करता है युक्तिविरुद्ध है । वास्तव में शब्दों का सामग्र्य नहीं है—यथा र्-ऊ-प्-अ और नामन् का जिसे आप एक धर्म, एक द्रव्य बताते हैं भागशः उत्पाद युक्त नहीं है । अतः जब वाक् नामन् का उत्पाद करता है तब कैसे वह उसका उत्पाद करता है ?—आप कहेंगे कि यह अविज्ञप्ति (४.३ डी) सदृश है : काय-वाग्-विज्ञप्ति का पश्चिम क्षण अतीत क्षणों की अपेक्षा कर अविज्ञप्ति का उत्पाद करता है । किन्तु हम कहेंगे कि यदि वाग्-शब्द का पश्चिम क्षण नामन् का उत्पाद करता है तो एक पश्चिम शब्द के सुनने से अर्थ की प्रतिपत्ति होगी ।

यह कल्पना कि वाक् व्यंजन का उत्पाद करती है (जनयति), व्यंजन नाम का उत्पाद करता है, नाम अर्थ की प्रतिपत्ति कराता है व्यपदेश नहीं है । वास्तव में यहाँ भी वही प्रसंग उपस्थित होता है : “व्यंजनों का सामग्र्य नहीं होता, इत्यादि ।”

इन्हीं हेतुओं से यह कल्पना भी अयुक्त है कि वाक् नाम का प्रकाश करती है । [शब्दों का युगपत् अवस्थान नहीं है और एक धर्म, एक द्रव्यसत् का, जैसे कि नामन् का, भागशः प्रकाश नहीं होता . . . एवमादि]

सी. [यह विकल्प कि वाक् वर्ण का उत्पाद करती है—हमने इस विकल्प को तत्काल दूषित नहीं बताया है—नये प्रश्न उपस्थित करता है] । वाक् से भिन्न वर्ण है यह बात विशेषज्ञों को भी नहीं प्रकट होती यद्यपि वह व्यर्थ ही प्रयास करते हैं ।—पुनः वाक् व्यंजन की न उत्पादिका है, न प्रकाशिका । इसमें वही हेतु है जिनके कारण वाक् नाम की न उत्पादिका है, न प्रकाशिका । [‘वाक्’ घोषस्वभाव है । इसलिये सर्व घोषमात्र व्यंजन को उत्पन्न और प्रकाशित करेगा । [२४२] यदि आपका यह उत्तर हो कि व्यंजन घोषविशेष से ही उत्पन्न या प्रकाशित होता है . . . तो यथापूर्व, २ ए] ।

३. किन्तु सर्वास्तिवादिन् यह कल्पना कर सकता है कि जातिलक्षणवत् नाम अर्थसहज होता है ।—वाक् इसकी उत्पादिका या प्रकाशिका है इसके जानने का प्रसंग नहीं रहता ।

इस विकल्प में अतीत-अनागत अर्थ का वर्तमान नाम न होगा ।—पुनः पिता, माता और अन्य पुत्रादि के नामधेय के लिये नामन् की यदृच्छा व्यवस्था करते हैं : यह कैसे मानें कि जातिलक्षणवत् नाम अर्थ-सहज होता है ? —अन्ततः असंस्कृतों का सहज-नाम नहीं होगा क्योंकि उनकी उत्पत्ति नहीं होती : यह सर्वास्तिवादियों को इष्ट नहीं है ।

४. किन्तु सर्वास्तिवादिन् सूत्र का प्रमाण देता है । भगवत् वचन है कि “गाथा नामसंनिधित हैं . . . ।”^१

^१ संयुक्तागम, ३६.२७, संयुक्त, १.३८ : नामसंनिधिता गाथा । ‘गाथा वाक्य है । यह

सौत्रान्तिक उत्तर देता है कि नामन् एक शब्द है जिसके संयन्ध में मनुष्यों में संकेत है कि यह एक अर्थविशेष की प्रतीति कराता है।^१ गाथा या वाक्य (पद) नामों का रचनाविशेष है : इसी अर्थ में भगवत् इसे नामसंनिश्चित बताते हैं।—पद नामक एक द्रव्यसत् की परिकल्पना अपाधिक (निष्प्रयोजन) है। यथा 'पिपीलिकापंक्ति' और 'चित्तानुपूर्व' पिपीलिका और चित्त से अन्य द्रव्य नहीं हैं। अतः आप स्वीकार करें कि अक्षरमात्र जो शब्द हैं द्रव्य हैं।

[२४३] वैभाषिक नामकाय, पदकाय, व्यंजनकाय इन चित्तविप्रयुक्त संस्कारों को स्वीकार करते हैं क्योंकि वह कहते हैं कि सब धर्म तर्कगम्य नहीं हैं।^१

प्रश्न है (१) कि व्यंजन, नाम और पद किस धातु में प्रतिसंयुक्त है; (२) क्या वह सत्त्वाख्य (१.१० बी) हैं या असत्त्वाख्य; (३) क्या वह त्रिपाकज हैं, औपचयिक हैं या नैष्यन्दिक हैं (१.३७); (४) क्या वह कुशल हैं, अकुशल हैं या अव्याकृत हैं।

४७ सी-डी. कामाप्त और रूपाप्त, सत्त्वाख्य, नैष्यन्दिक, अव्याकृत।^१

व्यंजनादि दो धातुओं में प्रतिसंयुक्त हैं। एक मत के अनुसार उनका अस्तित्व आरूप्यधातु में भी है किन्तु वह 'अनभिलाष्य' (अकथ्य) हैं।^१

वह सत्त्वाख्य हैं क्योंकि वह सत्त्व-प्रयत्न से अभिनिर्वृत्त होते हैं और वर्णादिस्वभाव हैं। वास्तव में जो द्योतित करता है वह उनसे समन्वागत होता है, द्योत्य नहीं समन्वागत होता।

वह नैष्यन्दिक हैं क्योंकि वह सभागहेतुजनित (२.५२) हैं। वह त्रिपाकज नहीं हैं क्योंकि उनकी प्रवृत्ति वक्ता की इच्छा से होती है। वह औपचयिक नहीं हैं क्योंकि वह अरूपी हैं।

वह अनिवृताव्याकृत (२.२८) हैं।^४

नामसंनिश्चित है क्योंकि नाम के उत्पन्न होने पर यह होती है। अतः नाम और पद का अस्तित्व है। [व्या १८५.२०]

^१ अर्थेषु कृतावधिः शब्दो नाम [व्या १८५.२३]—महाव्युत्पत्ति, २४५, ३१९ में 'कृतावधि' है।

^१ पंक्तिवत्, 'यथा पिपीलिकाओं की पंक्ति' किन्तु यह कहने का अवकाश है कि पिपीलिकाओं का जो पंक्ति की रचना करती है युगपत् अवस्थान होता है। किन्तु क्रमवर्ती शब्दों का रचना-विशेष नहीं होता; इससे वैषम्य होता है। अतः दूसरा बूझाते देते हैं : चित्तानुपूर्ववत्, [व्या १८५.२८] 'यथा चित्तों का अनुक्रम।'

^१ जो धर्म तथागत के ज्ञानगोचर में पतित हैं (तथागतज्ञानगोचरपतिता) वह तर्कगम्य नहीं हैं। [व्या १८५.३१]

^१ कामरूपाप्तसत्त्वाख्या निष्यन्दाव्याकृताः [व्या १८६.२]; विभाषा, १५, १

^१ व्यंजनादि वाक्स्वभाव नहीं हैं। उनके आरूप्यधातु में होने में कोई प्रतिबन्ध नहीं है किन्तु वहाँ वाक् का अभाव है। इसलिये नामकायादि अकथ्य हैं—वैभाषिकः यदि वह वहाँ अकथ्य हैं तब आप यह कैसे कहते हैं कि उनका वहाँ अस्तित्व है?

^४ जो नाम कुशल धर्मों को प्रज्ञप्त करते हैं वह कुशल नहीं हैं : क्योंकि जिस पुद्गल के कुशल-मूल समुच्छिन्न हैं वह कुशल धर्मों को द्योतित करता है और कुशल धर्म को प्रज्ञप्त करनेवाले नामों की प्राप्ति से समन्वागत होता है।

हम संक्षेप में अन्य अनुक्त चित्तविप्रयुक्त धर्मों का (२. ३५) लक्षण बतावेंगे।

४७ डी-४८ बी. इसी प्रकार सभागता है जो विपाक भी है। यह त्रैधातुकी है।^१

[२४४] 'तथा' अर्थात् व्यंजन, नाम और पद के तुल्य सभागता प्रथम दो धातुओं में प्रति-संयुक्त है, सत्वाख्य है, नैष्यन्दिकी है, अनिवृताव्याकृत है। किन्तु सभागता केवल नैष्यन्दिकी नहीं है : यह विपाकज भी है। यह केवल प्रथम दो धातुओं में प्रतिसंयुक्त नहीं है : यह तृतीय धातु में भी प्रतिसंयुक्त है।

४८ बी. प्राप्ति दो प्रकार की हैं।^२

यह नैष्यन्दिकी और विपाकज हैं।

४८ सी. लक्षण भी।^३

जात्यादिलक्षण प्राप्ति के समान दो प्रकार के हैं।

४८ सी. डी. समापत्ति और अप्राप्ति नैष्यन्दिकी हैं।^४

दो समापत्ति और अप्राप्ति केवल नैष्यन्दिकी हैं।

इनकी धात्वाप्तता, सत्वासत्वाख्यता और कुशलाकुशलाव्याकृतता का व्याख्यान पूर्व हो चुका है।—सब संस्कृतों के लक्षण होते हैं। अतः वह सत्वाख्य और असत्वाख्य हैं।—आसंज्ञिक और जीवित [आयुष] के लिये २. ४१ डी और ४५ ए (६. १ ए) देखिये।

५. हेतु (४९-५५ बी), फल (५५ सी-६१ बी), प्रत्यय (६१ सी-७३)

हमने देखा है (२. ४६ सी डी) कि जन्य धर्मों को जनित करने के लिये जाति हेतु और प्रत्ययों के सामग्र्य की अपेक्षा करती है। यह हेतु-प्रत्यय क्या हैं ?^५

कारणं सहभूच्चैव सभागः संप्रयुक्तकः ।

सर्वत्रगो विपाकाख्यः षड्विधो हेतुरिष्यते ॥४९॥

^१ तथा । सभागता विपाकोऽपि त्रैधातुकी [व्या १८६. १७]

^२ आप्तयो द्विधा । [व्या १८६. २६]

शुभानु-चाङ्ग शोधते हैं : प्राप्ति तीन प्रकार की है : क्षणिक (१. ३८), नैष्यन्दिक, विपाकज ।

^३ [लक्षणान्यपि ^१ नैष्यन्दः समापत्यसमन्वयाः ॥]

^४ व्याख्या में निम्न सूचनाएं हैं : ए. हेतु और प्रत्यय में कोई प्रतिविशेष नहीं है क्योंकि भगवत् ने कहा है : द्वौ हेतु द्वौ प्रत्ययौ सम्पद्दृष्टेरुत्पादाय । कतमौ द्वौ । परतश्च घोषोऽध्यात्मं च योनिशो मनस्कार इति । (अंगुत्तर १. ८) : द्वेऽमे भिक्खवे पच्चया सम्मादिद्विधा उप्पादाय . . . परतो च घोसो योनिशो च मनसिकारो)

बी. हेतु, प्रत्यय, निदान, कारण, निमित्त, लिंग, उपनिषद् यह पर्याय हैं ।

सी. हेतु और प्रत्यय का पृथग् निर्देश क्यों है ?—क्योंकि हेतुनिर्देश में अविघ्नभाव, सहभूत्व, सदृशत्व आदि (२. ४९) अर्थविशेष का व्याख्यान है। प्रत्ययनिर्देश में हेतुसमन्तरत्व आदि (२. ६२) अपर अर्थविशेष का व्याख्यान है। [व्या १८८. १३]

हेतु और प्रत्यय पर सिद्धि—कोश, ४. १००, १७६ में हेतु और प्रत्यय का विपत्त्व स्पष्ट है।

[२४५] ४९. कारणहेतु, सहभू, सभाग, संप्रयुक्तक, सर्वत्रग, विपाक : हेतु षड्विध इष्ट है ।^१

कारणहेतु, सहभूहेतु, सभागहेतु, संप्रयुक्तकहेतु, सर्वत्रगहेतु, विपाकहेतु : यह ६ प्रकार के हेतु हैं जो आभिधर्मिकों को इष्ट हैं (ज्ञानप्रस्थान, १, ११) ।^२

स्वतोऽन्ये कारणं हेतुः सहभूयै मियः फलाः ।

भूतवच्चित्तचैतानुवर्तिलक्षणलक्ष्यवत् ॥५०॥

^१ [कारणहेतुः सहभूः सभागः संप्रयुक्तकः ।

सर्वत्रगो विपाकश्च] षड्विधो हेतुरिष्यते ॥ [व्या १८९. १४]

अभिधर्महृदय (नैज्जियो, १२८८), २. ११.

षड्विध हेतु किस सूत्र में उपदिष्ट है ? वास्तव में अभिधर्म सूत्र का अर्थ करता है, सूत्र का निकष है, सूत्र का व्याख्यान करता है (सर्वो ह्यभिधर्मः सूत्रार्थः सूत्रनिकषः सूत्रव्याख्यानम्) [व्या १८८. २३] वैभाषिक कहते हैं कि यह सूत्र अन्तर्हित हो गया है । एकोत्तरागम में शतकपर्यन्त धर्म-निर्देश था । आज तो उसमें दशकपर्यन्त (आदशकात्) ही हैं (भूमिका देखिये) ।

किन्तु प्रतिनियत हेतुवाचक सूत्र हैं । व्याख्या में उदाहरण हैं जो, प्रतीत होता है, संघभद्र से लिये गये हैं (३. ७९ बी १६) ।

(ए) कारणहेतु : “चक्षुरिन्द्रिय और रूपप्रत्ययवश चक्षुर्विज्ञान की उत्पत्ति होती है ।” (संयुक्त, ४. ८७ आदि)

(बी) सहभूहेतु : “यह तीन मागांग सम्यग्दृष्टि का अनुवर्तन करते हैं (अनुवर्त.) ।” “संस्पर्श त्रिकसंनिपात है; वेदना, संज्ञा और चेतना सहजात हैं ।”

(सी) सभागहेतु : “यह पुद्गल कुशलधर्म और अकुशलधर्मों से समन्वागत है । उसके कुशलधर्म निरुद्ध होते हैं : उसके अकुशलधर्म वृद्धि को प्राप्त होते हैं किन्तु उसके अनुसहगत एक कुशलमूल है जो असमुच्छिन्न है (अस्ति चास्यानुसहगतं कुशलमूलमसमुच्छिन्नम्) [व्या १८८. ३१] और जिससे एक अन्य कुशलमूल उत्पन्न होगा: यह पुद्गल आयति में विशुद्ध होगा ।” (विशुद्धिधर्मा भविष्यति [व्या १८९. १], अंगुत्तर ३. ३१५) ।

सदृश संदर्भ में, संयुक्त, ३. १३१ में (कथावत्थ, पृ. २१५ से तुलना कीजिये) ‘अनुसहगत’ है जिसका यहाँ यथार्थ अनुवाद संघभद्र ने दिया है । एक बृद्ध कुशलमूल इष्ट है जो स्थविर निकाय का पुराण अनु-धातु (?) है (संघभद्र, ९९ बी १९) ।

किन्तु व्याख्या की पोथियों में ‘अणुसहगत’ पाठ है और ४. ७९ डी के भाष्य में हम देखेंगे कि ज्ञानप्रस्थान के चीनी भाषान्तर में इस शब्द का ठीक पर्याय है । “सोई प्यु लिंग” इस परिच्छेद में अणुसहगत और मृदुमृदुपर्याय हैं : अणुसहगत कुशलमूल क्या है ? — इनका प्रहाण सबके पीछे होता है जब कुशलमूल समुच्छिन्न होते हैं; इनके अभाव में ही कहते हैं कि कुशलमूल समुच्छिन्न हुए हैं ।” [हम ऊपर (पृ. १८४) देख चुके हैं कि यथार्थ में कुशलमूल का कभी समुच्छेद नहीं होता]

(डी) संप्रयुक्तकहेतु : “यह दर्शनमूलिका अवैत्यज्ञानसंप्रयुक्ता श्रद्धा है (६. ७४ सी) : जिसे यह पुद्गल जानता है (विज्ञानाति) उसका प्रज्ञा से प्रतिषेध करता है (प्रज्ञानाति) ।”

(ई) सर्वत्रगहेतु : “जिस पुरुष की मिथ्यादृष्टि (५. ७) है उसके काय-कर्म, वाक्-कर्म, चेतना, प्रणिधि, तदन्वयसंस्कार आदि यह सब धर्म अनिष्टत्व, अप्रियत्व के लिये हैं । क्यों ? — क्योंकि उसकी पापिका दृष्टि अर्थात् मिथ्यादृष्टि है ।” (अंगुत्तर, ५. २१२ से तुलना कीजिये ।

(एफ) विपाकहेतु : यहाँ किये हुए कर्म के विपाक का वहाँ उपपन्न होकर प्रतिसंवेदन करते हैं ।”

[२४६] ५० ए. सब धर्म स्वतः से अन्य सब के कारणहेतु हैं।^१

कोई धर्म अपना कारणहेतु नहीं है ।

इस अपवाद के साथ सब धर्म सर्व संस्कृत धर्मों के कारणहेतु हैं क्योंकि उत्पत्तिमान् धर्मों के उत्पाद के प्रति प्रत्येक धर्म का विघ्नभाव से अवस्थान होता है ।

इस लक्षण से यह सिद्ध होता है कि सहभूहेतु आदि धर्म कारणहेतु भी हैं। अन्य हेतु कारण-हेतु के अन्तर्गत हैं।—जिस हेतु का कोई विशेष नाम नहीं है, जो बिना किसी विशेषण के कारण-मात्र है वह कारणहेतु है : एक विशेष नाम के योग से यह वह नाम पाता है जो सब हेतुओं के उप-युक्त है । रूपायतन नाम से तुलना कीजिये (१.२४) ।

कारणहेतु के संबन्ध में निम्नोल्लिखित सूचनाएं हैं:—

१: मूढ़ पुद्गल में आस्रव उत्पन्न होते हैं । एक बार दृष्टसत्य होने से उनकी [२४७] उत्पत्ति नहीं होती । यथा जब सूर्य की प्रभा होती है तब ज्योतियों का दर्शन नहीं होता । अतः आर्यसत्त्यों का ज्ञान और सूर्य यथाक्रम आस्रव की उत्पत्ति में और ज्योति-दर्शन में विघ्नकारी हैं । अतः यह कहना यथार्थ नहीं है कि स्वभाववज्र्य सब धर्म संस्कृत के कारणहेतु हैं क्योंकि वह उत्पत्ति में विघ्न नहीं करते ।

हम जानते हैं कि सत्यज्ञान और सूर्यप्रभा उत्पद्यमान धर्म की उत्पत्ति में अर्थात् उस धर्म की उत्पत्ति में विघ्नभावेन अवस्थित नहीं हैं जो प्रत्यय के समग्र^१ होते अनन्तरभावी हैं ।

२. जो विघ्न कर सकता है और विघ्न नहीं करता उसे कारण कहते हैं । वास्तव में जब भोजक उपद्रव नहीं करता (अनुपद्रोत्) तब लोग कहते हैं कि “स्वामी से हम सुखी हैं (स्वामिन्ना स्मः सुखिताः [व्या १९०.१०])” ।^१ क्योंकि वह उपद्रव करने में समर्थ है किन्तु उपद्रव नहीं करता । किन्तु क्या उसे कारणहेतु कह सकते हैं जो विघ्न करने में असमर्थ होने से विघ्न नहीं करता ? निर्वाण किसी संस्कृत की उत्पत्ति में विघ्न करने में असमर्थ है । इसी प्रकार अनुत्पन्नधर्म अतीत धर्मों की उत्पत्ति में, नारक या तिर्यग्योनि आरूप्यस्कन्ध की उत्पत्ति में, विघ्न करने में असमर्थ हैं : निर्वाण, अनुत्पन्नधर्म, नारक असत् तुल्य हैं क्योंकि विद्यमान होकर भी यह इतर संस्कृतों की उत्पत्ति में विघ्न करने में असमर्थ हैं । क्या इनको कारणहेतु मान सकते हैं ?

यह कारणहेतु हैं क्योंकि जब भोजक उपद्रव करने में असमर्थ होता है तब भी ग्रामीण उसी प्रकार कहते हैं जैसा कि पूर्व दृष्टांत में है किन्तु असत् भोजक के लिये वह ऐसा नहीं कहते ।

^१ स्वतोऽन्ये कारणं हेतुः [व्या १९०.२६]

^१ जब आर्यसत्त्यों का ज्ञान होता है तब क्लेशहेतु समग्र नहीं होते क्योंकि क्लेशों की प्राप्ति का इस ज्ञान से छेद होता है ।

^१ मान्देन, ३. ९: राजकुमार मुझे बहुत कुछ देते हैं यदि वह मेरा कुछ लेते नहीं और वह मेरा बहुत कल्याण करते हैं यदि वह मेरा अनिष्ट नहीं करते ।

३. कारणहेतु का जो निर्देश हमने किया है वह सामान्य निर्देश है और उसमें प्रधान कारणहेतु तथा अप्रधान कारणहेतु दोनों संगृहीत हैं। प्रधान कारणहेतु जनक है : इस अर्थ में चक्षु और रूप चक्षुर्विज्ञान के कारणहेतु हैं यथा आहार शरीर^१ का कारणहेतु है, बीजादि अंकुरादि [२४८] के कारणहेतु हैं। (२.५६ बी देखिये) ।

४. आक्षेप—यदि सब धर्म अन्य धर्मों के कारणहेतु हैं क्योंकि वह उनमें विघ्न उपस्थित नहीं करते तो सब धर्मों का युगपत् उत्पाद क्यों नहीं होता ?^२ प्राणातिपातकारक के समान सब सत्व प्राणातिपातभाक् क्यों नहीं होते ?

दोष व्यर्थ है। वास्तव में सब धर्म कारणहेतु कहलाते हैं क्योंकि वह विघ्नभाव से अवस्थित नहीं होते : यह नहीं है कि उन सब का कारकभाव है।

५. अन्य आचार्यों के अनुसार सब कारणहेतुओं का सब धर्मों के प्रति एक सामर्थ्य है। यथा निर्वाण और चक्षुर्विज्ञान : एक मनोविज्ञान, कुशल या अकुशल, उत्पन्न होता है। निर्वाण उसका आलम्बन है (२.६२ सी-डो)। पश्चात् इस मनोविज्ञान से एक चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न होता है। अतः चक्षुर्विज्ञान के प्रति निर्वाण का परंपरया सामर्थ्य है।

अनुत्पन्नधर्म, नारकसत्व आदि का भी ऐसा ही सामर्थ्य है।

५० सी-डो. सहभूहेतु वह धर्म हैं जो एक दूसरे के फल हैं अर्थात् भूत, चित्त और चित्तानुवर्ती, लक्षण और लक्ष्य ।^३

१. जो धर्म परस्पर पुरुषकारफल (२.५८) हैं वह सहभूहेतु कहलाते हैं ।^४
[२४९] यथा महाभूत^५ अन्योन्य के सहभूहेतु हैं। यथा चित्त और चित्तानुवर्ती (२.५१); यथा जाति आदि लक्षण (२.४५ बी) और वह धर्म जो उनका लक्ष्य हैं।

अतः सब संस्कृत धर्म यथासंभव सहभूहेतु हैं। किन्तु उन धर्मों में यथायोग्य विशेष करना चाहिये जिनका अन्योन्यफलत्वेन संबन्ध है ।^६

२. पूर्व लक्षण सावशेष है। अतः कहते हैं कि एक धर्म अपने अनुलक्षणों (२.४५) का

^१ इस वचन के अनुसार : आहारसमुदयात् कायस्य समुदयः [व्या १९०.२९]—संयुक्त, ३. ६२ से तुलना कीजिये ।

^२ सब कारण का कार्य होता है : कारणे सति कार्येण भवितव्यम् । [व्या १९०.३२] कारिका ५०, ३.१०२ में इसका विचार-विमर्श है ।

^३ सहभूये मित्यः फलाः । भूतवचित्तचित्तानुवर्तिलक्षणलक्ष्यवत् ॥ [व्या १९१.१३] 'वत्' प्रत्यय का अर्थ 'तद्यथा' है ।

^४ यह नहीं कहते कि सब सहभूधर्म सहभूहेतु हैं [व्या १९१.१५] । यथा नीलादि भौतिक रूप महाभूतों का सहभू है किन्तु यह उनका सहभूहेतु नहीं है (पृ० २५३ देखिये) ।

^५ १.२४; २.२२, ६५ देखिये ।

^६ सब संस्कृतधर्म और उसके लक्षण एक दूसरे के सहभूहेतु हैं; एक धर्म अन्य धर्म के लक्षणों का सहभूहेतु नहीं है ।

सहभूहेतु है किन्तु इसका उनके साथ अन्योन्यफलसंबन्ध नहीं है : क्योंकि अनुलक्षण अपने धर्म के सहभूहेतु नहीं हैं। लक्षण में इतना बढ़ाना है।^१

चैत्ता द्वौ संवरौ तेषां चेतसो लक्षणानि च ।

चित्तानुवर्तिनः कालफलादिशुभतादिभिः ॥५१॥

किन धर्मों को 'चित्तानुपरिवर्त्ती' कहते हैं ?

५१ ए-सी. चैत्त, दो संवर, चैत्त-संवर द्वय के और चित्त के लक्षण चित्तानुपरिवर्त्ती हैं।^२

सब चित्तसंप्रयुक्तधर्म (२.२४) ध्यानसंवर और अनास्रवसंवर (४.१७ डी), इन सबके और चित्त के जात्यादि लक्षण (२.४५ बी) ।

५१ डी. काल, फलादि और शुभादि की दृष्टि से।^३

अनुवर्त्ती चित्त के संप्रयुक्त हैं :

१. कालतः : चित्त के साथ इनका एकोत्पाद, एक स्थिति, एक निरोध है। यह और चित्त एक अध्व में पतित हैं।

जब हम कहते हैं "एकोत्पाद...." तब 'एक' शब्द का ग्रहण 'सह' के अर्थ में होता है [२५०] [व्या १९२.११]। अनुवर्त्ती के उत्पाद, स्थिति और निरोध का काल वही है जो चित्त का है किन्तु उनकी उत्पत्ति पृथक् है।

अनुत्पत्तिधर्मी चित्त का उत्पाद, स्थिति, निरोध नहीं होता : इसी प्रकार उनके अनुवर्त्तियों का। इसीलिये यह उपसंख्यान है : "अनुवर्त्ती का वही अध्व है जो चित्त का है।" [अनुत्पत्तिक धर्मी चित्त उस क्षण तक अनागत है जिस क्षण में वह उत्पन्न होगा यदि उसे उत्पन्न होना है : तब उसके अनुवर्त्ती अनागत होते हैं। यह उस क्षण से अतीत है जिस क्षण में यह निरुद्ध होता यदि इसकी उत्पत्ति होती : उसके अनुवर्त्ती तब अतीत हैं।]^४

२. फलादितः—यहाँ फल पुरुषकारफल (२.५८ ए-बी) और विसंयोगफल (२.५७ डी) है। 'आदि' से विपाकफल (२.५७ ए) और निष्यन्दफल (२.५७ सी) का ग्रहण होता है।

एक फल, एक विपाक, एक निष्यन्द से वह चित्त का अनुपरिवर्त्तन करते हैं : 'एक' 'संख्यान', 'साधारण' के अर्थ में है।

३. शुभादितः—जिस चित्त का वह अनुपरिवर्त्तन करते हैं उसी के सदृश अनुवर्त्ती कुशल, अकुशल, अव्याकृत होते हैं।

^१ उपसंख्यानकरणं च महाशास्त्रताप्रदर्शनार्थम्, सोपसंख्यानं हि व्याकरणादि महाशास्त्रं दृश्यते [व्या १९१.२१] ।

^२ चैत्ता द्वौ संवरौ तेषां चेतसो लक्षणानि च । चित्तानुवर्त्तिनः

^३ कालफलादिशुभतादिभिः ॥ [व्या १९२.१]

^४ इस परिच्छेद का पूर्वभाग व्याख्या के अनुसार है।

अतः दस कारणों से अनुवर्ती अनुपरिवर्ती कहलाते हैं।^१

सर्वालपचित्त^२ ५८ धर्मों का सहभूहेतु है : अर्थात् (१) दस महाभूमिक (२.२३) और प्रत्येक के चार चार लक्षण; (२) चार स्वलक्षण और चार अनुलक्षण (२.४६)।

यदि इन ५८ धर्मों में से चित्त के चार अनुलक्षणों को वर्जित कर दें—जिनका इस चित्त [२५१] में कोई व्यापार नहीं है—तो ५४ धर्म हैं जो उक्त चित्त के सहभूहेतु होते हैं।^३

एक दूसरे मत के अनुसार १४ धर्म ही इस चित्त के सहभूहेतु हैं अर्थात् उसके चार लक्षण और १० महाभूमिक। यथा उसके अनुलक्षणों का चित्त में कोई व्यापार नहीं है उसी प्रकार महाभूमिक के लक्षणों का चित्त में कोई व्यापार नहीं है।

वैभाषिक इस मत का—यह कि महाभूमिकों के ४० लक्षण चित्त के सहभूहेतु नहीं हैं—यह कहकर प्रत्याख्यान करते हैं कि यह प्रकरणग्रन्थ के विरुद्ध है। प्रकरणग्रन्थ के अनुसार सत्कायदृष्टि और तत्संप्रयुक्त धर्मों (जिसके अन्तर्गत महाभूमिक हैं) के चार

२ १० कारण कभी एकत्र नहीं होते। यथा अव्याकृत अनुत्पत्तिकधर्मों चित्त में चार कारणों से अनुपरिवर्ती अनुपरिवर्ती होते हैं : (१) एकाध्वपतितत्व, (२) एकफलता (पुरुषकार), (३) एकनिष्ठ्यन्वता, (४) अव्याकृतत्व। [व्या १९२.२०]

३ अर्थात् द्वितीय ध्यान से ऊर्ध्व अतिवृत्ताव्याकृत चित्त; वहाँ वितर्क, विचार और कुशल-महाभूमिक नहीं होते। [व्या १९२.३०]

४ स्वानुलक्षणों पर चित्त का अधिकार होता है (राजयते); जैसा हमने २.४६ में देखा है इनका चित्त में कोई व्यापार नहीं होता।

५ जापानी संपादक प्रकरण, १३, ५ का हवाला देते हैं—नीचे पृ० २५९ और २६९ देखिये जहाँ इस वचन का उल्लेख है।

प्रकरण चार आर्यसत्य और सत्कायदृष्टि के संबन्धों की परीक्षा करता है। व्याख्या में [व्या १९३.१२] इससे एक उद्धरण दिया है जिसका हम अनुवाद देते हैं :

ए. चार आर्यसत्य हैं। इनमें से कितने सत्कायदृष्टिहेतुक हैं, सत्कायदृष्टि के हेतु नहीं हैं, कितने सत्कायदृष्टि के हेतु हैं, सत्कायदृष्टिहेतुक नहीं हैं; कितने सत्कायदृष्टिहेतुक हैं और सत्कायदृष्टि के हेतु हैं; कितने न सत्कायदृष्टिहेतुक हैं और न सत्कायदृष्टि के हेतु हैं? इस प्रश्न का वह विसर्जन करता है : दो सत्य न सत्कायदृष्टिहेतुक हैं और न सत्कायदृष्टि के हेतु हैं : निरोधसत्य और मार्गसत्य। अन्य दो में भेद करते हैं।

बी. दुःखसत्य : (१) बिना सत्कायदृष्टि का हेतु हुए सत्कायदृष्टिहेतुक, (२) सत्कायदृष्टिहेतुक और सत्कायदृष्टि का हेतु, (३) न सत्कायदृष्टिहेतुक तथा न सत्कायदृष्टि का हेतु : यह केवल त्रिकोटिक है, द्वितीय कोटि (बिना सत्कायदृष्टिहेतुक हुए सत्कायदृष्टि का हेतु) नहीं है।

१ (ए) दुःखदर्शनप्रहातव्य अतीत और प्रत्युत्पन्न अनुशय और तत्संप्रयुक्त दुःखसत्य को [यथा दुःखदर्शनप्रहातव्य सत्कायदृष्टि से संप्रयुक्त वेदना];

(बी) सत्कायदृष्टिसंप्रयुक्त अनागत दुःखसत्य को (पृ. २५९, पं. ११ देखिये);

(सी) सत्कायदृष्टि और तत्संप्रयुक्त धर्मों की जाति-जरा-स्थिति-अनित्यता (तत्संप्रयुक्तानां च धर्माणाम् [व्या १९३.२५]। यह अन्तिम शब्द किसी संस्करण में नहीं हैं) को वर्जित कर जो अन्य विलट्ट दुःखसत्य है (अर्थात् सर्वधर्म जो दुःख और विलट्ट हैं) वह सत्कायदृष्टिहेतुक है, सत्कायदृष्टि का हेतु नहीं है।

२ पूर्व परिच्छेद में स्थापित दुःखसत्य सत्कायदृष्टिहेतुक है और सत्कायदृष्टि का हेतु है।

लक्षण जाति, जरा, स्थिति और अनित्यता, सत्कायदृष्टि के कार्य और कारण दोनों हैं।^१

[२५२] कुछ आचार्य प्रकरणग्रन्थ के पाठ में यह शब्द छोड़ देते हैं: “और इस सत्कायदृष्टि से संप्रयुक्त धर्मों की।” काश्मीर वैभाषिकों के अनुसार यह शब्द ग्रन्थ में हैं और यदि वह नहीं हैं तो भी उनका पाठ होना चाहिये। अर्थ से ज्ञात है कि अपाठ में दोष है। अधिकारानुवृत्ति से इन शब्दों का ग्रहण होता है।

प्रत्येक धर्म जो सहभूहेतुत्वेन हेतु है (यत्तावत् सहभूहेतुना हेतुः) सहभू हैं, किन्तु ऐसे सहभू हैं जो सहभूहेतु नहीं हैं :

१. मूलधर्म के अनुलक्षण इस धर्म के सहभूहेतु नहीं हैं, (२-४६ ए-बी)

२. यह अनुलक्षण अन्योन्य के सहभूहेतु नहीं हैं,

३. चित्तानुपरिवर्ती के अनुलक्षण चित्त के सहभूहेतु नहीं हैं,

४. यह अन्योन्य के सहभूहेतु नहीं हैं,

५. नीलादि भौतिक रूप (उपादायरूप) जो सप्रतिष और सहज हैं अन्योन्य के सहभूहेतु नहीं हैं,

[२५३] ६. अप्रतिष और सहज उपादायरूप का एक प्रदेश परस्पर सहभूहेतु नहीं है। दो संवरों को स्थापित करना चाहिये, (पृ. २४९ देखिये)

७. सर्व उपादायरूप यद्यपि भूतों के साथ उत्पन्न हुआ हो भूतों का सहभूहेतु नहीं है,

८. प्राप्तिमान् धर्म के साथ सहोत्पाद होने पर भी सहजप्राप्ति उसका सहभूहेतु नहीं होती।

यह आठ प्रकार के धर्म सहभू हैं किन्तु सहभूहेतु नहीं हैं क्योंकि फल, विपाक और निष्पन्द एक नहीं हैं (पृ. २५० देखिये)।—प्राप्तिर्थां सदा धर्म की सहचरिष्णु नहीं हैं: वह धर्म की पूर्वज, पश्चात्कालज या सहज हैं (२. ३७-३८)।

सौत्रान्तिक सहभूहेतुत्व की आलोचना करता है।

यह सब हो सकता है (सर्वमप्येतत् स्यात्) कि “जो सहभूहेतुत्वेन हेतु है वह सहभू है”, एवमादि। लोक में कुछ का हेतुफलभाव सदा सुव्यवस्थापित है: हेतुफल का पूर्ववर्ती है। इसी-

^१ अक्लिष्ट दुःखसत्य [अर्थात् वह धर्म जो दुःख हैं किन्तु कुशल हैं] न सत्कायदृष्टिहेतुक है और न सत्कायदृष्टि का हेतु है।

चीनी संस्करण, नैभिजयो १२९२ (२३. ११, ३८ बी १०) और १२७७ (१०, ५८ बी ४), पूर्व पाठ के समान हैं। कुछ अंश छोड़ दिये गये हैं। (यह पद नहीं है: “इति प्रश्ने विसर्जनं करोति” और “त्रिकोटिकम्, द्वितीया कोटिर्नास्ति।”) जो धर्म सत्कायदृष्टिहेतुक हैं और सत्कायदृष्टि के हेतु हैं उनके अच्छे अन्य निर्देश हैं: (ए) दुःखदर्शनप्रहातव्य अतीत और प्रत्युत्पन्न अनुशय तथा तत्संप्रयुक्त दुःखसत्य [१२७७: और इन अनुशयों से संप्रयुक्त, इनके सहभू आदि दुःखसत्य], (बी) समुदयदर्शनप्रहातव्य अतीत-प्रत्युत्पन्न सर्वत्रग अनुशय और तत्संप्रयुक्त [१२७७ संप्रयुक्त, सहभू आदि] दुःखसत्य, (सी) सत्काय-दृष्टिसंप्रयुक्त अनागत दुःखसत्य, (डी) अनागत सत्कायदृष्टि और संप्रयुक्त धर्मों की जाति आदि।

लिये बीज अंकुर का हेतु है, अंकुर काण्ड का हेतु है, इत्यादि । किन्तु सहोत्पन्न अर्थों में यह न्याय नहीं देखा जाता । अतः आपको सिद्ध करना होगा कि सहभू धर्मों का हेतुफलभाव हो सकता है ।

सर्वास्तिवादिन् दो दृष्टान्त देता है । प्रदीप सप्रभ उत्पन्न होता है; आतप में उत्पद्यमान अंकुर सच्छाय उत्पन्न होता है । किन्तु प्रदीप सहोत्पन्न प्रभा का हेतु है, अंकुर छाया का हेतु है । अतः हेतु-फल सहोत्पन्न हैं ।

सौत्रान्तिक—यह दृष्टान्त असिद्ध हैं । इसका संप्रधारण होना चाहिये (संप्रधार्यम् [व्या १९७. १८]) कि क्या प्रदीप सहोत्पन्न प्रभा का हेतु है अथवा क्या जैसा कि हमारा मत है वर्ति-स्नेहादिक पूर्वोत्पन्न हेतु-प्रत्यय-सामग्री सप्रभ प्रदीप की उत्पत्ति में हेतु है । यथा पूर्वोत्पन्न [२५४] हेतु-सामग्री (बीज, आतपादि) अंकुर और छाया की उत्पत्ति में, सच्छाय अंकुर की उत्पत्ति में, हेतु है ।

सर्वास्तिवादिन्—हेतुफलभाव इस प्रकार व्यवस्थापित होता है : “हेतु का भाव होने पर फल का भाव होता है, हेतु का अभाव होने पर फल का अभाव होता है । हेतुविद् का लक्षण सुष्ठु है : “जब क के भाव-अभाव से ख का भाव-अभाव नियमतः होता है तब क हेतु है, ख हेतुमान् है ।” इस प्रकार यदि हम सहभूधर्म और सहभूहेतुधर्म का संप्रधारण करते हैं तो हम देखते हैं कि एक का भाव होने पर सबका भाव होता है और एक का अभाव होने पर सबका अभाव होता है ।^१ अतः उनका परस्पर हेतुफल-भाव युक्त है ।

सौत्रान्तिक—हम मानते हैं कि सहोत्पन्न धर्मों में एक धर्म दूसरे धर्म का हेतु हो सकता है : चक्षुरिन्द्रिय चक्षुर्विज्ञान की उत्पत्ति में हेतु है ।^२ किन्तु सहोत्पन्न धर्म परस्पर हेतु और फल कैसे होंगे ?

सर्वास्तिवादिन्—हमने जो हेतुफलभाव का निर्देश किया है उससे अन्योन्यहेतुफलभाव व्यवस्थापित होता है । जब चित्त का भाव होता है तब चैत्तों का भाव होता है और अन्योन्य ।

सौत्रान्तिक—बहुत अच्छा, किन्तु उस अवस्था में सर्वास्तिवादिन् को अपने सिद्धान्त को बदलना होगा । वास्तव में उन्होंने उपादायरूप (भौतिक-रूप-रसादि) के अन्योन्य हेतुफलभाव का निषेध किया है यद्यपि रूप का रस (२. २२) के बिना अस्तित्व नहीं होता (अविनाभाविन्) । उन्होंने उपादायरूप और महाभूतों के अन्योन्यहेतुफलभाव का, अनुलक्षण और चित्त के अन्योन्यहेतुफलभाव का प्रतिषेध किया है ।

^१ जहाँ एक महाभूत होता है वहाँ अन्य महाभूत भी होते हैं, इत्यादि ।

^२ में ऐसा अर्थ करता हूँ : “चक्षुरिन्द्रिय का एक क्षण सहोत्पन्न चक्षुर्विज्ञान की उत्पत्ति में हेतु है ।”

सर्वास्तिवादिन् —यथा त्रिदण्ड का अन्योन्य बल से अवस्थान होता है उसी प्रकार सहभू चित्त-चैतादि का हेतुफलभाव सिद्ध होता है ।

[२५५] सौत्रात्लिक—इस अभिनव दृष्टान्त की मीमांसा होनी चाहिये । प्रश्न है कि क्या त्रिदण्ड का अवस्थान सहोत्पन्न त्रिदण्ड के बल से होता है अथवा क्या जिस प्रकार पूर्वसामग्री-वश उनका सहभाव होता है उसी प्रकार पश्चात् भी परस्पराश्रितों का उत्पाद होता है । पुनः अन्योन्य बल के अतिरिक्त अन्य किंचित् भी यहाँ होता है । सूत्रक, शंकुक, धारिका पृथिवी ।

किन्तु सर्वास्तिवादिन् कहता है कि सहभू के सहभूहेतु से अन्य हेतु भी होते हैं अर्थात् सभागहेतु, सर्वत्रगहेतु, विपाकहेतु जो सूत्रकादिस्थानीय हैं । अतः सहभूहेतु सिद्ध है ।

सभागहेतुः सदृशः स्वनिकायभुवोऽग्रजाः ।

अन्योन्यं नवभूमिस्तु मार्गः समविशिष्टयोः ॥५२॥

५२ ए. सदृश धर्म सभागहेतु हैं ।^१

सभाग सभाग के सभागहेतु हैं ।

१. पाँच कुशल स्कन्ध ५ कुशल स्कन्ध के सभागहेतु हैं । क्लिष्ट अर्थात् अकुशल और निवृत्ताव्याकृत क्लिष्ट के सभागहेतु हैं । अव्याकृत अर्थात् अनिवृत्ताव्याकृत अव्याकृत के सभाग-हेतु हैं ।

आचार्यों का इस अन्तिम हेतु पर सर्वदा ऐकमत्य नहीं है । कुछ के अनुसार अव्याकृतरूप ५ अव्याकृत स्कन्धों का सभागहेतु है किन्तु वेदनादि चार स्कन्ध रूप के सभागहेतु नहीं हैं ।^१ दूसरों के अनुसार चार स्कन्ध पाँच के सभागहेतु हैं किन्तु रूप चार का सभागहेतु नहीं है । दूसरों के अनुसार रूपा चार का सभागहेतु नहीं है और अन्योन्यतः ।

२. एक निकायसभाग में कलल दस अवस्थाओं का सभागहेतु है : ५ गर्भावस्था हैं—कलल, [२५६] अर्बुद, पेशिन्, घन, प्रशाखा ; ५ जातावस्था हैं—बाल, कुमार, युवा, मध्य, वृद्ध । द्वितीय गर्भावस्था (अर्बुद...वार्द्ध) ९ अवस्थाओं का सभागहेतु है, एवमादि । प्रत्येक अवस्था का पूर्व क्षण उस अवस्था के अपर क्षणों का सभागहेतु है । (४.५३ से तुलना कीजिए) ।

समानजातीय अन्य निकायसभाग में पूर्वजन्म की प्रत्येक अवस्था १० अवस्थाओं का सभागहेतु है ।

^१ सभागहेतुः सदृशः

२. ५९ देखिये ।

^२ समविशिष्टयोः, २.५२ डी इस नियम के अनुसार—चार अरूपी स्कन्ध 'विशिष्ट' हैं, रूप 'न्यून' है । [व्या १९८.२८]

यव, शालि, व्रीहि आदि बाह्य अर्थों का भी ऐसा ही है। किन्तु सभागहेतुत्व स्वसन्तान में ही होता है : यव यव का सभागहेतु है, शालि का नहीं।

३. दार्ष्टान्तिक इसका प्रतिषेध करता है कि रूप रूप का सभागहेतु है किन्तु यह महाशास्त्र (ज्ञानप्रस्थान, १३, १४) के विरुद्ध है : “अतीत महाभूत अनागत महाभूतों के हेतु और अधिपति हैं।” ‘अधिपति’ से अधिपति-प्रत्यय (२. ६२ डी) अभिप्रेत है : ‘हेतु’ से सभागहेतु समझना चाहिए क्योंकि अन्य हेतु स्पष्ट ही निरस्त हैं।

क्या सब सभागधर्म सभागधर्मों के सभागहेतु हैं ? नहीं। सभागहेतु हैं वह सभागधर्म ५२ बी. जो स्वनिकाय और स्वभूमि के हैं।^१

अर्थात् एक निकाय और एक भूमि के धर्म उक्त निकाय और उक्त भूमि के सभागधर्मों के सभागहेतु हैं।

धर्म पाँच निकायों में विभक्त हैं यथा वह चार सत्त्वों में से एक एक के दर्शन से हेतु हैं या भावनाहेतु हैं (१. ४०)।

धर्मों की ९ भूमियाँ हैं : वह कामधातु के हैं, चार ध्यानों में से किसी एक के हैं या चार आरूप्यों में से किसी एक के हैं।

[२५७] दुःखदर्शनहेतु (दुःखदृग्हेतु) धर्म दुःखदर्शनहेतु धर्म का सभागहेतु है, अन्य चार निकायों के धर्मों का नहीं है। एवमादि।

दुःखदर्शनहेतु धर्मों में जो कामधातु का है वह कामधातु के धर्म का सभागहेतु है। एवमादि। सभागहेतु का अभी यथार्थ निर्देश नहीं हुआ है। वास्तव में केवल वह धर्म सभागहेतु है जो ५२ बी. अग्रज हैं।^२

अग्रज अतीत-प्रत्युत्पन्न धर्म उत्पन्न-अनागत उत्तर सभागधर्मों का सभागहेतु है, अनागत धर्म सभागहेतु नहीं है।^३

१. किस प्रमाण पर यह लक्षण आश्रित हैं ?

मूलशास्त्र पर क्योंकि ज्ञानप्रस्थान (१, ११) कहता है : “सभागहेतु क्या है ? उत्पन्न और अग्रज कुशलमूल स्वनिकाय और स्वभूमि के पश्चात् कुशलमूल और तत्संप्रयुक्त धर्मों के प्रति सभागहेतु है। इसी प्रकार अतीत कुशल-मूल अतीत और प्रत्युत्पन्न कुशलमूलों के प्रति सभागहेतु हैं ; अतीत और प्रत्युत्पन्न कुशलमूल अनागत कुशलमूलों के प्रति सभागहेतु हैं।”

२. दोष—अनागत धर्म सभागहेतु है क्योंकि इसी ज्ञानप्रस्थान में यह पठित है : “जो धर्म किसी धर्म का हेतु है क्या कोई ऐसा अध्व है जहाँ यह उसका हेतु न हो?—कभी ऐसा नहीं होता कि यह धर्म हेतु न हो (न कदाचिन्न हेतुः)।” [व्या १९९. २३]

^१ स्वनिकायभुवो

^२ अग्रजाः [व्या १९९. १८]

^३ परमार्थ के अनुसार—शुआन्-चाङ्ग में नहीं है, मूल में नहीं है।

वैभाषिक—यह वचन प्रथम का विरोध नहीं करता क्योंकि ज्ञानप्रस्थान की यहाँ अभिसन्धि [२५८] सभागहेतु से नहीं है किन्तु सहभूहेतु, संप्रयुक्तहेतु, विपाकहेतु से है।

एक दूसरे मत के अनुसार अर्थात् परमावस्थावादियों के अनुसार ज्ञानप्रस्थान के इस उत्तर का अभिप्राय कि “कभी ऐसा नहीं होता कि यह धर्म हेतु न हो” सभागहेतु से है और यह मत इस प्रकार निर्दुष्ट है : जायमान अवस्था में अनागत धर्म अवश्य सभागहेतु है। अतः अनागत धर्म की चरमावस्था को लक्ष कर ज्ञानप्रस्थान कह सकता है कि कभी ऐसा नहीं होता कि धर्म हेतु न हो और यह सदा हेतु है क्योंकि अनागत क्षणविशेष में यह हेतु है।

इस व्याख्यान से इस वादी के दोष का परिहार नहीं होता। वास्तव में यदि अनागत धर्म उत्पद्यमान अवस्था से पूर्व सभागहेतु न होकर पश्चात् हेतु होता है तो यह नित्य हेतु नहीं है, किन्तु ज्ञानप्रस्थान आत्यन्तिक रूप से कहता है कि ऐसा कभी नहीं होता कि यह हेतु न हो।

पुनः यह व्याख्यान ज्ञानप्रस्थान के उस उत्तर (२०, २, विभाषा, १७, १२) से अविरोध नहीं है जो वह एक दूसरे प्रश्न का देता है : “जो धर्म जिस धर्म का समनन्तर-प्रत्यय (२.६२ ए-बी) है क्या ऐसा कोई अध्व है जहाँ वह उसका समनन्तर न हो ?—हाँ, यदि यह धर्म उत्पन्न नहीं होता (यदि स धर्मो नोत्पन्नो भवति [व्या २००.६])”—किन्तु समनन्तर सभागहेतु के सदृश है : अनागत समनन्तर उत्पद्यमान अवस्था में समनन्तर होता है। अतः यदि “ऐसा कदाचित् नहीं होता कि यह धर्म हेतु न हो” इस उत्तर का यह अर्थ कि “अनागत उत्पद्यमान अवस्था में सभागहेतु है” यथार्थ है तो ज्ञानप्रस्थान को सभागहेतु के सदृश समनन्तर के लिये भी वही उत्तर देना चाहिये कि “ऐसा कभी नहीं होता कि यह धर्म समनन्तर न हो।” किन्तु ज्ञानप्रस्थान का उत्तर है कि “यह समनन्तर नहीं है यदि यह उत्पन्न नहीं होता।” अतः प्रथम उत्तर का ‘हेतु’ शब्द सभागहेतु के अर्थ में नहीं है।

‘परमावस्थावादी’ कहता है : ज्ञानप्रस्थान प्रथम प्रश्न के उत्तर में कहता है कि “ऐसा कभी नहीं होता कि यह हेतु न हो” और दूसरे के उत्तर में कहता है कि “यह हेतु नहीं है यदि यह उत्पन्न नहीं होता।” ऐसा यह प्रदर्शित करने के लिये है कि उत्तर के दो मुख हैं (द्विमुखप्रदर्शनार्थम् [व्या २००.८])। यथा द्वितीय प्रश्न का उत्तर है वैसा ही प्रथम का भी कर सकते हैं, यथा प्रथम प्रश्न का उत्तर है वैसा द्वितीय का भी कर सकते हैं।

[२५९] इसमें क्या गुण है ? शास्त्रकार का यहाँ अकौशल ज्ञात होता है ! अतः पूर्वक परिहार साधु है।

३. यदि अनागत धर्म सभागहेतु नहीं है तो प्रकरणपादशास्त्र का यह उपदेश क्यों है कि अनागत सत्कायदृष्टि सत्कायदृष्टि हेतुक है और सत्कायदृष्टि का हेतु है ? वास्तव में (पृ. २५१, टिप्पणी २ B १ b में उद्धृत वचन में यह पठित है : “अनागत सत्कायदृष्टि और तत्सं-

प्रयुक्त दुःखसत्य को स्थापित कर” (अनागतं सत्कायदृष्टिं तत्संप्रयुक्तं च दुःखसत्यं स्थापयित्वा)।^१

वैभाषिक का उत्तर है कि यह पाठ विनष्टक है। पाठ ऐसा होना चाहिये : “अनागत सत्काय-दृष्टि से संप्रयुक्त दुःखसत्य को स्थापित कर” (अनागतसत्कायदृष्टिसंप्रयुक्तम् (व्या २०१. ४]) । इसके मानने के लिये कि आपका पाठ प्रामाणिक है यह मानना होगा कि यह पाठ भाष्या-क्षेप से [अर्थात् पूर्वपद का अनुकरण कर] (भाष्याक्षेपात्) निर्वृत्त है, तन्त्र नहीं है (न तन्त्रम्) क्योंकि वचन का अर्थ इसी प्रकार जानना चाहिये (अर्थतो वैवम् बोद्धव्यम्) । [व्या २०१. १०] ।

[२६०] ४. यदि अनागत धर्म सभागहेतु नहीं है तो इस प्रज्ञप्ति भाष्य^१ का कैसे व्याख्यान करना चाहिये (कथं नीयते) ? वास्तव में इस शास्त्र में कहा है कि “सब धर्म चतुष्क में नियत हैं (चतुष्के नियताः [व्या २०१. १२]) : हेतु, फल, आश्रय, आलम्बन ।”^२

वैभाषिक उत्तर देता है : जब शास्त्र कहता है कि “ऐसा नहीं होता कि यह धर्म इस धर्म का कदाचित् हेतु न हो” तो उसका अभिप्राय सब प्रकार के हेतुओं से नहीं है। हेतु यहाँ संप्रयुक्तक हेतु और सहभूहेतु है। फल यहाँ अधिपतिकल और पुरुषकारफल (२.५८) है।^३ आश्रय से ६ इन्द्रिय (चक्षुरादि) और आलम्बन से रूपादि ६ विषय इष्ट हैं।

५. यदि अनागत धर्म सभागहेतु नहीं है तो सभागहेतु का पूर्व भाव नहीं है; इसका अभूत्वा भाव है (अभूत्वा भवति) ।

किन्तु वैभाषिक की ठीक यही प्रतिज्ञा है। सभागहेतु की सभागहेतुत्व-अवस्था पूर्व न थी, यह पहले न होकर अब होती है (अभूत्वा भवति) । किन्तु द्रव्य जो सभागहेतु-विशेष है अपूर्व

^१ वैभाषिक के प्रतिपक्षी के अनुसार प्रकरण की शिक्षा है कि अनागत सत्कायदृष्टि और तत्संप्रयुक्त धर्म सत्कायदृष्टि के फल और हेतु दोनों हैं। किन्तु अनागत सत्कायदृष्टि न सहभू-हेतु है, न संप्रयुक्तकहेतु और न विपाकहेतु। साधारण होने के कारण कारणहेतु की गणना नहीं करते। पारिशेष्य से यह सभागहेतु और सर्वत्रगहेतु हो सकता है।

वैभाषिक के अनुसार प्रकरण यहाँ अनागत सत्कायदृष्टि का उल्लेख नहीं करता किन्तु (वेद-नादि) धर्मों का करता है जो इस सत्कायदृष्टि से संप्रयुक्त हैं : यह सत्कायदृष्टि के सहभू-हेतु और संप्रयुक्तकहेतु हैं और सहभू-संप्रयुक्तक हेतुभूत सत्कायदृष्टि के फल हैं।

तीन पाठ हैं। दो पाठ जो यहाँ उद्धृत हैं उनके अतिरिक्त एक यह भी पाठ है : अनागतं च सत्कायदृष्टिसंप्रयुक्तं दुःखसत्यं स्थापयित्वा”, “अनागत और सत्कायदृष्टि-संप्रयुक्त दुःख-सत्य को भी स्थापित कर” (पृ. २५१, टिप्पणी २ B १ b देखिये)

^१ नीचे पृ. २७०, टिप्पणी २ देखिये।

^२ अर्थात् : “जिस धर्म का जो धर्म हेतु होता है वह धर्म कदाचित् उस धर्म का हेतु न हो ऐसा नहीं होता; जिस धर्म का जो धर्म फल होता है....; जिस धर्म का (चक्षुर्विज्ञान आदि का) जो धर्म (चक्षुरादि) आश्रय होता है.....; जिस धर्म का (चक्षुर्विज्ञान का) जो धर्म (रूपादि) आलम्बन होता है वह धर्म कदाचित् उस धर्म का आलम्बन न हो ऐसा नहीं होता।

^३ शुआन्-चाङ्ग के अनुसार : “हेतु से कारण, सहभू, संप्रयुक्तक और विपाकहेतु समझना चाहिये; फल से अधिपति, पुरुषकार और विपाकफल” ।—परमार्थ : “हेतु से संप्रयुक्तकहेतु, फल से अधिपति और पुरुषकारफल समझना चाहिये।”

नहीं है। अनागत धर्म सभागहेतु नहीं है; एक बार उत्पन्न होकर यह सभागहेतु होता है। वास्तव में हेतु-सामग्र्य का फल अवस्था है, द्रव्यधर्म नहीं है। [अनागतधर्म द्रव्यतः है; हेतुसामग्री उसे अतीत से वर्तमान में आनीत करती है, उसे वर्तमानावस्था से युक्त करती है और इसी से सभागहेतुत्व से युक्त करती है; ५.२५ देखिये]।

६. इसमें आप क्या दोष देखते हैं यदि अनागत धर्म उसी प्रकार सभागहेतु हो जिस प्रकार वह विपाकहेतु (२.५४ सी) है ?

[२६१] यदि यह सभागहेतु होता तो ज्ञानप्रस्थान में (ऊपर, पृ. २५७, पं. १५) इसका ग्रहण होता किन्तु ज्ञानप्रस्थान इस प्रश्न के उत्तर में कि 'सभागहेतु क्या है ?' केवल इतना कहता है कि अनागत कुशलमूल अनागत कुशलमूलों का सभागहेतु है।

हम नहीं समझते कि इस वचन में अनागत धर्म का अग्रहण हमारे विरुद्ध कोई तर्क है। वास्तव में इस वचन में केवल उन सभागहेतुओं का ग्रहण है जो फल-दान और फल-ग्रहण क्रिया में समर्थ हैं [व्या २०२ . ३] (फलदानग्रहणसमर्थ, २.५९)।

ऐसा नहीं है (नैतदस्ति) क्योंकि सभागहेतु का फल निष्पन्द-फल (२.५७ सी) है, हेतु-सदृश फल है और इस प्रकार का फल अनागत धर्म के अयुक्त है क्योंकि अनागत में पूर्व-पश्चिमता का अभाव है (पूर्वपश्चिमताभावात् [व्या २०२.१२])। दूसरी ओर यह युक्त नहीं है कि एक उत्पन्न धर्म-अतीत या प्रत्युत्पन्न-एक अनागत धर्म का निष्पन्द है यथा एक अतीत धर्म एक प्रत्युत्पन्न धर्म का निष्पन्द नहीं है क्योंकि हेतु के पूर्व फल नहीं होता।—अतः अनागत धर्म सभाग-हेतु है।

७. यदि ऐसा है तो अनागत धर्म विपाकहेतु (२.५४ सी) भी न होगा क्योंकि (१) विपाक-फल (२.५६ ए) का अपने हेतु के पूर्व और साथ अयोग है; (२) अनागत अध्व में पूर्व-पश्चिमता का अभाव है।

वैभाषिक उत्तर देता है कि ऐसा नहीं है। सभागहेतु और उसका निष्पन्द-फल सभाग-धर्म हैं। इस कल्पना में कि अनागत अवस्था में उनका अस्तित्व है, जहाँ पूर्व-पश्चिमता का अभाव है, वह अन्योन्यहेतु होते हैं और इसलिये अन्योन्यफल होते हैं किन्तु दो धर्मों की अन्योन्य-निष्पन्दता युक्तिमती नहीं है। इसके विपरीत विपाकहेतु और विपाक-फल असभाग हैं। यदि पूर्व-पश्चिमता का अभाव हो तो भी अन्योन्य हेतु-फलता का प्रसंग नहीं होता क्योंकि हेतु और फल के भिन्न-भिन्न [२६२] लक्षण हैं। सभागहेतु अवस्था व्यवस्थित है : अनागत धर्म सभागहेतु नहीं है। धर्म वर्तमाना-वस्था में, अतीतावस्था में, सभागहेतु होता है। विपाकहेतु लक्षण-व्यवस्थित है (लक्षणव्यव-स्थितस्तु विपाकहेतुः [व्या २०३.३])।

हमने कहा है कि एक धर्म केवल स्वभूमि के धर्मों का सभागहेतु होता है। क्या यह नियम सब धर्मों के लिये है ?

यह केवल सास्त्र-धर्मों के लिये है, अनास्त्र-धर्मों के लिये नहीं।

५२ सी-डी. किन्तु नवभूमिक-मार्ग अन्योन्य का सभागहेतु है ।^१

मार्ग इस अर्थ में नवभूमिक है—अनागम्य, ध्यानान्तर, चार मूलध्यान, प्रथम तीन अधर आरूप्य (६.२० सी)—कि योगी समापत्ति की इन ९ अवस्थाओं में विहार कर मार्ग की भावना कर सकता है ।

तुल्य भूमि-भेद में मार्ग-धर्म मार्ग-धर्म के सभागहेतु हैं । वास्तव में इन भूमियों में मार्ग आग-तृप्तु का सा है; यह भूमियों के धातुओं में पतित नहीं है । कामावचरी, रूपावचरी, आरूप्यावचरी तृष्णा मार्ग को स्वीकृत नहीं करती । चाहे जिस भूमि का संनिश्चय लेकर योगी मार्ग की भावना करता है मार्ग समानजातीय रहता है । अतः मार्ग मार्ग का सभागहेतु है ।

सर्व मार्ग सर्व मार्ग का सभागहेतु नहीं होता । जिस भूमि में इसकी भावना होती है उसका संप्रधारण नहीं करना है किन्तु मार्ग के स्वलक्षणों का विचार करना है ।

५२ डी. मार्ग सम या विशिष्ट मार्ग का सभागहेतु है ।^२

न्यून मार्ग का नहीं क्योंकि मार्ग सदा प्रयोगज है ।

[२६३] न्यून, सम, विशिष्ट मार्ग इन आख्याओं का हम व्याख्यान करते हैं ।

जब अतीत या प्रत्युत्पन्न दुःखे धर्मज्ञानक्षान्ति (दर्शनमार्ग का प्रथम क्षण, ६.२५ डी) उसी प्रकार अनागत क्षान्ति का सभागहेतु होती है तब कार्यमार्ग कारणमार्ग के सम होता है ।

जब यह क्षान्ति दुःखे धर्मज्ञान (दर्शनमार्ग का द्वितीय क्षण, ६.२६ ए) का सभागहेतु होती है तब कार्यमार्ग कारण मार्ग से विशिष्ट होता है ।

एवमादि यावत् अनुत्पादज्ञान (६.५०) जो अपना विशिष्ट न होने से केवल सममार्ग अर्थात् अनागत अनुत्पादज्ञान का सभागहेतु हो सकता है ।

२. विस्तार करते हैं । दर्शनमार्ग, दर्शनमार्ग भावनामार्ग और अशैक्षमार्ग का सभागहेतु है; भावनामार्ग भावनामार्ग और अशैक्षमार्ग का; अशैक्षमार्ग सम या विशिष्ट अशैक्षमार्ग का ।

३. सर्व मार्ग का अभ्यास मृद्विन्द्रिय या तीक्ष्णेन्द्रिय योगी कर सकता है : मृद्विन्द्रिय-मार्ग मृदु-तीक्ष्णेन्द्रिय-मार्ग का सभागहेतु है । तीक्ष्णेन्द्रियमार्ग तीक्ष्णेन्द्रियमार्ग का ही सभागहेतु है ।—अतः श्रद्धानुसारिमार्ग (६.२९) ६ का, श्रद्धाधिमुक्तमार्ग (६.३१) चार का, समयविमुक्तमार्ग (६.५६-७) दो मार्गों का सभागहेतु है । धर्मानुसारिमार्ग (६.२९) तीन का, दृष्टिप्राप्तमार्ग (६.३१) दो का और असमयविमुक्तमार्ग (६.५६-७) एक मार्ग का सभागहेतु है ।^१

^१ अन्योन्यं नवभूमिस्तु मार्गः [व्या २०३.१३]

^२ समविशिष्टयोः ॥ [व्या २०३.२६]

^३ श्रद्धानुसारिन्, श्रद्धाधिमुक्त और समयविमुक्त के मार्ग मृद्विन्द्रिय योगी के दर्शन, भावना (= शैक्ष) और अशैक्ष मार्ग हैं । धर्मानुसारिन् दृष्टिप्राप्त और असमयविमुक्त के मार्ग यथाक्रम तीक्ष्णेन्द्रिय योगी के यही मार्ग हैं ।

यदि ऊर्ध्वभूमिक-मार्ग अधोभूमिक-मार्ग का सभागहेतु होता है तो यह सम या विशिष्ट मार्ग का हेतु कैसे हो सकता है ?

[२६४] अधोभूमिक-मार्ग (१) इन्द्रियतः सम या विशिष्ट होता है क्योंकि सब भूमियों में इन्द्रिय मृदु या तीक्ष्ण हो सकती हैं; (२) हेतुपचयतः^१ सम या विशिष्ट होता है ।

यद्यपि एक सन्तान में अनुक्रम से श्रद्धानुसारिन् और धर्मानुसारिन् मार्ग का होना असंभव है तथापि प्रथम प्रत्युत्पन्न या अतीत, द्वितीय अनागत का सभागहेतु है ।^२

प्रयोगजास्तयोरेव श्रुतचिन्तामयादिकाः ।

संप्रयुक्तकहेतुस्तु चित्तचैताः समाश्रयाः ॥५३॥

क्या सम और विशिष्ट फल का नियम केवल अनास्रव-धर्मों के लिये अर्थात् मार्ग-संगृहीत धर्मों के लिये है ?

५३ ए. प्रायोगिक धर्म सम और विशिष्ट इन्हीं दो के सभागहेतु होते हैं ।^३

प्रयोगज लौकिक धर्म सम या विशिष्ट धर्मों के सभागहेतु होते हैं, हीन धर्मों के नहीं ।

प्रयोगज धर्म कौन हैं ?

५३ बी. जो श्रुतमय, चिन्तामय आदि हैं ।^४

‘प्रयोगज’ धर्म उपपत्ति-प्रतिलम्बिक-धर्मों के प्रतिपक्ष हैं । यह गुण श्रुत अर्थात् बुद्धवचन, चिन्ता और भावना से निर्वृत्त होते हैं ।

[२६५] प्रायोगिक होने से यह विशिष्ट या सम के सभागहेतु हैं, हीन के नहीं ।

कामावचर श्रुतमय धर्म कामावचर श्रुतमय और चिन्तामय धर्मों के सभागहेतु हैं, भावनामय धर्मों के नहीं क्योंकि कामधातु में भावनामय धर्मों का अभाव होता है, क्योंकि कोई भी धर्म स्वधातु के धर्मों का ही सभागहेतु होता है ।

रूपावचर श्रुतमय धर्म रूपावचर श्रुतमय और भावनामय धर्मों के सभागहेतु हैं, चिन्ता-

^१ यदि हम प्रथम १५ क्षणों का (दर्शनमार्ग, ६. २७) विचार करें तो अधोभूमिक द्वितीय क्षण ऊर्ध्वभूमिक प्रथम क्षण से विशिष्ट है क्योंकि इसके हेतु (१) प्रथम क्षण के हेतु हैं, (२) स्वहेतु हैं, एवमादि : भावनामार्ग के हेतु (१) दर्शनमार्ग के हेतु हैं, (२) स्वकीय हेतु हैं; अशैक्षमार्ग के हेतु (१) दर्शन और भावनामार्ग के हेतु हैं; (२) स्वकीय हेतु हैं ।

पुनः भावनामार्ग और अशैक्षमार्ग में मार्ग अधिमात्र-अधिमात्र, अधिमात्र-मध्य आदि ९ प्रकार के क्लेशों का विनाश करता है । यह उत्तरोत्तर मृदु-मृदु, मृदु-मध्य, मृदु-अधिमात्र, मध्य-मृदु आदि होता है ।—मृदु-मध्य मार्ग के हेतु (१) मृदु-मृदु मार्ग के हेतु हैं, (२) स्वकीय हेतु हैं ।

^२ अतः हम यह कह सकते हैं कि श्रद्धानुसारिमार्ग ६ मार्गों का सभागहेतु है । इस वाद से विवाद उत्पन्न होता है । आचार्य वसुभिन्न का यह मत अयुक्त है कि श्रद्धानुसारी इन्द्रिय-संचार कर सकता है । [व्या २०६. १९]

^३ [प्रायोगिकास्तयोरेव श्रुतचिन्तामयादयः]

मय धर्मों के नहीं, क्योंकि इस धातु में इन धर्मों का अभाव होता है : जब रूपधातु में चिन्तन आरम्भ करते हैं तब समाधि उपस्थित होती है ।

रूपावचर भावनामय धर्म रूपावचर भावनामय धर्मों के सभागहेतु हैं, रूपावचर श्रुतमय धर्मों के नहीं, क्योंकि यह हीन हैं ।

आरूप्यावचर भावनामय धर्म आरूप्यावचर भावनामय धर्मों के सभागहेतु हैं । इस धातु में श्रुतमय और चिन्तामय धर्मों का अभाव है ।

पुनः, प्रायोगिक धर्म ९ प्रकार के हैं : मृदु-मृदु, मृदु-मध्य आदि ।—मृदु-मृदु ९ प्रकार के धर्मों के सभागहेतु हैं; मृदु-मध्य मृदु-मृदु प्रकार को वर्जित कर आठ प्रकार के धर्मों के सभागहेतु हैं । यह नीति है ।

सर्व “उपपत्तिप्रतिलम्बिक” कुशल ९ प्रकार के हैं । यह परस्पर सभागहेतु हैं । क्लिष्ट धर्म भी इसी प्रकार के हैं ।

अनिवृताव्याकृत धर्म चार प्रकार के हैं (२, ७२); पश्चाद्वर्ती पूर्ववर्ती की अपेक्षा ‘विशिष्ट’ है : विपाकज धर्म (१. ३७), निषद्यादि ऐर्यापथिक धर्म, शैल्पस्थानिक धर्म और निर्माणचित्त (७. ४८) ।—यह चार प्रकार यथाक्रम चार, तीन, दो और एक प्रकार के सभागहेतु हैं ।

[२६६] पुनः क्योंकि कामावचर निर्माणचित्त चतुर्ध्यान (विभाषा, १८. ४) का फल हो सकता है अतः इसी विशेष को यहाँ व्यवस्थापित करने का अवकाश है : निर्माणचित्त के चार प्रकार हैं । यह अपने प्रकार के अनुसार यथाक्रम चार, तीन, दो या एक निर्माणचित्त के सभागहेतु हैं । वास्तव में जो निर्माणचित्त उत्तरध्यान का फल है वह उस निर्माणचित्त का सभागहेतु नहीं है जो अवरध्यान का फल है : महायत्नसाध्य (आभिसंस्कारिक) सभागहेतु (निर्माणचित्त) का हीयमान फल नहीं होता ।^१

इस नियम के व्यवस्थित होने पर निम्न प्रश्नों का विसर्जन करते हैं (अत एवाहुः [व्या २०८. २])^२:

१. क्या कोई उत्पन्न अनास्रवधर्म है जो अनुत्पत्तिधर्मा अनास्रवधर्म का हेतु न हो ?

हाँ । उत्पन्न दुःखे धर्मज्ञान अनुत्पत्तिधर्मा दुःखे धर्मज्ञानक्षान्तियों का हेतु नहीं है । पुनः विशिष्ट न्यून का हेतु नहीं है ।

२. क्या एक सन्ताननियत पूर्वप्रतिलब्ध (: जिसकी प्राप्ति का पूर्वलाभ हो चुका है) अनास्रवधर्म है जो पश्चादुत्पन्न अनास्रवधर्म का हेतु न हो ?

हाँ । अनागत दुःखे धर्मज्ञानक्षान्ति [किन्तु जिनकी प्राप्ति मार्ग के प्रथम क्षण में प्रतिलब्ध हो चुकी है] उत्पन्न दुःखे धर्मज्ञान का हेतु नहीं है । क्योंकि फल हेतु से पूर्व का नहीं होता अथवा क्योंकि अनागत धर्म सभागहेतु नहीं है ।

^१ आभिसंस्कारिकस्य सभागहेतोर्हीयमानं फलं न भवति । [व्या २०७. २८]

^२ परमार्थः आचार्य कहते हैं ।—विभाषा, १८, ५ ।

३. क्या पूर्वोत्पन्न अनास्रवधर्म है जो पश्चादुत्पन्न अनास्रवधर्म का हेतु न हो ?

हाँ । विशिष्ट (= अधिमात्र) न्यून का हेतु नहीं है । यथा जब उत्तरफल से परिहीण अधरफल का संमुखीभाव करता है तो उत्तरफल अधरफल का हेतु नहीं है । पुनः पूर्वोत्पन्न [२६७] दुःखे धर्मज्ञान की प्राप्ति उत्तरक्षणसहोत्पन्न (दुःखेऽन्यज्ञानक्षान्तिक्षणे आदि) दुःखे धर्मज्ञानक्षान्ति की प्राप्ति का सभागहेतु नहीं है क्योंकि यह नई प्राप्ति न्यून है ।

५३ सी-डी. केवल चित्त और चैत संप्रयुक्तकहेतु हैं ।^१

चित्त और चैत संप्रयुक्तकहेतु हैं ।

क्या इसका यह अर्थ है कि भिन्नकालज, भिन्नसन्तानज चित्त और चैत परस्पर संप्रयुक्तकहेतु हैं ?

नहीं ।

अतः क्या हम कहेंगे कि एकाकार अर्थात् एक नीलादि आकार और एकालम्बन अर्थात् एक नीलादि आलम्बन चित्त-चैत संप्रयुक्तकहेतु हैं ?

नहीं । इसमें भी वही प्रसंग उपस्थित होता है : भिन्नकालज और भिन्नसन्तानज चित्त और चैत का एक आकार और एक आलम्बन होता है ।

क्या हम कहेंगे कि एकाकार और एकालम्बन चित्त-चैतों को एक काल का भी होना चाहिये ?

यह पर्याप्त नहीं है क्योंकि एक काल में बहुजन नवचन्द्र का दर्शन करते हैं ।

अतः आचार्य इतना अधिक कहते हैं :

५३ डी. जिनका सम आश्रय है ।^२

जिन चित्त-चैतों का अभिन्न आश्रय है वह परस्पर संप्रयुक्तकहेतु हैं ।

‘सम’ का अर्थ ‘अभिन्न’ है ।^३

[२६८] यथा चक्षुरिन्द्रिय का एक क्षण (१) एक चक्षुर्विज्ञान, (२) विज्ञान-संप्रयुक्त वेदना और अन्य चैतों का आश्रय है । यही नीति अन्य इन्द्रियों के लिये है यावत् मनः मन-इन्द्रिय का एक क्षण एक मनोविज्ञान और तत्संप्रयुक्त चैतों का आश्रय है ।

जो संप्रयुक्तकहेतु है वह सहभूहेतु भी है । इन दो हेतुओं में क्या भेद है ?^४

धर्म सहभूहेतु कहलाते हैं क्योंकि वह अन्योन्यफल हैं (अन्योन्यफलार्थेन [व्या २०९.२२]) ।

यथा सहसार्थिकों का मार्गप्रयाण परस्पर बल से होता है इसी प्रकार चित्त चैत का फल है, चैत चित्त का फल है ।

^१ संप्रयुक्तकहेतुस्तु चित्तचैताः [व्या २०९.४]

व्याख्या : तु शब्दोऽवधारणे भिन्नक्रमश्च । [व्या २०९.५]

विभाषा, १६, १२—‘संप्रयुक्तों’ पर कथावत्यु, ७.२ ।

^२ समाश्रयाः ॥ [व्या २०९.२०]

^३ ‘सम’ का अर्थ ‘तुल्य’ भी होता है । अतः आचार्य स्पष्ट करते हैं ।

^४ विभाषा, १६, १५ इस वस्तु पर ६ मत देती है ।

धर्म संप्रयुक्तहेतु कहलाते हैं क्योंकि उनकी समप्रवृत्ति (समप्रयोगार्थेन [व्या २०९. २५] प्रयोग=प्रवृत्ति) होती है अर्थात् उनमें पूर्वनिर्दिष्ट (२. ३४) पांच समता होती हैं। सह-सार्थिकों की यात्रा अन्योन्य बल से होती है। पुनः उनकी समअन्नपानादि परिभोग-क्रिया होती है। इसी प्रकार चित्त और चैत के अभिन्न आश्रय, अभिन्न आकारादि होते हैं : यदि पांच समताओं में से किसी एक का भी अभाव हो तो उनकी समप्रवृत्ति नहीं होती और वह संप्रयुक्त नहीं होते।^१

सर्वत्रगाण्यः क्लिष्टानां स्वभूमौ पूर्वसर्वगाः।

विपाकहेतुरशुभाः कुशलाश्चैव सास्त्रवाः॥५४॥

५४ ए-बी. पूर्व सर्वग स्वभूमिक क्लिष्ट धर्मों के सर्वत्रगहेतु हैं।^१

[२६९] अनुशय कोशस्थान में (५. १२) हम सर्वग का व्याख्यान करेंगे। पूर्वोत्पन्न अर्थात् अतीत या प्रत्युत्पन्न, स्वभूमिक सर्वग स्वभूमिक पश्चिम क्लिष्ट धर्मों के जो संप्रयोग या समुत्थानवश (४. ९ सी) क्लेशस्वभाव हैं सर्वत्रगहेतु हैं।

सर्वग क्लिष्ट धर्मों के सामान्य कारण हैं। यह निकायान्तरीय क्लिष्ट धर्मों के भी हेतु हैं (निकाय, २. ५२ बी) : इनके प्रभाव से अन्य निकायों में उत्पन्न क्लेश सपरिवार उत्पन्न होते हैं (उपजायन्ते)।^१ अतः सभागहेतु से पृथक् इनकी व्यवस्था होती है।^२

क्या आर्य पुद्गल के क्लिष्टधर्म (रागादि) सर्वत्रगहेतुक हैं ? किन्तु आर्य के सब सर्वग प्रहीण हैं क्योंकि यह दर्शनप्रहातव्य हैं।

काश्मीर वैभाषिक स्वीकार करते हैं कि सब क्लिष्ट धर्मों के हेतु दर्शनप्रहातव्य धर्म हैं। क्योंकि प्रकरणपाद^३ के यह शब्द हैं : दर्शनप्रहातव्य धर्म किन धर्मों के हेतु होते हैं ?—क्लिष्ट धर्म^४ और दर्शनप्रहातव्य धर्मों के विपाक के।—अव्याकृत किन धर्मों के हेतु होते हैं ?—अव्याकृत^५ संस्कृत धर्म और अकुशल धर्मों के।—क्या कोई दुःखसत्य है जो सत्कायदृष्टिहेतुक हो और जो सत्कायदृष्टि का हेतु न हो ?

^२ यथा तेषां समान्नपानस्नानशयनादिपरिभोगक्रियायां प्रयोगस्तद्वत् समप्रयोगत्वम् एषामन्योन्यं भवति । अत एवाह । एकेन हि विना न सर्वे संप्रयुज्यन्ते । [व्या २०९. २६]

^३ सर्वत्रगाण्यः क्लिष्टानां स्वभूमौ पूर्वसर्वगाः । [व्या २०९. ३०]

^४ दुःखदर्शनप्रहातव्य सर्वत्रगहेतु से समुदय-निरोध-मार्ग-दर्शनप्रहातव्य और भावनाप्रहातव्य क्लेश प्रवृत्त होते हैं। समुदयदर्शनप्रहातव्य सर्वत्रगहेतु से दुःख-निरोध-मार्ग-दर्शन-प्रहातव्य और भावनाप्रहातव्य क्लेश प्रवृत्त होते हैं

^५ इन्हें 'सर्वग' कहते हैं क्योंकि यह सर्वक्लेश-निकायों को प्राप्त होते हैं (गच्छन्ति), सर्वभाक् होते हैं (भजन्ते), सबको आलम्बन बनाते हैं (आलम्बन्ते) अथवा क्योंकि यह सर्वक्लेश-निकायों के हेतुभाव को प्राप्त होते हैं (हेतुभावं गच्छन्ति) । [व्या २१०. १२]

^६ ऊपर पृ० २५१ देखिये ।

^७ क्योंकि शास्त्र में 'क्लिष्टधर्म' यह शब्द अविशेषित हैं इसलिये पृथग्जन और आर्य दोनों के क्लिष्टधर्म इष्ट हैं ।

^८ अव्याकृत संस्कृत धर्म—निवृताव्याकृत और अनिवृताव्याकृत—इष्ट हैं। आकाश और अप्रति-संख्याननिरोध इन दो अव्याकृत असंस्कृत का निरास है । [व्या २१०. २१]

[२७०]...एवमादि यावत् : अनागत^१ सत्कायदृष्टि की तथा तत्संप्रयुक्त की जाति-जरा-स्थिति-अनित्यता को स्थापित कर अन्य सर्व क्लिष्ट दुःखसत्य ।”

आक्षेप—यदि अकुशल अव्याकृतहेतुक हों, केवल अकुशलहेतुक न हों, तो इस प्रज्ञप्ति-भाष्य का^२ व्याख्यान कैसे करना चाहिये ? “क्या कोई अकुशलधर्म है जो केवल अकुशल-हेतुक हो ?—हाँ । प्रथमतः क्लिष्टचेतना जिसका संमुखीभाव कामवैराग्य से परिहीयमाण आर्य-पुद्गल करता है ।”^३

उत्तर—दर्शनप्रहातव्य अव्याकृत धर्म इस अकुशल चेतना के सर्वत्रगहेतु हैं । यदि प्रज्ञप्ति में यह उक्त नहीं है तो इसका कारण यह है कि प्रज्ञप्ति की अभिसन्धि केवल अप्रहीण हेतु से है ।

[२७१] ५४ सी-डी. अकुशल धर्म और कुशल सास्त्रव धर्म विपाकहेतु हैं ।^४

१. अकुशल धर्म जो अवश्य सास्त्रव हैं और कुशल सास्त्रव धर्म केवल विपाकहेतु हैं क्योंकि इनकी विपक्ति की प्रकृति है (विपाकधर्मत्वात् = विपक्तिप्रकृतित्वात् [व्या २११.१६]) ।

अव्याकृत धर्म विपाकहेतु नहीं हैं क्योंकि वह दुर्बल हैं । यथा पूतिबीज अभिष्यन्दित होने पर भी अंकुरोत्पत्ति में हेतु नहीं होते ।

^१ परमार्थ में ‘अनागत’ शब्द नहीं है और इसमें सन्देह नहीं है कि यह मूल में भी नहीं है । ऊपर पृ० २५२ देखिये ।

^२ व्याख्या के अनुसार मूल में है : इदं तर्हि प्रज्ञप्तिभाष्यम् . . . —शुभान्-चाङ्ग का अनुवाद : “प्रज्ञप्तिपादशास्त्र का व्याख्यान कैसे करना चाहिये ।” क्योंकि “प्रज्ञप्ति के इस भाष्य” से अभिप्राय “उस व्याख्यान से है जिसे हम प्रज्ञप्ति में पढ़ते हैं ।” —कर्मप्रज्ञप्ति, अध्याय ९. (एम डी ओ, ६३ पृ० २२ ९ बी-२३६ ए) के तिब्बती भाषान्तर को देखिये : § १ क्या कोई अतीत चेतना है जो अतीत हेतु से उत्पन्न होती है, अनागत, प्रत्युत्पन्न हेतु से नहीं ? . . . § २. क्या कोई कुशल धर्म है जो कुशल हेतुओं से उत्पन्न होते हैं ? . . . क्या कोई अव्याकृत धर्म है जो अकुशल हेतुओं से उत्पन्न होते हैं ? हाँ । (१) जो धर्म अकुशल कर्म के विपाक हैं; (२) सत्कायदृष्टि और अन्तर्ग्राहदृष्टि से संप्रयुक्त कामावचर धर्म । § ३. क्या कोई कुशल धर्म है जो केवल कुशल हेतुओं से उत्पन्न होते हैं ? हाँ । बोध्यगों से संप्रयुक्त चेतना क्या कोई अकुशल धर्म है जो केवल अकुशल हेतुओं से उत्पन्न होते हैं ?” जे० तकाकुमु (जे० पी० टी० एस० १९०५ पृ० ७७) से हमको ज्ञात हुआ कि चीनी भाषा में कर्मप्रज्ञप्ति अब नहीं है । नैज्जियो १३१७ में कारणप्रज्ञप्ति है; नैज्जियो १२९७ में लोक-प्रज्ञप्ति के सदृश एक ग्रन्थ है । कास्मालाजी बुद्धीक पृ० २९५-३५० में इन दो प्रज्ञप्तियों का संक्षेप मिलाया ।

^३ स्यात् । आर्यपुद्गलः कायवैराग्यात् परिहीयमाणो यां तत्प्रथमतः क्लिष्टां चेतनां संमुखीकरोति [व्या २११.४]—“कायवैराग्य से परिहाण के काल में आर्यपुद्गल की अकुशल चेतना सहभूहेतु और संप्रयुक्तहेतु से केवल अकुशलहेतुक होती है । क्योंकि आर्य की सत्कायदृष्टि और अन्तर्ग्राहदृष्टि प्रहीण हैं इसलिये ये अव्याकृतहेतुक नहीं हैं” : चोदक का यह निरूपण है ।

^४ विपाकहेतुरशुभाः कुशलाश्चैव सास्त्रवाः ।
अव्याकृतधर्मों में स्वशक्ति का अभाव होता है : अनास्त्रव धर्मों में सहकारिकारण नहीं होता ।
—३. ३६ बी देखिये ।

अनास्रव धर्म विपाकहेतु नहीं हैं क्योंकि वह तृष्णा से अभिष्यन्दित^२ नहीं हैं। यथा सार-बीज जल से अभिष्यन्दित न होने पर अंकुर की अभिनिर्वृत्ति नहीं करते।

पुनः अनास्रव धर्म किसी धातु में प्रतिसंयुक्त नहीं हैं : तज्जमित विपाकफल किस धातु में प्रतिसंयुक्त होगा ?

जो धर्म अव्याकृत और अनास्रव नहीं हैं वह उभय प्रकार से अर्थात् स्ववल और तृष्णाभिष्यन्द से अन्वित होते हैं और विपाक को निर्वृत्त करते हैं। यथा अभिष्यन्दित सारबीज।

२. आक्षेप—“विपाकहेतु” शब्द का क्या अर्थ है ? इस समासान्त पद के दो अर्थों में से चुनाव करना है : विपाकहेतु का अर्थ या तो ‘विपाक का हेतु’ है या ‘विपाक एव हेतु’ है। पहले अर्थ में ‘अ’ (घञ्) प्रत्यय भावसाधन है : विपाक (= विपक्वित) वि-पच् धातु से इंगित क्रिया का फल है। दूसरे अर्थ में ‘अ’ प्रत्यय कर्मसाधन है : विपाक वह है जो विपच्यमान होता है (विपच्यते) अर्थात् फलकालप्राप्त कर्म।—आप इनमें से कौन अर्थ स्वीकार करते हैं ? यदि आप पहले अर्थ को स्वीकार करते हैं तो आप इस वचन को (ज्ञानप्रस्थान, ११, ९) कैसे युक्त सिद्ध करते हैं : “चक्षु विपाक से उत्पन्न होता है (विपाकजं चक्षुः) ?”

[२७२] यदि आप दूसरे अर्थ का परिग्रह करते हैं तो “कर्मजो विपाकः” इस पद को आप कैसे सिद्ध करते हैं ?

हमने पूर्व (१.३७) कहा है कि विपाक शब्द के उभय अर्थ युक्त हैं। जब फल की विवक्षा होती है तब विपाक शब्द का परिग्रह पहले अर्थ में होना चाहिये। अर्थ यह है : परिणाम, विपाक। “चक्षु विपाकज है” इस वचन को इस अर्थ में ग्रहण करना चाहिये : “चक्षु विपाकहेतु से उत्पन्न होता है।”

३. ‘वि-पाक’ इस समास का क्या अर्थ है ?

‘वि’ उपसर्ग ‘भेद’ के अर्थ में है। विपाक वह पाक है जो स्वहेतु से विसदृश है।^३

^२ महाव्युत्पत्ति, २४५, १८१। सिद्धि, ४८८.

^३ यहाँ शुआन्-चाङ्ग कुछ सूचनाएं देते हैं जो परमार्थ में नहीं हैं :

वैभाषिकों के अनुसार ‘वि’ उपसर्ग भेदज्ञापक है : ‘विपाक’ का अर्थ है ‘विसदृश पाक’ (महाव्युत्पत्ति, २४५, १८२)। अर्थात् : केवल विपाकहेतु एक विसदृश पाक ही प्रदान करता है। सहभू, संप्रयुक्तक, सभाग, सर्वत्रगहेतु के पाक सदृश ही (कुशल, अकुशल, अव्याकृत) होते हैं। कारणहेतु का फल सदृश या विसदृश होता है। केवल विपाकहेतु नित्य विसदृश फल देता है : क्योंकि विपाकहेतु कभी अव्याकृत नहीं होता और उसका फल सदा अव्याकृत होता है।

[सौत्रान्तिकों के अनुसार] दो अवस्थाओं में फल ‘विपाक’ की संज्ञा प्राप्त करता है : इसे सन्तानपरिणामविशेष से उत्पन्न होना चाहिये। (ऊपर पृ. १८५ देखिये)। इसे अधिमात्र या न्यून हेतुबल के कारण दीर्घ या अल्प काल तक अवस्थान करना चाहिये। किन्तु सहभू और संप्रयुक्तक इन दो हेतुओं से निर्वृत्त फल पहली अवस्था के नहीं होते क्योंकि यह हेतु एक ही काल में अपने फल का आक्षेप और परिसमाप्ति करते हैं (२.५९); और कारण, सभाग, सर्वत्रग इन तीन हेतुओं से निर्वृत्त फल दूसरी अवस्था के नहीं होते : क्योंकि संसार

यह कैसे ?

कामधातु में (१) एकस्कन्धक विपाकहेतु का एक फल होता है : स्वलक्षण (२.४५ सी) सहित प्राप्ति (२.३६बी); (२) द्विस्कन्धक विपाकहेतु का एक फल होता है : काय-वाक्-कर्म और उनकी जात्यादि; (३) चतुःस्कन्धक विपाकहेतु का एक फल होता है : स्वलक्षणसहित कुशल और अकुशल चित्त-चैत ।

[२७३] रूपधातु में (१) एकस्कन्धक विपाकहेतु का एक फल होता है : जात्यादि-सहित प्राप्ति, जात्यादिसहित असंज्ञिसमाप्ति (२.४२ ए); (२) द्विस्कन्धक विपाकहेतु का एक फल होता है : स्वलक्षणसहित प्रथम ध्यान की विज्ञप्ति (४.२); (३) चतुःस्कन्धक विपाकहेतु का एक फल होता है : असमाहित (क्योंकि समाहित चित्त में सदा संवरूप, ४.१३ होता है, अतः उसमें पंचस्कन्ध होते हैं) कुशलचित्त और उसके लक्षण ; (४) पंचस्कन्धक विपाकहेतु का एक फल होता है : समाहित चित्त और उसके लक्षण ।

आरूप्यधातु में (१) एकस्कन्धक विपाकहेतु का एक फल होता है : स्वलक्षणसहित प्राप्ति और निरोधसमाप्ति (२.४३); (२) चतुःस्कन्धक विपाकहेतु का एक फल होता है : स्वलक्षणसहित चित्त और चैत ।

४. एक कर्म है जिसका विपाक केवल एक आयतन में अर्थात् केवल धर्मायतन (१.१५) में संगृहीत है : वह कर्म जिसका विपाक जीवितेन्द्रिय है (२.४५ ए) ।^१ वास्तव में जिस कर्म का विपाक जीवितेन्द्रिय है जीवितेन्द्रिय और उसके जात्यादि (२.४५ सी) अवश्य उस कर्म के विपाक होते हैं । दोनों धर्मायतन में संगृहीत हैं ।

जिस कर्म का मन-इन्द्रिय विपाक है उसके दो आयतन—मन-आयतन (१.१६ बी) और धर्मायतन (जिसमें वेदनादि और मन-इन्द्रिय के सहभू जात्यादि होते हैं)—अवश्य विपाक होते हैं ।

[२७४] जिस कर्म का विपाक स्पष्टव्यायतन (१.१० डी) होता है उसके अवश्य दो

में इन फलों के पौनःपुन्येन उत्पाद की कोई मर्यादा नहीं है—अतः विपाक का केवल एक ही अर्थ है : विपरिणाम (?) और पाक ।”

^१ अस्ति कर्म यस्यैकमेव धर्मायतनं विपाको विपच्यते [व्या २१३.१२] ।—विभाषा १९, १४—शुआन्-चाङ्ग : “जो कर्म जीवितेन्द्रियादि का उत्पाद करता है ।” ‘आदि’ से निकाय-सभाग और लक्षण अभिप्रेत है ।

आचार्य वसुमित्र इस प्रतिज्ञा को नहीं स्वीकार करते । जीवितेन्द्रिय आक्षेपककर्म (४.९५) का फल है । यदि जीवित विपाक कामधातु में विपच्यमान होता है (विपच्यते) तो कललादि अ वस्था में कायेन्द्रिय और जीवितेन्द्रिय अवश्य होते हैं; अन्त की अवस्थाओं में पांच अन्य इन्द्रिय और होते हैं । यदि जीवितेन्द्रिय रूपधातु में विपच्यमान होता है तो सात आयतन होते हैं; आरूप्यधातु में मन-आयतन और धर्मायतन होते हैं । यशोमित्र इन सूचनाओं का विचार करते हैं और संघभद्र को उद्धृत करते हैं । यशोमित्र जिस प्रतिज्ञा का विरोध करते हैं वह आरूप्यधातु से संबन्ध रखती है : एक क्षणविशेष में आरूप्योपपन्न सत्त्व का विपाकज चित्त (मन-आयतन) नहीं होता ।

आयतन विपाक होते हैं अर्थात् स्पष्टव्यायतन और धर्मायतन (जिसमें स्पष्टव्य के जात्यादि संगृहीत हैं) ।

जिस कर्म का विपाक कायायतन (१.९ ए) है उसके अवश्य तीन आयतन विपाक होते हैं—कायायतन, स्पष्टव्यायतन (अर्थात् भूतचतुष्क जो कायायतन के आश्रय हैं), धर्मायतन (जिसमें जात्यादि संगृहीत हैं) ।

इसी प्रकार जिस कर्म का विपाक रूप, गन्ध या रसायतन है उसके अवश्य तीन आयतन विपाक होते हैं : स्पष्टव्यायतन और धर्मायतन—यथापूर्व और रूप, गन्ध और रसायतन में से अन्यतम यथा योग ।

जिस कर्म का विपाक चक्षु, श्रोत्र, घ्राण या जिह्वायतन है उसके अवश्य चार आयतन होते हैं : (१) चार इन्द्रियों में से एक, (२) कायायतन, (३) स्पष्टव्यायतन, (४) धर्मायतन । एक कर्म के ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११ आयतन विपाक होते हैं ।^१

वास्तव में कर्म दो प्रकार के हैं : एक जिनका फल विचित्र है, दूसरे जिनका फल अविचित्र है । बाह्य बीजवत् : पद्म, दाडिम, न्यग्रोध, यव, गोधूमादि ।

५. एकाध्वक कर्म का त्रैयध्वक^२ विपाक विपच्यमान होता है किन्तु विपर्यय नहीं होता^३ क्योंकि फल हेतु से अतिन्यून नहीं होता (माभूद् अतिन्यूनं हेतोः फलम् [व्या २१५.१६] । एकक्षणिक कर्म का विपाक बहुक्षणिक हो सकता है किन्तु उसी कारण से विपर्यय ठीक नहीं है (विभाषा, १९, १६) ।

[२७५] कर्म के साथ विपाक विपच्यमान नहीं होता क्योंकि जिस क्षण में कर्म का अनुष्ठान होता है उस क्षण में विपाकफल का आस्वादन नहीं होता ।^४ कर्म के अनन्तर भी विपाक नहीं होता क्योंकि समनन्तर क्षण समनन्तरप्रत्यय (२.६३ बी) से आकृष्ट होता है : वास्तव में विपाकहेतु अपने फल के लिये प्रवाहपेक्ष है ।

इन ६ हेतुओं में से कोई एक हेतु होने के लिये धर्म को किस अध्व का होना चाहिये ? हमने अर्थतः इनका अध्व-नियम कहा है किन्तु कारिका में इसका निर्देश नहीं किया है :

सर्वत्रगः सभागद्वच द्व्यध्वगौ त्र्यध्वगास्त्रयः ।

संस्कृतं सविसंयोगं फलं नासंस्कृतस्य ते ॥५५॥

५५ ए-बी. सर्वत्रगहेतु और सभागहेतु दो अध्व के होते हैं; तीन हेतु त्र्यध्वक हैं ।^५

^१ कभी १२ विपाक नहीं होते क्योंकि शब्दायतन अविपाक-स्वभाव है । (१.३७ बी-सी)

^२ पूर्वकृत कर्म का विपाक आरब्ध होता है, प्रत्युत्पन्नक्षण में उसकी स्थिति होती है, अनागत में वह प्रवृत्त होता है ।

^३ जापानी संपादक दीर्घकालीन कर्म के दृष्टान्तस्वरूप बोधिसत्वकी वीरचर्या का उल्लेख करते हैं ।

^४ न च कर्मणा सह विपाको विपच्यते । [व्या २१५.१७]

^५ [सर्वत्रगः सभागद्वच द्व्यध्वगौ त्र्यध्वगास्त्रयः ।

२.५९ से तुलना कीजिये । [व्या २१७.१४]

अतीत-प्रत्युत्पन्न धर्म सर्वत्रग, सभागहेतु (२.५२ बी) हो सकते हैं। अतीत, प्रत्युत्पन्न और अनागत धर्म संप्रयुक्तक, सहभू और विपाकहेतु हो सकते हैं। कारिका कारणहेतु (२. ५० ए) का उल्लेख नहीं करती : सर्वाध्वग संस्कृत धर्म कारणहेतु हैं; असंस्कृत धर्म अध्व-विनिर्मुक्त हैं।

वह कौन फल है जिसके यह हेतु हैं ? किन फलों के कारण यह हेतु अवधारित होते हैं ?
५५ सी-डी. संस्कृत और विसंयोग फल हैं।^१

मूलशास्त्र में कहा है कि “कौन धर्म फल हैं ?—संस्कृत और प्रतिसंख्याननिरोध।”^२

[२७६] आक्षेप—यदि असंस्कृत फल है तो इसका एक हेतु होना चाहिये जिस हेतु के लिये कह सकें कि इस हेतु का यह फल है। पुनः क्योंकि आप इसे कारणहेतु (२. ५० ए) मानते हैं इसलिये इसका फल होना चाहिये जिस फल के लिये कह सकें कि इस फल का यह हेतु है।

सर्वास्तिवादिन् उत्तर देता है कि केवल संस्कृत के हेतु-फल होते हैं।

५५ डी. असंस्कृत के हेतु और फल नहीं होते।^३

क्योंकि षड्विध हेतु और पंचविध फल असंस्कृत के लिये असंभव है।

(१) १. क्यों नहीं मानते कि मार्ग का वह भाग जिसे आनन्तर्यमार्ग^४ कहते हैं विसंयोगफल (२. ५७ डी) का कारणहेतु है ?

हमने देखा है कि कारणहेतु वह हेतु है जो उत्पाद में विघ्न नहीं करता किन्तु असंस्कृत होने से विसंयोग का उत्पाद नहीं होता। उसका कारणहेतु के समान आनन्तर्यमार्ग नहीं होता।

२. अतः विसंयोगफल कैसे है ? यह किसका फल है ?

यह मार्ग का फल है क्योंकि इसकी प्राप्ति मार्गबल (६. ५१) से होती है : दूसरे शब्दों में योगी मार्ग से विसंयोग की प्राप्ति (२. ३६ सी-डी) का प्रतिलाभ करता है।

^१ संस्कृतं सविसंयोगं फलम्

विसंयोग अर्थात् विसंयोगफल (२. ५७ डी, ६. ४६) प्रतिसंख्याननिरोध या निर्वाण (१. ६) है। यह एक असंस्कृत है। यह अहेतुक है, इसका फल नहीं है, किन्तु यह कारणहेतु (२. ५० ए) है, यह फल है (२. ५७ डी)।

^२ ज्ञानप्रस्थान, ५. ४; प्रकरण, ३३ बी, १६। हम इसका उद्धार कर सकते हैं : फलधर्माः कतमे। सर्वे संस्कृताः प्रतिसंख्याननिरोधश्च। न फलधर्माः कतमे। आकाशम् अप्रतिसंख्याननिरोधः। सफलधर्माः कतमे। सर्वे संस्कृताः। अफलधर्माः कतमे। सर्वे असंस्कृताः। “कौन धर्म फल हैं ? सब संस्कृत और प्रतिसंख्याननिरोध। कौन धर्म फल नहीं हैं ? आकाश और अप्रतिसंख्याननिरोध। किन धर्मों का फल होता है ? सर्व संस्कृत। किन धर्मों का फल नहीं होता ? सर्व असंस्कृत।” तशो, २६, पृ० ७१४, ७१६

^३ नासंस्कृतस्य ते [व्या २१८. ६]

मिलिन्द, २६८-२७१।

^४ आनन्तर्यमार्ग क्लेश का समुच्छेद करता है और उसके अनन्तर विमुक्तिमार्ग होता है जिसमें योगी विसंयोग की प्राप्ति का ग्रहण करता है, ६. २८।

३. अतः विसंयोग का प्रतिलाभ (प्राप्ति) मार्ग का फल है, विसंयोग स्वयं फल नहीं है क्योंकि मार्ग का सामर्थ्य विसंयोग की प्राप्ति के प्रति है, विसंयोग के प्रति उसका असामर्थ्य है।

[२७७] विपर्यासि ! एक भाग के प्रतिलाभ और दूसरे के विसंयोग के प्रति मार्ग के सामर्थ्य में विविधता है।

मार्ग प्रतिलाभ का उत्पाद करता है; मार्ग विसंयोग की प्राप्ति कराता है (प्रापयति)। अतः यद्यपि मार्ग विसंयोग (=प्रतिसंख्याननिरोध) का हेतु न हो तथापि हम यह कह सकते हैं कि यह मार्ग का फल है।^१

४. क्योंकि असंस्कृत का अधिपति-फल (२.५८ डी) नहीं है इसलिये उसे कारणहेतु कैसे कह सकते हैं ?

असंस्कृत कारणहेतु है क्योंकि धर्मों की उत्पत्ति के प्रति इसका अनावरणभाव है किन्तु इसका फल नहीं है क्योंकि अध्व-विनिर्मुक्त होने से यह फल के प्रतिग्रहण और दान में असमर्थ है (२.५९ ए-बी)।

५. असंस्कृत हेतु है इसका सौत्रान्तिक प्रतिषेध करते हैं। वास्तव में सूत्र यह नहीं कहता कि हेतु असंस्कृत है। यह पर्याय से कहता है कि केवल संस्कृत हेतु है : “जो हेतु, जो प्रत्यय रूप विज्ञान का उत्पाद करते हैं वह भी अनित्य हैं।^२ अनित्य हेतु और प्रत्ययों से उत्पन्न रूप विज्ञान कैसे नित्य होंगे ?”

^१ कुछ आचार्यों का मत है कि ५ प्रकार के हेतु हैं : (१) कारकहेतु, बीज अंकुर का कारक-हेतु है; (२) ज्ञापकहेतु, अग्नि का धूम; (३) व्यञ्जक, घट का दीप; (४) ध्वंसक, घट का सुद्वगर; (५) प्रापक, देशान्तर का रथ। [व्या २१७. ३३]

^२ ये हेतवो ये प्रत्यया रूपस्य. . . विज्ञानस्योत्पादाय तेऽप्यनित्याः (संयुक्त, १, ५) [व्या २१८. २०]।

(५ से परमार्थ का स्पष्ट मत-भेद है।)

सौत्रान्तिक का उत्तर : सूत्र में केवल जनक उक्त है।

अतः असंस्कृत [यद्यपि अनित्य नहीं है] आलम्बन-प्रत्यय हो सकता है। वस्तुतः इसमें केवल इतना उल्लेख है कि जो हेतु-प्रत्यय विज्ञान का उत्पाद करते हैं वह अनित्य हैं। इसमें यह उक्त नहीं है कि विज्ञान के सब प्रत्यय अनित्य हैं।

सर्वास्तिवादिन् का उत्तर : क्या यह केवल जनकहेतु को अनित्य नहीं कहता ? अतः यह इसका प्रतिषेध नहीं करता कि असंस्कृत केवल इस कारण कारणहेतु है क्योंकि वह अविद्यनभाव से अवस्थित है।

सौत्रान्तिक का उत्तर :—सूत्र-वचन है कि असंस्कृत आलम्बन-प्रत्यय है। इसमें यह उक्त नहीं है कि यह कारणहेतु है। अतः उसका लक्षण इस प्रकार नहीं होना चाहिए—“वह हेतु जो विघ्नकारी नहीं है।”

टिप्पणी १, इस पर विभाषा, १६, पृ० ७९, २ : एकोत्तर में १ से १०० तक धर्म परिगणित थे किन्तु अब १० पर अवसान है और १-१० में भी कई विनष्ट हो गये हैं, स्वल्प ही अवशिष्ट हैं। आनन्द के निर्वाण पर ७७००० अवदान और सूत्र तथा १०००० शास्त्र विनष्ट हो गये।

सर्वास्तिवादिन् उत्तर देता है : यदि नित्य, असंस्कृत हेतु नहीं है तो यह विज्ञान का आलम्बन-प्रत्यय (२.६३) भी नहीं होगा ।

सौत्रान्तिक—सूत्र में अवधारण है कि जो हेतु और प्रत्यय उत्पाद में समर्थ हैं वह अनित्य हैं । सूत्र यह नहीं कहता कि विज्ञान के सब प्रत्यय अनित्य हैं । अतः असंस्कृत विज्ञान का आलम्बन-प्रत्यय हो सकता है क्योंकि 'आलम्बन-प्रत्यय' जनक नहीं है ।

[२७८] सर्वास्तिवादिन्—सूत्र जनक हेतुओं के लिये कहता है कि यह अनित्य हैं । अतः सूत्र असंस्कृत के कारणहेतुत्व का प्रतिषेध नहीं करता क्योंकि उसका अनावरणभावमात्र है ।

सौत्रान्तिक—सूत्र में आलम्बन-प्रत्यय (२.६१ सी) उक्त है किन्तु कारणहेतु उक्त नहीं है जो विघ्न नहीं करता । अतः यह असंस्कृत का हेतुत्व सिद्ध नहीं करता ।

सर्वास्तिवादिन्—वास्तव में सूत्र यह नहीं कहता कि जो विघ्नभाव में अवस्थान नहीं करता वह हेतु है । किन्तु यह उसका विरोध भी नहीं करता । बहुत से सूत्र अन्तर्हित हो गये हैं ।^१ इसका निश्चय कैसे करें कि सूत्र में असंस्कृत का कारणहेतुत्व उक्त नहीं है ?

(२) सौत्रान्तिक—विसंयोग धर्म क्या है ?

सर्वास्तिवादिन्—मूलशास्त्र (ज्ञानप्रस्थान, २, २) कहता है कि विसंयोग प्रतिसंख्या-निरोध (२.५७ डी) है ।

सौत्रान्तिक—मैंने जब आपसे प्रश्न किया (१.६) कि प्रतिसंख्यानिरोध क्या है तब आपने उत्तर दिया कि "यह विसंयोग है ।" मैं आपसे पूछता हूँ कि विसंयोग क्या है और आप यह उत्तर देते हैं कि "यह प्रतिसंख्यानिरोध है ।" यह चक्रक है और इससे असंस्कृत धर्म जिसका यहाँ विचार हो रहा है उसके स्वभाव का व्याख्यान नहीं होता । आपको कोई दूसरा व्याख्यान करना चाहिये ।

सर्वास्तिवादिन्—यह धर्म स्वभाववश द्रव्य है, अवाच्य है । केवल आर्य इसका 'साक्षात्कार' करते हैं, इसका प्रत्यात्मसंवेदन होता है । इसके सामान्य लक्षणों का यह कहकर निर्देशमात्र हो सकता है कि यह दूसरों से भिन्न एक कुशल, नित्य द्रव्य है जिसकी संज्ञा प्रतिसंख्यानिरोध है और जिसे विसंयोग भी कहते हैं ।

(३) सौत्रान्तिक की प्रतिज्ञा है कि असंस्कृत, त्रिविध असंस्कृत, (१.५ बी) द्रव्य नहीं है । तीन धर्म जिनका यहाँ प्रश्न है रूपवेदनादि के समान द्रव्यान्तर, भावान्तर नहीं हैं ।^२

^१ सूत्राणि च बहून्त्यन्तर्हितानि मूलसंगीतिभ्रंशात् [व्या २१८.२९]

^२ हम ऐसा विचार सकते हैं कि आगे के पृष्ठों में वसुबन्धु सर्वास्तिवादिन्-वैभाषिक के तर्कों के साथ पूरा न्याय नहीं करते । वह उन वचनों का, यथा उदान, ८.३ का (इतिवृत्तक, ४३' उदानवर्ग, २६.२१) उल्लेख नहीं करते जो निर्वाण के द्रव्यत्व की संभावना को कम कर देते हैं ।—संभ्रम वसुबन्धु और अन्य आचार्यों का खण्डन करते हैं जो असंस्कृत का प्रतिषेध करते हैं (न्यायानुसार, २३.३, ९० बी ४—९५ बी) । उनका व्याख्यान अतिविस्तृत है । इसलिये उसके लिये यहाँ स्थान नहीं है । हम भूमिका में कम से कम उसके एक अंश का अनुवाद देंगे ।

[२७९] १. जिसे 'आकाश' कहते हैं वह स्पष्टव्य का अभावमात्र है अर्थात् सप्रतिष्वद्रव्य का अभावमात्र है। विघ्न को न पाकर (अविन्दन्तः) अज्ञानवश लोग कहते हैं कि यह आकाश है ।

२. जिसे प्रतिसंख्यानिरोध या निर्वाण कहते हैं वह प्रतिसंख्या (= प्रज्ञा) के बल से अन्य अनुशय, अन्य जन्म का अनुत्पाद है जब उत्पन्न अनुशय और उत्पन्न जन्म का निरोध होता है ।^१

३. जब प्रतिसंख्या-बल के बिना प्रत्ययवैकल्यमात्र से धर्मों का अनुत्पाद होता है तब इसे अप्रतिसंख्यानिरोध कहते हैं। यथा जब अन्तरामरण निकायसभाग का (२.१०, ४१) शेष करता है तब उन धर्मों का अप्रतिसंख्यानिरोध होता है जो इस निकायसभाग में उत्पन्न होते यदि इसका प्रवर्तन होता रहता ।

४. एक दूसरे निकाय^२ के अनुसार प्रतिसंख्यानिरोध प्रज्ञावश अनुशयों का अनागत अनु- [२८०] त्पाद है; अप्रतिसंख्यानिरोध दुःख का अर्थात् जन्म का, क्लेशापगमवश, न कि प्रत्यक्षतः प्रज्ञावश, अनागत अनुत्पाद है । [अतः प्रथम सोपधिशेषनिर्वाणधातु है, द्वितीय निरुपधिशेष-निर्वाणधातु है ।] अनुशयप्रत्ययवैकल्यात् पश्चाद्दुःखाज्जातिः । न प्रज्ञाबलात् ।

किन्तु सौत्रान्तिक कहता है कि दुःख का अनागत अनुत्पाद प्रतिसंख्या के बिना सिद्ध नहीं होता । अतः यह प्रतिसंख्यानिरोध ही है ।

५. एक दूसरे निकाय^३ के अनुसार अप्रतिसंख्यानिरोध स्वरसनिरोध^४ के योग से उत्पन्न धर्मों का पश्चाद् अभाव है ।

इस विकल्प में अप्रतिसंख्यानिरोध नित्य न होगा क्योंकि अनुशय के विनष्ट हुए बिना अप्रतिसंख्यानिरोध का अभाव होता है ।

किन्तु क्या प्रतिसंख्यानिरोध का पूर्ववर्ती प्रतिसंख्याविशेष नहीं होता ? अतः यह भी नित्य न होगा क्योंकि पूर्व के अभाव में पर का भी अभाव होता है ।

आप यह नहीं कह सकते कि प्रतिसंख्यानिरोध इसलिये नित्य नहीं है क्योंकि इसका पूर्ववर्ती प्रतिसंख्या है : वास्तव में प्रतिसंख्या इसका पूर्ववर्ती नहीं है । आपको यह कहने का अधिकार नहीं है कि प्रतिसंख्या पूर्ववर्ती है और 'अनुत्पन्न धर्मों का अनुत्पाद' परवर्ती है । हम व्याख्यान

^१ उत्पन्नानुशयजन्मनिरोधे प्रतिसंख्याबलेनान्यस्यानुशयस्य जन्मनश्चानुत्पादः प्रतिसंख्या-निरोधः [व्या २१९. ३] ।

ए. अनुशय का निरोध समुदयसत्य-निरोध है (उसका निरोध जो सत्यतः दुःख-समुदय है) । यह सोपधिशेषनिर्वाण है ।

उत्पाद या जन्म का निरोध दुःखसत्य-निरोध है (उसका निरोध जो सत्यतः दुःख है) । यह निरुपधिशेषनिर्वाण है ।

बी. 'अनुशय' से पंचम कोशस्थान में वर्णित ९८ अनुशयों की वासना समझना चाहिये ।

^२ जापानी संपादक के अनुसार स्थविर ।

^३ जापानी संपादक के अनुसार महासांघिक ।

^४ स्वरसनिरोधात् [व्या २१९. २२], प्रज्ञा के बल से नहीं जैसा प्रतिसंख्यानिरोध में होता है ।

करते हैं। अनुत्पाद सदा से द्रव्यसत् है। प्रतिसंख्या के अभाव में धर्मों की उत्पत्ति होगी। यदि प्रतिसंख्या की उत्पत्ति होती है तो उनका आत्यन्तिक रूप से उत्पाद नहीं होगा। उनके अनुत्पाद के विषय में प्रतिसंख्या का सामर्थ्य यह है : (१) प्रतिसंख्या के पूर्व उनकी उत्पत्ति में प्रतिबन्ध नहीं होता; (२) प्रतिसंख्या के होने पर उन धर्मों की उत्पत्ति नहीं होती जिनकी उत्पत्ति में पूर्व प्रतिबन्ध नहीं हुआ था (अकृतोत्पत्तिप्रतिबन्ध [व्या २१९.२४])। किन्तु यह अनुत्पाद का उत्पाद नहीं करता।

(३) सर्वास्तिवादिन् सौत्रान्तिक का खण्डन करता है:—यदि निर्वाण अनुत्पादमात्र है तो [२८१] सूत्र में (संयुक्त, २६, २) यह कैसे उक्त है कि “श्रद्धादि पंचेन्द्रिय के अभ्यास, आसेवन और भावना का फल अतीत, अनागत और प्रत्युत्पन्न दुःख का प्रहाण है ?”^१—आप इस सूत्र-पद का क्या अर्थ करते हैं ? वास्तव में यह प्रहाण निर्वाण से अन्य द्रव्य नहीं है और केवल अनागत धर्म का अनुत्पाद हो सकता है, अतीत और प्रत्युत्पन्न धर्म का नहीं।

सौत्रान्तिक—यह सूत्र निर्वाण के हमारे लक्षण का विरोध नहीं करता। वास्तव में ‘अतीत प्रत्युत्पन्न दुःख के प्रहाण से’ सूत्र का अभिप्राय अतीत-प्रत्युत्पन्न दुःख को आलम्बन बनाने वाले क्लेश के प्रहाण से है। हमारा यह अर्थ एक दूसरे वचन से (संयुक्त, ३, १७) युक्त सिद्ध होता है : “रूप, वेदना . . . विज्ञान में जो छन्दराग^२ है उसका प्रहाण करो। छन्दराग के प्रहाण होने पर तुम्हारे रूप . . . विज्ञान प्रहीण और परिज्ञात (परिज्ञा) होंगे।”^३ इन्द्रिय सूत्र में उक्त ‘अतीत-प्रत्युत्पन्न दुःख का प्रहाण’ इस वाक्यांश को इस प्रकार समझना चाहिये।

यदि इन्द्रिय सूत्र का यह दूसरा पाठ किसी को मान्य हो : “इन्द्रियों के अभ्यास से त्रैयध्विक क्लेश का प्रहाण होता है” तब भी यही नय है।

अथवा अतीत क्लेश पौर्वजन्मिक (पूर्वजन्मनि भव) है, प्रत्युत्पन्न क्लेश ऐहजन्मिक है। अतीत या प्रत्युत्पन्न ऐकक्षणिक क्लेश का यहाँ विचार नहीं है। १८ तृष्णाविचरितों के लिये (अंगुत्तर, २. २१२) भी ऐसा ही है : अतीत जन्म के विचरितों को अतीत, प्रत्युत्पन्न जन्म के विचरितों को प्रत्युत्पन्न और अनागत जन्म के विचरितों को अनागत कहते हैं।

[२८२] अतीत और प्रत्युत्पन्न क्लेश अनागत में क्लेश की उत्पत्ति के लिए प्रत्युत्पन्न

^१ अतीतानागतप्रत्युत्पन्नस्य दुःखस्य प्रहाणाय संवर्तते [व्या २१९.२९]—कथावत्थु, १९.१ से तुलना कीजिये। अंगुत्तर, २. ३४।

^२ अर्थात् छन्द (अनागते प्रार्थना) और राग (प्राप्तेऽर्थेऽध्यवसानम्)। [व्या २१९. ३४]

^३ यो रूपे छन्दरागस्तं प्रजहीत। छन्दरागे प्रहीणे एवं वस्तुद्रूपं प्रहीणं भविष्यति। [व्या २१९. ३३]

रूप के प्रहाण से आनन्तर्यमार्ग, परिज्ञा से विमुक्तिमार्ग (६. ३०) अभिप्रेत है (जापानी संपादक की विवृति)।

वाद के लिये संयुक्त, ३.८ से तुलना कीजिये। परमार्थ, ५, पृ० १९२ कालम, १

सन्तति में बीज-भाव आहित करते हैं। इस बीज-भावा के ग्रहण से अतीत-प्रत्युत्पन्न क्लेशद्वय भी ग्रहीण होते हैं : यथा विपाक-क्षय से कर्म क्षीण होता है ऐसा उपचार होता है।

अनागत दुःख या क्लेश का ग्रहण बीजाभाव से उनका अत्यन्त अनुत्पाद है।

अतीत या अनागत दुःख के ग्रहण का दूसरा क्या अर्थ हो सकता है ? निरुद्ध और निरोधा-भिमुख के प्रति यत्न सार्थक नहीं होता।

२. सर्वास्तिवादिन्—यदि असंस्कृत 'सत्' नहीं है तो यह सूत्र में कैसे उक्त है कि "सर्व संस्कृत-असंस्कृत धर्मों में विराग अग्र है ?" एक असत् धर्म अत्त धर्मों में अग्र कैसे हो सकत है ?

सौत्रान्तिक—हम यह नहीं कहते कि असंस्कृत असत् हैं। एक अभाव भी है। यह अभाव-प्रकार हैं। शब्द की उत्पत्ति के पूर्व कहते हैं कि "यह शब्द का पूर्व अभाव है"; शब्द के निरोध के पश्चात् कहते हैं कि "यह शब्द का पश्चात् अभाव है" (अस्ति शब्दस्य पश्चादभावः) किन्तु यह सिद्ध नहीं है कि अभाव का भाव होता है (भवति)^१। असंस्कृतों के लिये यही नय है।

यद्यपि इसका अभाव है तथापि एक असंस्कृत अर्थात् विराग, सर्व अकुशल का अनागत में आत्यन्तिक अभाव, प्रशंसा के योग्य है। यह अभाव अभावों में विशिष्ट है। सूत्र उसकी यह कहकर [२८३] प्रशंसा करता है कि यह अग्र है जिसमें विनेयजन उसके प्रति प्रीति-सुख का उत्पाद करें।

३. सर्वास्तिवादिन्—यदि प्रतिसंख्यानिरोध या निर्वाण अभाव है तो यह एक सत्य कैसे है ? यह तृतीय सत्य कैसे है ?

'आर्य-सत्य' का क्या अभिप्राय है ? इसमें सन्देह नहीं कि 'सत्य' का अर्थ 'अविपरीत' है। आर्य जानते हैं कि किसका अविपरीतभाव है, किसका अविपरीत अभाव है : जो दुःख है उसे वह केवल दुःख करके ग्रहण करते हैं, जो दुःख का अभाव है उसे वह दुःख के अभाव के रूप में ग्रहण करते हैं। आप इसमें क्या विरोध देखते हैं यदि दुःख का अभाव, प्रतिसंख्यानिरोध एक सत्य है ?

और, यह अभाव तृतीय सत्य है क्योंकि आर्यों से यह द्वितीय सत्य के अनन्तर दृष्ट और उद्दिष्ट होता है।

४. सर्वास्तिवादिन्—किन्तु यदि असंस्कृत अभाव हैं तो उस विज्ञान का आलम्बन जिसका आलम्बन आकाश और दो निरोध हैं अवस्तु होगा।

^१ संयुक्त, ३१, १२ : ये केचिद् भिक्षवो धर्माः संस्कृता वा असंस्कृता वा विरागस्तेषामग्र आख्यायते (४.१२७ की व्याख्या में उद्धृत) ; अंगुत्तर, ३. ३४, इतिवृत्तक § ९० : यावता च्छिन्द धम्मा संखता वा असंखता वा विरागो तेषं अगं अक्खययति।

विराग = रागक्षय, प्रतिसंख्यानिरोध, निर्वाण—निर्वाण अप्रतिसंख्यानिरोध और आकाश से अग्र है (४.१२७ डी)।

^२ हम इसका उद्धार कर सकते हैं : अभावो भवतीति न सिध्यति—शुआन्-चाङ्ग का मतभेद है : अभाव के लिये यह नहीं कह सकते कि इसका भाव है। अतः 'अस्' धातु का अर्थ सिद्ध होता है [: इस धातु का अर्थ 'भाव' नहीं है]। इस प्रकार आगम असंस्कृतों के लिये कहता है कि यह हैं।

जैसा हम अतीत और अनागत के विचार में (५. २५) निर्देश करेंगे हम इसमें कोई अनुक्तता नहीं देखते ।

५. सर्वास्तिवादी प्रश्न करता है कि इसमें क्या दोष है यदि असंस्कृत का द्रव्यतः भाव हो । आप इसमें क्या गुण देखते हैं ?

यह गुण कि वैभाषिक पक्ष पालित होता है ।

यदि देवों का यह विनिश्चय हो कि यह संभव है तो वह इस पक्ष का पालन करें ! किन्तु असंस्कृत के सद्भाव की प्रतिज्ञा करना एक अभूत वस्तु की परिकल्पना करना है । वास्तव में असंस्कृत का ज्ञान रूपवेदनादिवत् प्रत्यक्षतः नहीं होता, चक्षुरादिवत् उसके कर्म से अनुमानतः भी नहीं होता ।

६. पुनः यदि निरोध एक द्रव्यसत् है तो आप 'दुःखस्य निरोधः' में—दुःख का निरोध, क्लेश का क्षय, क्लेशालम्बन का क्षय—षष्ठी को कैसे युक्त सिद्ध करते हैं ?—हमारे सिद्धांत में यह गमित है कि वस्तु का विनाश वस्तु का अभावमात्र है । 'दुःख का निरोध' इसका अर्थ यह है कि [२८४] 'दुःख का अब और सद्भाव नहीं होगा' । किन्तु वस्तु अर्थात् क्लेश और निरोध-द्रव्य के बीच हेतुफलभाव, फलहेतुभाव, अवयव-अवयविसंबन्ध आदि जो षष्ठीवचन को युक्त सिद्ध करते हैं असंभव हैं ।^१

सर्वास्तिवादिन् उत्तर देता है कि हमारी प्रतिज्ञा है कि निरोध एक द्रव्यसत् है । किन्तु प्राप्ति-नियम है । हम कह सकते हैं कि निरोध का संबन्ध अमुक वस्तु (रागादि वस्तु के निरोध) से होता है क्योंकि जिस काल में अमुक अमुक वस्तु की प्राप्ति का छेद होता है उस काल में निरोध की प्राप्ति (२. ३७ बी) का ग्रहण होता है ।

किन्तु हमारा उत्तर होगा कि निरोध की प्राप्ति के नियम में क्या हेतु है ?^२

७. सर्वास्तिवादिन्—सूत्र दृष्टधर्मनिर्वाणप्राप्त^३ भिक्षु का उल्लेख करता है । यदि निर्वाण अभाव है तो अभाव की प्राप्ति कैसे होती है ?

सौत्रान्तिक—प्रतिपक्ष के लाभ से अर्थात् आर्यमार्ग के लाभ से भिक्षु ने क्लेश और पुनर्भव के उत्पाद के अत्यंत विरुद्ध आश्रय का लाभ किया है । इसीलिए सूत्र कहता है कि उसने निर्वाण प्राप्त किया है ।

८. पुनः एक सूत्र (संयुक्त, १३, ५) है जो यह सिद्ध करता है कि निर्वाण अभावमात्र है ।

^१ वस्तुनो (= रागादिबस्तुनो) [निरोधस्य च] हेतुफलादिभावासंभवात् । [व्या २२१. ७]

^२ भाष्य : तस्य तर्हि प्राप्तिनियमे [को हेतुः] [व्या २२१. ९]—व्याख्या : तस्य निरोधस्य योज्यं प्राप्तेनियमः । अयं च निरोधस्य प्राप्तेर्नान्यस्येति ॥ तस्मिन् प्राप्तिनियमे को हेतुः ॥ न हि निरोधस्य प्राप्त्या सार्थं कश्चित् संबन्धोऽस्ति हेतुफलादिभावासंभवात् ।

^३ दृष्टधर्मनिर्वाणप्राप्त [व्या २२१. १२] अर्थात् सोपधिषोषनिर्वाणस्य ।

[२८५] सूत्र वचन है : “इस दुःख का अशेष प्रहाण, व्यन्तिभाव (या वान्तीभाव), क्षय, विराग, निरोध, व्युपशम, अस्तंग, अन्य दुःख की अप्रतिसन्धि, अनुपादान, अप्रादुर्भाव—यह शान्त है, प्रणीत है, अर्थात् सर्वोपधि का प्रतिनिःसर्ग, तृष्णाक्षय, विराग, निरोध, निर्वाण है ।”

सर्वास्तिवादिन्—जब सूत्र कहता है कि निर्वाण अपूर्व दुःख का अप्रादुर्भाव है तो सूत्र का अभिप्राय यह कहने का है कि निर्वाण में दुःख का प्रादुर्भाव नहीं है ।^१

सौत्रान्तिक—मैं नहीं देखता कि ‘निर्वाण’ का अधिकरण कैसे यह सिद्ध करता है कि निर्वाण द्रव्य है । ‘अस्मिन्’ के अधिकरण का आप क्या अर्थ लेते हैं ? यदि आप ‘अस्मिन् सति’ कहना चाहते हैं अर्थात् निर्वाण के होते दुःख का प्रादुर्भाव नहीं होता, तो दुःख का कभी प्रादुर्भाव नहीं होता क्योंकि निर्वाण नित्य है । यदि आप ‘अस्मिन् प्राप्ते’ कहना चाहते हैं अर्थात् ‘निर्वाण की प्राप्ति पर’ तो आपको मानना होगा कि जिस मार्ग के योग से आप निर्वाण की प्राप्ति की [२८६] परिकल्पना करते हैं उसके होने पर या उसके प्राप्त होने पर अनागत दुःख का अप्रादुर्भाव होता है ।^१

९. अतः सूत्र का दृष्टांत सुष्ठु है :

“यथा अग्नि का निर्वाण तथा उनके चित्त का विमोक्ष ।”^२

* महावस्तु, २. २८५ में अन्तिम भाग का एक दूसरा पाठ है : एतं शान्तं एतं प्रणीतं एतं यथावद् एतं अविवरोतं यमिदं सर्वोपधिरतिनिःसर्गो सर्वतन्कारश्मथो वतन्निच्छेदो तृष्णाक्षयो विरागो निरोधो निर्वाणम् ।

यही महावस्तु, ३. २०० में है । महावग्ग, तृतीय सत्य, १, ६, २१.

व्याख्या में [व्या २२१.१७] सूत्र के प्रथम शब्द ‘यत् खल्वस्य’ [दुःखस्य . . .] और दो आख्याएँ ‘प्रहाण’ और ‘अप्रादुर्भाव’ उद्धृत हैं । अंगुत्तर, १. १०० : परिकल्प्य प्रहाण खय वय विराग निरोध चाग पटिनिस्सग्ग; ५. ४२१ : असेसविराग निरोध चाग पटिनिस्सग्ग मुत्ति अनालय; संयुत्त, १. १३६ : सब्बतन्कारसमथ . . . ; इतिवुत्तर, ५१ : उपधि-पटिनिस्सग्ग—मज्झिम, १. ४९७ के संस्कृत रूपान्तर देखिये, पिशेऊ, फ्रोगेण्डस् आफ इडिकुस्तरी, पृ. ८ (व्यन्तिभाव) और अवदानशतक, २. १८७ (वान्तीभाव) ।

दूसरे शब्दों में अप्रादुर्भाव = नास्मिन् प्रादुर्भावः [व्या २२१.१९] । यह अधिकरणसाधन है । सौत्रान्तिक के अनुसार अप्रादुर्भाव = अप्रादुर्भूति [व्या २२१.२०] (भावसाधन) । सर्वास्तिवादिन् का व्याख्यान मध्यमकवृत्ति, पृ. ५२५ में उद्धृत है । वहाँ यह वाद उस दर्शन का बताया गया है जो निर्वाण को सेतु के तुल्य एक भाव, एक पदार्थ मानता है और जो क्लेश, कर्म और जन्म को प्रवृत्ति का निरोध करता है ।

वास्तव में मार्ग दुःखसमुदय का निरोध करता है । मार्ग के अतिरिक्त ‘निरोध’ नामक एक द्रव्य की परिकल्पना करने से क्या लाभ है ?

दीघ, २. १५७; संयुत्त, १. १५९; थेरगाथा, ९०६ ।

पज्जोतस्सेव निब्बानं विमोक्षो चेतसो अह ।

संस्कृत पाठान्तर (अवदानशतक, ९९, मध्यमकवृत्ति, ५२० डुल्वा, नैज्जियो ११८, जे० पूजीरुस्की; जे० ए० एस० १९१८, २. ४९०, ५०९) :

प्रज्जोतस्सेव निर्वाणम् विमोक्षस्तस्य चेतसः ।

निरुपधिशेषनिर्वाण काल में यह होता है—‘भवनिरोधो निब्बानं’ यह लक्षण अंगुत्तर, ५. ९ संयुत्त, २. ११६ इत्यादि में है ।

अर्थात् यथा अर्चि का निर्वाण अर्चि का अत्ययमात्र है और द्रव्यसत् नहीं है उसी प्रकार भगवत् के चित्त का विमोक्ष है ।

१०. सौत्रान्तिक पुनः अभिधर्म का प्रमाण देते हैं जहाँ यह पठित है : “अवस्तुक धर्म क्या हैं ?—असंस्कृत ।”^१ —‘अवस्तुक’ शब्द का अर्थ ‘अद्रव्य’, ‘निःस्वभाव’ है ।

वैभाषिक इस अर्थ को नहीं स्वीकार करते । वास्तव में वस्तु शब्द का प्रयोग पाँच भिन्न अर्थों में होता है : १. स्वभाववस्तु, यथा “इस वस्तु (अशुभा, ६.११) के प्रतिलब्ध होने से इस वस्तु का समन्वागम होता है” (ज्ञानप्रस्थान, २०, ३, विभाषा, १९७, ८); २. आलम्बन-वस्तु, यथा “सर्व धर्म भिन्न ज्ञान से यथावस्तु ज्ञेय हैं” (प्रकरण, ३१ बी ९); ३. संयोजनीय-वस्तु, यथा ‘जो रागबन्धन से किसी वस्तु से प्रतिसंयुक्त है क्या वह द्वेषबन्धन से इसी वस्तु से प्रतिसंयुक्त है ? (विभाषा, ५८, २); ४. हेतु के अर्थ में वस्तु, यथा ‘सर्वस्तुक धर्म कौन हैं ? [२८७]—संस्कृत धर्म” (प्रकरण, ३३ बी)^१; (५) परिग्रहवस्तु, यथा “क्षेत्रवस्तु, गृहवस्तु, आपणवस्तु, धनवस्तु : परिग्रह का प्रहाण अपरिग्रह है ।” (विभाषा, ५६, २) ।^३

वैभाषिक समाप्त करते हैं : इस संदर्भ में ‘वस्तु’ हेतु के अर्थ में है । ‘अवस्तुक’ का अर्थ ‘अहेतुक’ है । यद्यपि असंस्कृत द्रव्य हैं तथापि नित्य निष्क्रिय होने से कोई हेतु नहीं है जो इनका उत्पाद करता है और कोई फल नहीं है जिसका यह उत्पाद करते हैं ।

विपाकफलमन्त्यस्य पूर्वस्याधिपतं फलम् ।

सभागसर्वत्रगयोनिष्यन्दः पौरुषं द्वयोः ॥५६॥

यह बताना आवश्यक है कि प्रत्येक प्रकार के हेतु से किस प्रकार का फल निर्वृत होता है ।

५६ए. विपाक अन्य हेतु का फल है ।^४

^१ विभाषा, ३१, १०—प्रकरण, ३३ बी ३ में एक लक्षण है जिसका हम उद्धार कर सकते हैं : अवस्तुका अप्रतयया धर्माः कतमे ? असंस्कृता धर्माः (१.७ देखिये) ।

^१ यह सूत्र १.७ की व्याख्या में उद्धृत है ।

^३ १.७ की व्याख्या में (पेट्रोप्राड संस्करण पृ. २२) यह सब अर्थ दिये हैं ।

विपाकः फलमन्त्यस्य ।

जापानी संपादक विभाषा, १२१, ३ उद्धृत करते हैं ।

फल पञ्चविध है : १. निष्यन्दफल, २. विपाकफल, ३. विसंयोगफल, ४. पुरुषकारफल, ५. अधिपतिफल ।

ए. निष्यन्दफल : कुशलोत्पन्न कुशल, अकुशलोत्पन्न अकुशल, अव्याकृतोत्पन्न अव्याकृत ।

बी. विपाकफल : विपाक अकुशल या कुशल सास्त्र धर्मा से उत्पादित होता है; हेतु कुशल या अकुशल है किन्तु फल सदा अव्याकृत है । क्योंकि यह फल स्वहेतु से भिन्न है और ‘पाक’ है इसलिये इसे ‘विपाक’ (विसदृश पाक) कहते हैं ।

सी. विसंयोगफल । आनन्तर्य मार्ग क्लेश का उच्छेद करते हैं; उनका विसंयोगफल और पुरुषकारफल क्लेश उच्छेद है; उनका निष्यन्दफल और पुरुषकारफल विमुक्तिमार्ग है; उनका निष्यन्दफल सर्व सम या विशिष्ट स्वजातीय अपर मार्ग है ।

अभिधर्मावतारशास्त्र (नैजिज्यो, १२९१), २.१४ भी देखिये जहाँ फलों की संज्ञाओं का व्याख्यान है ।

अन्त्य हेतु विपाकहेतु है क्योंकि सूची में सबके अन्त में यह अभिहित है। पूर्वफल, विपाकफल (२.५७), इस हेतु का फल है।

५६ बी. अधिपतिफल पूर्व का फल है।^४

[२८८] पूर्व हेतु कारणहेतु है। अन्त्य फल इससे निर्वृत होता है।

इस फल को 'अधिपज' या 'आधिपत' कहते हैं क्योंकि यह अधिपतिफल है (२.५८ सी-डी)। कारणहेतु से अधिपति का प्रादुर्भाव होता है।

किन्तु यह कहा जायगा कि अनावरणभावमात्रावस्थान (२.५० ए) ही कारणहेतु है। इसको 'अधिपति' कैसे मान सकते हैं?

कारणहेतु या तो 'उपेक्षक' है—और उस अवस्था में इसे अधिपति अवधारण करते हैं क्योंकि इसका अनावरणभाव है—या 'कारक' है—और इसे अधिपति मानते हैं क्योंकि इसका प्रधानभाव, जनकभाव और अंगीभाव है। यथा दस आयतन (रूपादि और चक्षुरादि) पंच-विज्ञानकाय की उत्पत्ति में अधिपति हैं; सत्त्वों के समुदित कर्म का भाजनलोक^५ के प्रति अंगीभाव है। श्रोत्र का चक्षुर्विज्ञान की उत्पत्ति में पारंपर्येण अधिपत्य है क्योंकि श्रवण कर द्रष्टु-कामना की उत्पत्ति होती है। एवमादि योजना कीजिये (२.५० ए देखिये)।

५६ सी-डी. निष्यन्द सभाग और सर्वत्रगहेतु का फल है।^६

निष्यन्दफल सभागहेतु (२.५२) और सर्वत्रगहेतु (२.५४) से निर्वृत होता है: क्योंकि इन दो हेतुओं का फल स्वहेतु के सदृश है (२.५७ सी; ४.८५)।

५६ डी. पौरुष दो हेतुओं का फल है।^७

[२८९] सहभूहेतु (२.५० बी) और संप्रयुक्तहेतु (२.५३ सी) का फल पौरुष कहलाता है अर्थात् पुरुषकार का फल।

पुरुषकार पुरुषभाव से व्यतिरिक्त नहीं है क्योंकि कर्म कर्मवान् से अन्य नहीं है। अतः पुरुषकारफल को 'पौरुष' कह सकते हैं।

'पुरुषकार' का क्या अर्थ है?

जिस धर्म का जो कारित्र (क्रिया, कर्मन्) है वह उसका पुरुषकार कहलाता है क्योंकि वह पुरुषकार के सदृश है। यथा लोक में एक ओषधि को काकजंघा कहते हैं क्योंकि यह काकजंघा के आकार की होती है; शूर को मत हस्ती कहते हैं क्योंकि वह मत हस्ती के सदृश है।

^४ पूर्वस्याधिपजं फलम् अथवा पूर्वस्याधिपतं फलम् [व्या २२१.२९, ३३] (पाणिनि ४.१.८५) —४.८५ ए-बी. ११० ए

^५ भाजनलोक (३.४५, ४.१) सत्त्व समुदाय के कुशल-अकुशल कर्मों से जनित है। यह अव्याकृत है किन्तु यह विपाक नहीं है क्योंकि विपाक एक 'सत्त्वाख्य' धर्म (पृ. २९०) है। अतः यह कारणहेतुभूत कर्मों का अधिपतिफल है। [व्या २२२.१५]

^६ सभागसर्वत्रगयोनिष्यन्दः (व्या २२२.२२)

^७ पौरुषं द्वयोः ॥ [व्या २२२.२५]

क्या केवल संप्रयुक्तहेतु और सहभूहेतु ही ऐसे हेतु हैं जिनका पुरुषकार फल है ?

एक मत के अनुसार विपाकहेतु से अन्यत्र अन्य हेतुओं का भी यह फल होता है। वास्तव में यह फल सहोत्पन्न है या समनन्तरोत्पन्न है। विपाकफल ऐसा नहीं है। अन्य आचार्यों के अनुसार विपाकहेतु का एक विप्रकृष्ट पुरुषकारफल भी होता है, यथा श्रमिक द्वारा अर्जित फल।

[अतः एक धर्म (१) निष्पन्दफल है क्योंकि यह स्वहेतु के सदृश उत्पन्न होता है; (२) पुरुषकारफल है क्योंकि यह स्वहेतुबल से उत्पन्न होता है, (३) अधिपतिफल है क्योंकि यह स्वहेतु के 'अनावरणभाव' के कारण उत्पन्न होता है।]

विपाकोऽव्याकृतो धर्मः सत्वाख्यो व्याकृतोद्भवः ।

निष्पन्दो हेतुसदृशो विसंयोगः क्षयो धिया ॥५७॥

भिन्न फलों के क्या लक्षण हैं ?

५७ ए-बी. विपाक एक अव्याकृत धर्म है; यह सत्वाख्य है; यह व्याकृत से उत्तरकाल में उत्पन्न होता है ।^१

विपाक अनिवृताव्याकृत धर्म है ।

[२९०] अनिवृताव्याकृत धर्मों में कुछ सत्वाख्य होते हैं, अन्य असत्वाख्य होते हैं। अतः आचार्य अवधारण करते हैं 'सत्वाख्य' अर्थात् सत्त्वसन्तानज ।

औपचयिक (आहारादि से निर्वृत्त, १. ३७) और नैष्यन्दिक (स्वसदृश हेतु से प्रवृत्त, १. ३७, २. ५७ सी) धर्म सत्वाख्य हैं। अतः आचार्य अवधारण करते हैं 'व्याकृत कर्म से उत्तरकाल में संजात' ।—यह व्याकृत कर्म इसलिये कहलाता है क्योंकि यह विपाक का उत्पाद करता है। यह अकुशल और कुशल सास्त्रव (२. ५४ सी-डी) कर्म है। इस स्वभाव के कर्म से उत्तरकाल में, युगपत् या अनन्तर नहीं, जो फल होता है वह विपाकफल है ।^१

पर्वत, नदी आदि असत्वाख्य धर्मों को विपाकफल क्यों नहीं मानते ? क्या वह कुशल-अकुशल कर्म से उत्पन्न नहीं है ? असत्वाख्य धर्म स्वभाववश सामान्य हैं। सर्व लोक उनका परिभोग कर सकता है। किन्तु विपाकफल स्वभावतः स्वकीय है : जिस कर्म की निष्पत्ति मैंने की है उसके विपाकफल का भोग दूसरा कभी नहीं करता। कर्म विपाकफल के अतिरिक्त

^१ यह परमार्थ में नहीं है ।

^२ विपाकोऽव्याकृतो धर्मः सत्वाख्यो व्याकृतोद्भवः । [व्या २२३. १४]

^३ 'उद्भव' का 'उद्' उपसर्ग उत्तर कालार्थ है ।—समाधि काय के महाभूतों के उपचय का उत्पाद करती है : यह महाभूत "औपचयिक" कहलाते हैं क्योंकि इनकी उत्पत्ति समाधि के साथ (युगपत्) या अनन्तर होती है। यह विपाकज नहीं है ।—यथा निर्माणचित्त (१. ३७, ७. ४८) अव्याकृत, सत्वाख्य, व्याकृत कर्म (समाधि) से अभिनिर्वृत्त है किन्तु समाधि के अनन्तर उत्पन्न होने से यह विपाकज नहीं है। पुनः विपाकफल सदा जनक कर्म का समान-भूमिक होता है ।

अधिपतिफल का उत्पाद करता है : सत्त्व इस फल का समान परिभोग करते हैं क्योंकि कर्म-समुदाय इसकी अभिनिर्वृत्ति में सहयोग करता है (पृ. २८८, टि. १)

५७ सी. हेतुसदृश फल निष्यन्द कहलाता है ।^१

[२११] हेतुसदृश धर्म निष्यन्दफल है। सभागहेतु (२.५२) और सर्वत्रगहेतु (२.

५४ ए-बी) यह हेतुद्वय निष्यन्दफल प्रदान करते हैं ।

यदि सर्वत्रगहेतु का फल निष्यन्दफल है, हेतुसदृश फल है तो सर्वत्रगहेतु को सभागहेतु क्यों नहीं कहते ?

सर्वत्रगहेतु का फल (१) भूमितः सदा हेतुसदृश है—यह तत्सदृश कामावचरादि है, (२) क्लिष्टतया हेतुसदृश है—हेतु के सदृश फल भी क्लिष्ट है। किन्तु प्रकारतः इसका हेतु से सादृश्य नहीं है। प्रकार (निकाय) से अभिप्राय प्रहाण-प्रकार से है : दुःखादिसत्यदर्शनप्रहातव्य (२.५२ बी), किन्तु जिसका प्रकारतः भी सादृश्य होता है वह सर्वत्रगहेतु सभागहेतु भी अभ्युपगत होता है ।

अतएव चार कोटि हैं :

१. असर्वत्रग सभागहेतु : यथा रागादिक स्वनैकायिक क्लेश का सभागहेतु है, सर्वत्रगहेतु नहीं है;

२. अन्यनैकायिक सर्वत्रगहेतु : सर्वत्रग क्लेश अन्यनैकायिक क्लेश का सर्वत्रगहेतु है, सभागहेतु नहीं है;

३. एकनैकायिक सर्वत्रगहेतु : सर्वत्रग क्लेश एकनैकायिक क्लेश का सभागहेतु और सर्वत्रगहेतु है ।

४. इन आकारों को वर्जित कर अन्य धर्म न सभागहेतु हैं और न सर्वत्रगहेतु ।^१

५७ डी. बुद्धि से प्राप्यमाण क्षय विसंयोग है ।^१

विसंयोग या विसंयोगफल क्षय (= निरोध) है जो प्रज्ञा (धी) से प्रतिलब्ध होता है ।

अतः विसंयोग प्रतिसंख्या-निरोध है (ऊपर पृ० २७८ देखिये) ।

यद्वलाज्जायते यत्तत्फलं पुरुषकारजम् ।

अपूर्वः संस्कृतस्यैव संस्कृतोऽधिपतेः फलम् ॥५८॥

[२१२] ५८ ए-बी. एक धर्म उस धर्म का पुरुषकारफल होता है जिस धर्म के बल से यह उत्पन्न होता है ।^१

यह धर्म संस्कृत है ।

^१ निष्यन्दो हेतुसदृशः [व्या २२४.२]

^१ कुशल धर्म क्लिष्टादि धर्मों के सभागहेतु नहीं हैं ।

^१ विसंयोगः क्षयो धिया ॥ [व्या २२४.३१]

^१ यद् बलाज्जायते यत तत् फलं पुरुषकारजम् । [व्या २२५.१]

उदाहरण : उपरिभूमिक समाधि अधरभूमिक तत्प्रयोगचित्त का पुरुषकारफल है; प्रथम-ध्यानभूमिक समाधि कामावचरचित्त का, द्वितीयध्यानभूमिक समाधि प्रथमध्यान-भूमिक चित्त का, पुरुषकारफल है ।

अनास्रव धर्म सास्रव धर्म (लौकिकाग्र धर्मों का फल दुःखे धर्मज्ञानक्षान्ति, ६.२५ सी-डी है) का पुरुषकारफल हो सकता है ।

निर्माणचित्त ध्यानचित्त का (७.४८) पुरुषकारफल है ।

एवमादि ।^१

प्रतिसंख्यानिरोध या निर्वाण को 'पुरुषकार फल' अवधारित करते हैं किन्तु ५८ ए-बी का लक्षण निरोध में नहीं घटता क्योंकि नित्य होने से वह उत्पन्न नहीं होता । अतः हम कहते हैं कि यह उस धर्म का पुरुषकारफल है जिसके बल से प्रतिसंख्यानिरोध प्राप्त होता है ।

५८ सी-डी. पूर्वोत्पन्न से अन्य सर्व संस्कृतधर्म संस्कृत का अधिपतिफल है ।^२

पुरुषकारफल और अधिपतिफल में क्या भेद है ?

[२९३] कर्ता का पुरुषकारफल है; अधिपतिफल कर्ता और अकर्ता दोनों का है । यथा शिल्प कारक शिल्पी का पुरुषकारफल और अधिपतिफल है; अशिल्पी का यह केवल अधिपतिफल है ।

फल के प्रतिग्रहण (गृह्णाति, आक्षिपति) और दान (प्रयच्छति, ददाति) के काल में प्रत्येक हेतु अनागत, प्रत्युत्पन्न, अतीत इनमें से किस अवस्था में होता है ?

वर्तमानाः फलं पञ्च गृह्णन्ति द्वौ प्रयच्छतः ।

वर्तमानाभ्यतीतौ द्वावेकोऽतीतः प्रयच्छति ॥५९॥

५९. ५ हेतु वर्तमान अवस्था में फल ग्रहण करते हैं; दो वर्तमान अवस्था में फल प्रदान करते हैं; दो, वर्तमान और अतीत, प्रदान करते हैं; एक अतीत प्रदान करता है ।^३

'फलप्रतिग्रहण', 'फलदान' का क्या अर्थ है ?^४

^१ कामावचर मरणचित्त का अर्थात् उस सत्त्व के चित्त का जो कामधातु में मृत होता है पुरुष-कारफल रूपावचर प्रथम अन्तराभव क्षण होता है । यह उदाहरण पुरुषकारफल और निष्यन्द-फल का विवेचन करते हैं । चार कोटि है : (१) पुरुषकारफल जो निष्यन्दफल नहीं है : पूर्वोक्त उदाहरण; (२) निष्यन्दफल जो पुरुषकारफल नहीं है : यह सभाग और सर्वत्रग हेतुओं का व्यवहित फल है; (३) जो निष्यन्द और पुरुषकारफल उभय है : सभागफल, स्वभूमिक, समनन्तरोत्पन्न; (४) जो न निष्यन्द है, न पुरुषकार : विपाक फल । [व्या २२५.२०]

^२ अपूर्वः संस्कृतस्यैव संस्कृतोऽधिपतेः फलम् ॥ [व्या २२६.२] २.५६ बी और ४.८५ देखिये ।

^३ वर्तमानाः फलं पञ्च गृह्णन्ति द्वौ प्रयच्छतः ।

वर्तमानाभ्यतीतौ द्वौ एकोऽतीतः प्रयच्छति ॥ [व्या २२६.९]

२.५५ ए-बी से तुलना कीजिये ।

^४ मूल में यह लक्षण आगे चलकर (६.२२ ए ७) दिये हैं । पाठक की सुगमता के लिये इन्हें यहाँ दिये हैं ।

एक धर्म फल का प्रतिग्रहण करता है जब यह बीजभाव को उपगत होता है।^१

एक धर्म फल का दान उस काल में करता है जब वह इस फल को उत्पन्न होने का सामर्थ्य प्रदान करता है अर्थात् जिस क्षण में उत्पादाभिमुख अनागत फल को यह धर्म वह बल देता है जिससे वह वर्तमानावस्था में प्रवेश करता है।

५९ ए-बी. ५ हेतु वर्तमान होकर अपने फल का प्रतिग्रहण करते हैं।

५ हेतु केवल तभी अपने फल का प्रतिग्रहण करते हैं जब वह वर्तमान होते हैं : अतीत पहले ही अपने फल का प्रतिग्रहण कर चुके हैं, अनागत में कारित्र नहीं होता (५.२५)।

कारणहेतु भी इसी प्रकार है किन्तु कारिका इसका उल्लेख नहीं करती क्योंकि कारणहेतु अवश्यमेव सफल नहीं है।

[२९४] ५९ बी. दो वर्तमान होकर अपना फल प्रदान करते हैं।

वर्तमान सहभूहेतु और संप्रयुक्तकहेतु ही फलप्रदान करते हैं : वास्तव में यह दो हेतु एक काल में फल का प्रतिग्रहण और दान करते हैं।

५९ सी. दो वर्तमान और अतीत अवस्था में अपना फल देते हैं।

सभाग और सर्वत्रगहेतु वर्तमान और अतीत अवस्था में फल प्रदान करते हैं।

वर्तमानावस्था में वह कैसे निष्पन्दफल (२.५६ सी) प्रदान करते हैं ? हमने देखा है (२.५२ बी, ५४ ए) कि वह अपने फल से पूर्व होते हैं।

कहते हैं कि वर्तमानावस्था में वह फल प्रदान करते हैं क्योंकि वह उनका समनन्तरम निर्वर्तन करते हैं (समनन्तरनिर्वर्तनात्) [व्या २२६.२३]। जब उनके फल की उत्पत्ति होती है तब वह अभ्यतीत होते हैं : वह पूर्व ही प्रदान कर चुके हैं, वह पुनः उसी फल को नहीं देते।^१

(१) ऐसा होता है कि एक काल में एक कुशल सभागहेतु फल का प्रतिग्रहण करता है और फल नहीं देता। चार कोटि हैं : प्रतिग्रहण, दान, प्रतिग्रहण और दान, न प्रतिग्रहण, न दान।^२

१. कुशलमूल की जिन प्राप्तिरूपों का परित्याग कुशलमूल का समुच्छेद करनेवाला पुद्गल (४.८० ए) सर्वपश्चात् करता है वह प्राप्तिरूपों फल का प्रतिग्रहण करती हैं, फलप्रदान नहीं करती।^३

^१ तस्य बीजभावोपगमनात् [व्या २३०.२१]—धर्म का सदा अस्तित्व है चाहे यह अनागत, प्रत्युत्पन्न या अतीत हो। जिस क्षण में यह वर्तमान होकर फल का हेतु या बीज होता है उस क्षण में हम कहते हैं कि यह फल का प्रतिग्रहण या आक्षेप करता है।—व्याख्या कहती है कि बीज की उपमा सौत्रान्तिक प्रक्रिया है। “कुछ पुस्तकों में यह पाठ नहीं है” (कवचित् पुस्तके न.६:पेष पाठः) [व्या २३०.२२]। अन्यत्र व्याख्या निरूपण करती है : प्रतिगृह्णतीत्याक्षिपन्ति हेतुभावेनापतिष्ठन्ति इत्यर्थः। [व्या २२६.१२]

^२ इस कठिन विषय पर संभवतः, न्यायावतार, ९८ ए, ३ देखिये।

^३ अस्ति कुशलः सभागहेतुः फलं प्रतिगृह्णाति न ददाति—विभाषा, १८.५ के अनुसार।

^४ मृदुमृदु कुशलमूल की प्राप्तिरूपों जो अन्त्य हैं और जिनका छेद होता है फलपरिग्रह करती हैं (फलपरिग्रहं कुर्वन्ति) किन्तु अपना निष्पन्दफल नहीं देती क्योंकि जन्य कुशल क्षणान्तर का अभाव है।

[२१५] २. कुशलमूल की जिन प्राप्तियों का कुशलमूल का प्रतिसन्धान करनेवाला पुद्गल (४.८० सी) सर्वप्रथम प्रतिलाभ करता है वह फल देती हैं किन्तु फल का प्रतिग्रहण नहीं करतीं ।

इस प्रकार कहना चाहिये^१ : यही प्राप्तियाँ जिनका सर्वपश्चात् परित्याग कुशलमूल का समुच्छेद करने वाला पुद्गल करता है उस काल में स्वफल प्रदान करती हैं किन्तु प्रतिग्रहण नहीं करतीं जिस काल में यह पुद्गल कुशलमूल का प्रतिसंधान करता है ।

३. जिस पुद्गल के कुशलमूल असमुच्छिन्न हैं उसकी प्राप्तियाँ पूर्व की दो अवस्थाओं को स्थापित कर : कुशलमूल का समुच्छेद करने वाले पुद्गल की अवस्था, कुशलमूल का प्रतिसंधान करनेवाले पुद्गल की अवस्था—प्रतिग्रहण करती हैं और देती हैं ।

४. इन आकारों को वर्जित कर अन्य अवस्थाओं में प्राप्तियाँ न प्रतिग्रहण करती हैं, न प्रदान करती हैं : यथा समुच्छिन्नकुशलमूल पुद्गल के कुशलमूलों की प्राप्तियाँ, ऊर्ध्वभूमि से परिहीण पुद्गल के ऊर्ध्वभूमिक कुशलों की प्राप्तियाँ । यह प्राप्तियाँ पूर्व ही स्वफल का प्रतिग्रहण कर चुकी हैं, अतः पुनः प्रतिग्रहण नहीं करतीं ; वह प्रदान नहीं करतीं क्योंकि इन कुशलमूलों की प्राप्ति का वर्तमान में अभाव है ।

(२) अकुशल सभागहेतु के लिये विभाषा यही चार कोटि व्यवस्थापित करती है :

१. अकुशल धर्मों की प्राप्तियाँ जिनका प्रहाण कामवैराग्य की प्राप्ति करनेवाला पुद्गल सर्वपश्चात् करता है ।

२. वह प्राप्तियाँ जिनका प्रतिलाभ कामवैराग्य से परिहीयमाण पुद्गल सर्वप्रथम करता है ।

ऐसा कहना चाहिये : यही प्राप्तियाँ जब पुद्गल कामवैराग्य से परिहीयमाण होता है ।

३. पूर्व की दो अवस्थाओं को छोड़कर, अवीतराग पुद्गल की प्राप्तियाँ ।

[२१६] ४. इन आकारों को स्थापित कर अन्य सब अवस्थाओं की प्राप्तियाँ : यथा कामवीतराग और अपरिहाणधर्मा पुद्गल की प्राप्तियाँ ।

(३) निवृताव्याकृत सभागहेतु का भी चतुष्कोटिक विधान है :

१. निवृताव्याकृत धर्मों की अन्त्य प्राप्तियाँ जिनका त्याग अर्हत्वप्राप्त आर्य करता है ।

२. प्राप्तियाँ जिनका सर्वप्रथम प्रतिलाभ अर्हत्व से परिहीयमाणपुद्गल करता है ।

यह कहना अधिक युक्त होगा : अर्हत्व से परिहीयमाण पुद्गल की पूर्वोक्त प्राप्तियाँ ।

^१ दसुबन्धु वैभाषिकों के बाद की आलोचना करते हैं । वास्तव में यह द्वितीय कोटिनिर्देश सावध है । [व्या २२७. १०] कुशलमूल के प्रतिसन्धान-काल में कुशलमूलों की त्रैयधिवक प्राप्तियों का प्रतिलाभ एक साथ होता है : इनमें से अतीत प्राप्तियाँ फल प्रदान करती हैं किन्तु प्रतिग्रहण नहीं करतीं क्योंकि वह पूर्व ही प्रतिगृहीत हैं ; किन्तु जो वर्तमान प्राप्तियाँ हैं उनके लिये यह कैसे अवधारित होता है कि वह स्वफल का प्रतिग्रहण नहीं करतीं ? अतः प्रस्तावित निर्देश अवशिष्ट है ।—संघभद्र विभाषा का समर्थन करते हैं ।

३. पूर्व की दो अवस्थाओं को छोड़कर शेष अवस्थाओं में भवाग्र से अवीतराग पुद्गल की प्राप्तियाँ ।

४. इन आकारों को वर्जित कर अन्य सब अवस्थाओं की प्राप्ति : अर्हत्व की प्राप्ति ।

(४) जो अनिवृताव्याकृत सभागहेतु फल देता है वह प्रतिग्रहण भी करता है (क्योंकि अनिवृताव्याकृत यावत् परिनिर्वाण संनिहित होता है) किन्तु विगा प्रदान किये यह स्वफल का प्रतिग्रहण कर सकता है : अर्हत् के चरम स्कन्धों का निष्यन्द नहीं होता ।^१ .

(५) अब तक हमने उन धर्मों का विचार किया है जो 'सालंबन' नहीं हैं । यदि हम चित्त और चैत्तों का क्षणशः विचार करें तो हम कुशल सभागहेतु के लिए निम्न चतुष्कोटिक विधान करेंगे :—

१. यह प्रतिग्रहण करता है और प्रदान नहीं करता । जब एक कुशल चित्त के अनन्तर क्लिष्ट या अनिवृताव्याकृत चित्त का सम्मुखीकरण होता है तो यह कुशल चित्त, सभागहेतु होने के कारण, एक निष्यन्दफल अर्थात् उत्पत्ति-धर्मों या अनुत्पत्ति-धर्मों, एक अनागत कुशलचित्त का प्रतिग्रहण करता है अर्थात् आशेष करता है । यह निष्यन्दफल प्रदान नहीं करता क्योंकि इसका अनन्तर चित्त जो क्लिष्ट या अनिवृताव्याकृत है कुशल चित्त का निष्यन्द नहीं है ।

२. यह प्रदान करता है और प्रतिग्रहण नहीं करता । जब क्लिष्ट या अनिवृताव्याकृत चित्त के अनन्तर कुशलचित्त का सम्मुखीकरण होता है तब एक पूर्वक कुशलचित्त निष्यन्दफल, अर्थात् कुशलचित्त जिसका हम विचार कर रहे हैं, प्रदान करता है । यह पूर्वक कुशलचित्त फल का प्रतिग्रहण नहीं करता क्योंकि फल पूर्व प्रतिगृहीत है ।

[२९७] ३. यह प्रतिग्रहण करता है और प्रदान करता है । जब कुशलचित्त के अनन्तर कुशलचित्त का सम्मुखीकरण होता है तब पूर्वकचित्त द्वितीय चित्त का निष्यन्द फलत्वेन प्रतिग्रहण करता है और उसे प्रदान करता है ।

४. यह न प्रतिग्रहण करता है, न प्रदान करता है । जब क्लिष्ट या अनिवृताव्याकृत चित्त के अनन्तर क्लिष्ट या अव्याकृत चित्त का सम्मुखीकरण होता है तो पूर्व का कुशलचित्त जो सभागहेतु है फल का प्रतिग्रहण नहीं करता क्योंकि इसने फल को पूर्व ही प्रतिगृहीत किया है ; यह फल प्रदान नहीं करता क्योंकि यह उत्तर काल में फल प्रदान करेगा ।

अकुशल सभागहेतु की भी योजना इसी प्रकार होनी चाहिये ।

५९ डी. एक हेतु अतीत होकर स्वफल प्रदान करता है । [वसुमित्र, महासांघिक, ४४ वाँ वाद]

विपाकहेतु अतीत होकर स्वफल प्रदान करता है क्योंकि यह फल अपने हेतु का सहभू या समनन्तर नहीं है ।

^१ अनिवृताव्याकृतस्य पश्चात् पादक इति पदत्रयापादकलक्षणं व्याख्यातमिति न पुनरुच्यते ।
[व्या २२९.२४]

पाश्चात्य आचार्य (विभाषा, १२१.६) कहते हैं कि पूर्वोक्त पाँच फलों से भिन्न चार फल हैं :

१. प्रतिष्ठाफल : जलमण्डल वायुमण्डल (३.४५) का प्रतिष्ठाफल है और एवमादि यावत् ओषधि प्रभृति महापृथिवी का प्रतिष्ठाफल है ।

२. प्रयोगफल : अनुत्पादज्ञानादि (४.५०) अशुभादि (६.११) का प्रयोगफल है ।

३. सामग्रीफल : चक्षुर्गिज्ञान चक्षु, रूप, आलोक और गणस्कार का सामग्रीफल है ।

४. भावनाफल : निमणिवित्त (७.४८) ध्यान का भावनाफल है ।

सर्वास्तिवादिन् के अनुसार इन चार फलों में से प्रथम अधिपतिफल में अन्तर्भूत है, अन्य तीन पुरुषकारफल में अन्तर्भूत हैं ।

हमने हेतु और फल का व्याख्यान किया है । अब इसकी समीक्षा करनी है कि विविध धर्मों का उत्पाद कितने हेतुओं से होता है ।

इस दृष्टि से धर्मों की चार राशियाँ हैं : १. क्लिष्टधर्म अर्थात् क्लेश, तत्संप्रयुक्त और [२९८] तत्समुत्थ धर्म (४.८) ; २. विपाकज या विपाक हेतु से (२.५४ सी) संजात धर्म ; ३. प्रथम अनास्रव धर्म अर्थात् दुःखे धर्मज्ञानक्षान्ति (१.३८ बी, ६.२७) और तत्सहभूत धर्म ; ४. शेषधर्म अर्थात् विपाकवर्ज्य अव्याकृत धर्म और प्रथम अनास्रव क्षण को वर्जित कर कुशलधर्म ।

क्लिष्टा विपाकजाः शेषाः प्रथमार्या यथाक्रमम् ।

विपाकं सर्वगं हित्वा तौ सभागं च शेषजाः ॥६०॥

चित्तचैत्तास्तथाऽन्येऽपि संप्रयुक्तवर्जिताः ।

चत्वारः प्रत्यया उक्ता हेत्वाख्यः पञ्च हेतवः ॥६१॥

६०—६१ बी. (१) क्लिष्ट, (२) विपाकज, (३) शेष, (४) प्रथमार्या वित्त-चैत यथाक्रम (१) विपाकहेतु को, (२) सर्वगहेतु को, (३) इन दो हेतुओं को, (४) इन दो हेतुओं तथा सभागहेतु को वर्जित कर शेष हेतुओं से उत्पन्न होते हैं । चित्त-चैत से अन्य धर्मों के लिये संप्रयुक्तहेतु को भी वर्जित करना चाहिये ।^१

(१) क्लिष्ट चित्त-चैत विपाकहेतु को वर्जित कर शेष पाँच हेतुओं से संजात होते हैं ; (२) विपाकज चित्त-चैत सर्वगहेतु को वर्जित कर शेष पाँच हेतुओं से उत्पन्न होते हैं ; (३) इन दो प्रकारों से और चतुर्थ प्रकार से अन्य चित्त-चैत विपाकहेतु और सर्वगहेतु को वर्जित कर शेष चार हेतुओं से उत्पन्न होते हैं ; (४) प्रथम अनास्रव वित्त-चैत पूर्वोक्त दो हेतु और सभाग-हेतु को वर्जित कर शेष तीन हेतुओं से उत्पन्न होते हैं ।

^१ क्लिष्टा विपाकजाः शेषाः प्रथमार्या यथाक्रमम् ।

विपाकं सर्वगं हित्वा तौ सभागं च शेषजाः ॥

चित्तचैत्तास् [तथान्ये च संप्रयुक्तवर्जिताः] ।

अभिधर्महृदय, २.१२—१५ से तुलना कीजिये ।

चित्त-चैत से अन्य धर्म अर्थात् रूपीधर्म और चित्त-विप्रयुक्त-संस्कार (२.३५) जिस राशि के अन्तर्भूत होते हैं उस राशि के हेतुओं से एक संप्रयुक्त-हेतु को वर्जित कर उत्पन्न होते हैं : क्लृष्ट और विपाकज, चार हेतु; शेष, तीन हेतु; प्रथमानास्रव (अनास्रवसंवर, ४.१३), दो हेतु ।

कोई ऐसा धर्म नहीं है जो एक हेतु से संभूत है : कारणहेतु और सहभूहेतु का अवश्य अविनाभाव है ।

[२९९] हम हेतुओं का व्याख्यान कर चुके हैं । प्रत्यय कितने हैं ?

६१ सी. प्रत्यय चार कहे जाते हैं ।^१

यह कहाँ कहा है ?

इस सूत्र में : “चार प्रत्ययता हैं अर्थात् हेतु-प्रत्ययता, समनन्तर-प्रत्ययता, आलम्बन-प्रत्ययता, अधिपति-प्रत्ययता” ।

[३००] ‘प्रत्ययता’ का अर्थ ‘प्रत्ययजाति’ है ।^१

^१ चत्वारः प्रत्यया उक्ताः ।

विभाषा, १६, ८ : “यह सत्य है कि यह ६ हेतु सूत्र में उक्त नहीं हैं; सूत्र में केवल इतना उक्त है कि चार प्रत्ययता हैं ।”

जापानी संपादक महायान से वचन उद्धृत करते हैं : नैज्जियो १४१ (अनु-धर्मगुप्त) धनव्यूह, नैज्जियो, १४० (अनु० शुआन-चाङ्ग), मध्यमक (मध्यमकवृत्ति, पृ० ७६ देखिये)

हेतु और प्रत्यय के परस्पर के संबन्ध में विभाषा के प्रथम आचार्य कहते हैं कि (१) हेतुप्रत्यय में कारणहेतु को वर्जित कर ५ हेतु संगृहीत हैं, (२) कारणहेतु में अन्य तीन प्रत्यय संगृहीत हैं । विभाषा के द्वितीय आचार्य कहते हैं कि (१) हेतुप्रत्यय में ५ हेतु संगृहीत हैं, (२) कारण-हेतु केवल अधिपतिप्रत्यय है : इस सिद्धांत को वसुबन्धु स्वीकार करते हैं । महायान के आचार्यों के लिये सभागहेतु हेतुप्रत्यय और अधिपतिप्रत्यय दोनों हैं, अन्य ५ हेतु अधिपति-प्रत्यय हैं ।

प्रकरण, ३० ए १७, में चार प्रत्यय परिगणित हैं । विज्ञानकाय, १६ ए ७, विज्ञानतः इनका निर्देश करता है : “चक्षुर्विज्ञान का हेतु-प्रत्यय क्या है ? सहभू और संप्रयुक्त धर्म ।—उसका समनन्तर-प्रत्यय क्या है ? चित्त और चैत जिनके यह सम और अनन्तर हैं, उत्पन्न और उत्पद्यमान चक्षुर्विज्ञान ।—उसका आलम्बन-प्रत्यय क्या है ? रूप—उसका अधिपति-प्रत्यय क्या है ? स्व को वर्जित कर सर्व धर्म . . . चक्षुर्विज्ञान किसका हेतु-प्रत्यय है ? सहभू और संप्रयुक्त धर्मों का —किसका यह समनन्तर-प्रत्यय है ? उत्पन्न या उत्पद्यमान, इस चतुर्विज्ञान के सम और अनन्तर, चित्त-चैत्यों का ।—किसका यह आलम्बन-प्रत्यय है ? चित्त-चैत का जो उसको आलम्बनरूप में ग्रहण करते हैं ।—किसका यह अधिपति-प्रत्यय है ? स्व को वर्जित कर सर्व धर्मों का ।”

अभिधर्महृदय, २. १६ में चार प्रत्ययों का वही लक्षण दिया है जो हमारे ग्रन्थ में है : हेतु-प्रत्यय में ५ हेतु संगृहीत हैं : अधिपति-प्रत्यय कारणहेतु है ।

अभिधम्म के ‘पच्चयों’ के लिये दुक्कट्टान प्रधान प्रमाण प्रतीत होता है । अभिधर्म से अनेक सादृश्य हैं । आख्या भिन्न हैं, यथा ‘सहजाताधिपतिपच्चय’ हमारा ‘सहभूहेतु’ है । कथा-वत्थु, १५. १—२ भी देखिये ।

^१ अर्थात् प्रत्ययप्रकार, यथा गो जाति के लिये ‘गोता’ कहते हैं ।

हेतु-प्रत्यय क्या है ?

६१ डी. हेत्वाख्य प्रत्यय पाँच हेतु हैं ।^२

यदि कारणहेतु को वर्जित करें तो शेष पाँच हेतु हेतु-प्रत्ययता होते हैं ।

चित्तचैत्ता अचरमा उत्पन्नाः समनन्तरः ।

आलम्बनं सर्वधर्माः कारणाख्योऽधिपः स्मृतः ॥६२॥

समनन्तर-प्रत्यय क्या है ?

६२ ए-बी. चरम को वर्जित कर अन्य उत्पन्न चित्त-चैत्त समनन्तर-प्रत्यय हैं ।^३

यदि अर्हत् के निर्वाण-काल के चरम चित्त और चरम चैत्त को वर्जित करें तो अन्य सब उत्पन्न चित्त-चैत्त समनन्तर-प्रत्यय हैं ।

(१) केवल चित्त और चैत्त समनन्तर-प्रत्यय हैं । यह किन धर्मों के समनन्तर-प्रत्यय हैं ?

१. इस प्रकार के प्रत्यय को समनन्तर कहते हैं क्योंकि यह सम और अनन्तर धर्मों का उत्पाद करता है । 'सम्' उपसर्ग समान के अर्थ में है ।

अतः^४ केवल चित्त-चैत्त समनन्तर-प्रत्यय हैं क्योंकि अन्य धर्मों के लिये, यथा रूपी धर्मों के लिये, हेतु और फल में समता नहीं है । वास्तव में कामावचर रूप के अनन्तर कदाचित् दो रूप, एक कामावचर रूप और एक रूपावचर रूप^५ उत्पन्न होते हैं; कदाचित् कामावचर और अना- [३०१] खव यह दो रूप उत्पन्न होते हैं ।^६ किन्तु कामावचर चित्त के अनन्तर एक कामावचर और एक रूपावचर चित्त कभी युगपत् नहीं उत्पन्न होते । रूपों का सम्मुखीभाव आकुल है : किन्तु समनन्तर-प्रत्यय आकुल फल नहीं प्रदान करता । अतः रूपी धर्म समनन्तर-प्रत्यय नहीं हैं ।

वसुमित्र कहते हैं कि एक ही काय में औपचयिक रूप-सन्तान के समुच्छेद के बिना दूसरे औपचयिक रूप की उत्पत्ति हो सकती है । अतः रूप समनन्तर-प्रत्यय नहीं हैं ।^७

भदन्त^८ कहते हैं: रूप के अनन्तर अल्पतर या बहुतर की उत्पत्ति होती है । अतः रूप सम-

^२ हेत्वाख्यः पंच हेतवः ॥

^३ चित्तचैत्ता अचरमा उत्पन्नाः समनन्तरः ।

^४ विभाषा, ११, ४, द्वितीय आचार्य ।

^५ यहाँ अविज्ञप्ति रूप इष्ट है । जब प्रातिमोक्षसंवर (कामधातु का अविज्ञप्ति रूप) के समादान के अनन्तर एक पुद्गल सास्त्रवध्यान में समापन्न होता है तब वह ध्यान (रूपधातु का अविज्ञप्तिरूप) के संवर का उत्पाद करता है किन्तु कामधातु का अविज्ञप्तिरूप प्रवृत्त होता रहता है (४. १७ बी-सी) देखिये ।

^६ उस कोटि में जिसमें वह पुद्गल जिसने प्रातिमोक्षसंवर का समादान किया है अनाखव-ध्यान में समापन्न होता है ।

^७ यह दूसरा मत है जिसका विभाषा में व्याख्यान है ।—जब भोजन करके पुद्गल सोता है या ध्यान-समापन्न होता है तो आहारज और औपचयिक-रूप स्वप्नज या समाधिज औपचयिक-रूप युगपत् उत्पन्न होते हैं । (१. ३७ देखिये)

^८ भदन्त पर जो स्वविर सौत्रान्तिक हैं (व्याख्या) पृ० ३६ देखिये ।—विभाषा का चतुर्थ मत ।

नन्तर-प्रत्यय नहीं है। कदाचित् बहुतर से अल्पतर की उत्पत्ति होती है, यथा तुष का बहु समुदाय प्रदीप्त होने पर भस्म होता है। कदाचित् अल्पतर से बहुतर की उत्पत्ति होती है : क्योंकि एक क्षुद्र बीज न्यग्रोध के मूल, स्कन्ध, शाखा और पत्र का उत्पाद करता है।

२. आक्षेप—जब चित्तों की अनन्तर उत्पत्ति होती है तो क्या इनमें सदा समानसंख्यक जाति के संप्रयुक्त चैत होते हैं ? नहीं। कदाचित् पूर्व चित्त के बहुतर चैत होते हैं; कदाचित् अपर चित्त के अल्पतर चैत होते हैं; कदाचित् इनका विपर्यय होता है। कुशल, अकुशल, अव्याकृत चित्त की उत्पत्ति एक दूसरे के उत्तर होती है और इनके संप्रयुक्त चैतों की संख्या (२.२८.-३०) एक नहीं होती। समाधि जिनकी उत्तर उत्पत्ति होती है रागितर्क-सविचार, अवितर्क-दिचारमात्र या अवितर्क-अविचार होते हैं (८.७)। अतः रूपी धर्मों के तुल्य चैतों में समता नहीं होती (विभाषा, ११.५)।

[३०२] यह सत्य है। कदाचित् अल्प से बहु उत्पन्न होते हैं; कदाचित् इसका विपर्यय होता है (विभाषा का द्वितीय गत) किन्तु केवल चैत-जाति (विभाषा, ११, १७) की संख्या की वृद्धि या ह्रास से अल्प-बहुतरोत्पत्ति होती है। यह जात्यन्तर के प्रति है। स्वजाति के प्रति असमता कभी नहीं होती : अल्पतर वेदना के उत्तर बहुतर वेदना कभी नहीं होती और न इसका विपर्यय होता है अर्थात् एक वेदनासहस्रं चित्त के उत्तर दो या तीन वेदनाओं से संप्रयुक्त अपरचित्त कभी नहीं होता। संज्ञात या अन्य चैतों की भी इसी प्रकार योजना करनी चाहिये।

इसलिये क्या स्वजाति के प्रति ही पूर्व-अपर का समनन्तर-प्रत्यय होता है ? क्या इसलिये वेदना केवल वेदना का समनन्तर-प्रत्यय है ?

नहीं। सामान्यतः पूर्व चैत केवल स्वजाति के चैतों के नहीं किन्तु अपर चैतों के भी समनन्तर-प्रत्यय हैं। किन्तु स्वजाति में अल्प से बहुतर की और विपर्यय से बहुतर से अल्प की उत्पत्ति नहीं होती : यह समनन्तर, 'सम और अनन्तर' इस शब्द को युक्त सिद्ध करता है।

३. एक आभिधर्मिक जो सान्तानसभाषिक (विभाषा, १०, १७) कहलाते हैं इसके विरुद्ध यह मानते हैं कि एक जाति का धर्म स्वजाति के धर्म का ही समनन्तर-प्रत्यय होता है : चित्त चित्तान्तर का समनन्तर-प्रत्यय है, वेदना वेदान्तर का, इत्यादि।

आक्षेप—जब अक्लिष्ट धर्म के अनन्तर क्लिष्ट धर्म (= अकुशल या निवृत्ताव्याकृत) उत्पन्न होता है तो इस विकल्प में यह क्लिष्ट धर्म समनन्तर-प्रत्यय से प्रवृत्त नहीं होगा।

यह पूर्वनिरुद्ध क्लेश है जो उस क्लेश का समनन्तर-प्रत्यय है जो इस द्वितीय धर्म को क्लिष्ट करता है। पूर्व क्लेश परदादुत्पन्न क्लेश का समनन्तर अवधारित होता है यद्यपि यह अक्लिष्ट धर्म से व्यवहित है क्योंकि अनुल्यजातीय धर्म से व्यवधान अव्यवधान के समान है। यथा पूर्वनिरुद्ध समापत्ति-चित्त निरोधसमापत्ति (२.४३ ए) के व्युत्थान-चित्त का समनन्तर-प्रत्यय है : समापत्ति द्रव्य से व्यवधान नहीं होता।

[३०३] हमारे विचार से सान्तानसभागिकों का वाद अयुक्त है क्योंकि इस वाद के अनुसार प्रथम अनास्रव (१. ३८ बी) चित्त का समनन्तर-प्रत्यय न होगा।

४. रूपी धर्मों के समान चित्त-विप्रयुक्त संस्कारों का (२. ३५)^१ व्याकुलसम्मुखीभाव है : अतः वह समनन्तर-प्रत्यय नहीं हैं। वास्तव में कामावचर प्राप्ति के अनन्तर त्रैधातुक और अप्रतिसंयुक्त (अनास्रव आदि) धर्मों की प्राप्तिश्यों का युगपत् सम्मुखीभाव होता है।

(२) अनागत धर्म समनन्तर-प्रत्यय होने हैं इसका प्रतिषेध आप क्यों करते हैं ?

अनागत धर्म व्याकुल हैं : अनागत अध्व में पूर्वोत्तर का अभाव है (पृ. २६१ देखिये)।^२

ए. अतः भगवत् कैसे जानते हैं कि अमुक अनागत धर्म की पूर्वोत्पत्ति होगी, अमुक की पश्चात् होगी ? यत्किञ्चित् यावत् अपरान्त उत्पन्न होता है उस सब के उत्पत्ति-क्रम को वह जानते हैं। (संघभद्र, १९, पृ० ४४४)

१. प्रथम विसर्जन।^३ अतीत और साम्प्रत के अनुमान से उनका ज्ञान होता है।—वह अतीत^४ अध्व को देखते हैं : “अमुक जाति के कर्म से अमुक विपाकफल उत्पन्न होता है, अमुक धर्म से अमुक धर्म निर्वृत्त होता है।”—वह साम्प्रत को देखते हैं : “सम्प्रति यह इस जाति का कर्म है। इस कर्म से अनागत में अमुक विपाकफल उत्पन्न होगा। सम्प्रति यह धर्म है; इस धर्म से अमुक धर्म निर्वृत्त होगा।”—किन्तु भगवत् का ज्ञान प्रणिधि-ज्ञान (७. ३७) कहलाता है। यह अनुमान ज्ञान नहीं कहलाता। अतीत और साम्प्रत के अनुमान से भगवत् उन धर्मों को प्रत्यक्ष देखते हैं [३०४] जो अनागत अध्व में आकुल अवस्थान करते हैं और वह इस ज्ञान का उत्पाद करते हैं कि “इस पुद्गल ने अमुक कर्म किया है; उसका अवश्य अमुक अनागत विपाक होगा”।^५

यदि आपकी बात मानें तो इसका यह परिणाम होगा कि यदि भगवत् अतीत का विचार न करें तो उनको अपरान्त का ज्ञान न होगा। अतः वह सर्वविद् नहीं हैं।

^१ विभाषा, ११, ५ में २ मत हैं। वसुबन्धु दूसरे का व्याख्यान करते हैं।

^२ सहभूधर्म जिनमें पूर्व-पश्चिमता का अभाव है एक दूसरे के समनन्तर-प्रत्यय नहीं हो सकते।

^३ विभाषा, ११, २ के प्रथम आचार्य—अतीतसाम्प्रतानुमानात्—शुआन्-चाङ्ग : “वह अतीत और साम्प्रत से अनुमान करते हैं किन्तु प्रत्यक्ष देखते हैं।”

^४ अतीत क्लिष्टाध्वानं पश्यति. . . विभाषा, वही क्षौर १७९. ३।

^५ शुआन्-चाङ्ग : “भगवत् देखते हैं कि अमुक अतीत कर्म से अमुक फल की उत्पत्ति होती है : अमुक धर्म से अमुक धर्म की अनन्तर उत्पत्ति होती है; भगवत् देखते हैं कि अमुक प्रत्युत्पन्न कर्म से अमुक फल की उत्पत्ति होती है : अमुक धर्म से अमुक धर्म की अनन्तर उत्पत्ति होती है। इस प्रकार देख कर भगवत् अनागत अध्व के आकुल धर्मों के संबन्ध में यह ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं : अमुक धर्म के अनन्तर अमुक धर्म की उत्पत्ति होगी। यत् किञ्चित् ज्ञान वह इस प्रकार प्राप्त करते हैं वह अनुमान ज्ञान नहीं है क्योंकि भगवत् अतीत और प्रत्युत्पन्न हेतु और फलों के उत्पत्ति-क्रम से अनुमान कर पश्चात् अनागत के आकुल धर्मों का प्रत्यक्ष ज्ञान करते हैं और कहते हैं कि “अनागत अध्व में अमुक सत्त्व अमुक कर्म करेगा और अमुक विपाक का भागी होगा।” यह प्रणिधिज्ञान है, अनुमान ज्ञान नहीं है।

२. अन्य आचार्यों^२ के अनुसार सत्त्वों की सन्तान में अनागत में उत्पन्न होनेवाले फलों का एक चिन्ह (= लिंग) भूत धर्म होता है। यह चित्तविप्रयुक्त संस्कार-विशेष है। भगवत् उसका ध्यान^३ करते हैं और ध्यान और अभिज्ञाओं के (७.४२ : च्युत्युपपाद-ज्ञान) अभ्यास के बिना ही अनागत फल को जानते हैं।

सौत्रान्तिक—यदि ऐसा हो तो भगवत् नैमित्तिक^४ होंगे। वह साक्षाद्दर्शी (साक्षात्कारी) न होंगे।

३. अतः भगवत् सर्व वस्तु को अपनी इच्छा के अनुसार प्रत्यक्षतः, न कि अनुमानतः या निमित्त- [३.०५] ततः, जानते हैं। यह सौत्रान्तिकों का मत है। इसकी युक्तता भगवत् के इस वचन से (एकोत्तर, १८, १६; दीघ, १.३१ से तुलना कीजिये) सिद्ध होती है; “बुद्ध-गुण और बुद्धगोचर अज्ञेय हैं।”

बी. यदि अनागत में पूर्व-पश्चिमता का अभाव है तो यह कैसे कह सकते हैं कि “लौकिक अग्रधर्मों के अनन्तर केवल दुःखे धर्मज्ञान-क्षान्ति, कोई अन्य धर्म नहीं, उत्पन्न होती है” (६.२७)। एवमादि यावत् : “वज्रोपमसमाधि के अनन्तर ही क्षयज्ञान की उत्पत्ति होती है (६.४६ सी)”

वैभाषिक (विभाषा, ११, २) उत्तर देते हैं : जिस धर्म का उत्पाद जिस धर्म में प्रतिबद्ध है वह उस धर्म के अनन्तर उत्पन्न होता है। यथा समनन्तर प्रत्यय के बिना भी अंकुर बीज के अनन्तर उत्पन्न होता है।

(३) अर्हत् के चरमचित्त और चरमचैत समनन्तरप्रत्यय क्यों नहीं हैं (विभाषा, १०, १६)?

क्योंकि उनके अनन्तर अन्य चित्त और चैत का संबन्ध नहीं होता।

किन्तु आपने हमें बताया है (१.१७) कि जो विज्ञान (चित्त) अनन्तर अतीत होता है और जो उत्तरचित्त का आश्रयभूत है वह मनस् है। क्योंकि अर्हत् के चरमचित्त के अनन्तर अपरचित्त नहीं होता इसलिये इस चरमचित्त को मनस् की आख्या या समनन्तरप्रत्यय की आख्या नहीं देना चाहिये। किन्तु आप उसे मनस् अवधारित करते हैं।

^२ विभाषा, १७९, ४ का दूसरा मत; न्यायावतार, १०३ ए २० में तीसरे मत का व्याख्यान है।

परमार्थ (२९ बी १२) का मतभेद है : “सत्त्वों की सन्तान में एक चित्तसंप्रयुक्त संस्कृतधर्म है जो अनागत फल का चिह्न है।”

न्यायावतार : “सत्त्वों में निमित्त (छाया-निमित्त) के सदृश अनागत हेतु-फल का एक वर्तमान चिह्न होता है अथवा एक रूप या एक चित्तविप्रयुक्त संस्कार होता है।”

चिह्न = लिंग; परमार्थ और न्यायावतार = पूर्वलक्षण; शुआन्-चाङ्ग = निमित्त

^३ जापानी संपादक : लोकधातुसंवृत्तिज्ञान (७.३) द्वारा

^४ शरत्चन्द्र ‘गणक’ का सुझाव करते हैं; कदाचित् नैमित्तिक—महाव्युत्पत्ति, १८६, १२३, नैमित्तिक-दिध्य—शुआन्-चाङ्ग : यदि ऐसा हो तो भगवत् चिह्नों से अनागत का ज्ञान प्राप्त करेंगे

ऐसा नहीं है। मनस् कारित्रप्रभावित नहीं है। मनस् होने के लिये यह आवश्यक नहीं है कि यह अपरचित्त को आश्रय प्रदान ही करे। मनस् आश्रयभाव-प्रभावित है। इस अपरचित्त के लिये इसका आश्रयभाव है। वह उत्पन्न होता है या नहीं इससे कोई प्रयोजन नहीं। अर्हत् का चरमचित्त आश्रयभाव से अवस्थित है : यदि इस आश्रय से आश्रित विज्ञानान्तर नहीं उत्पन्न होता तो ऐसा कारणान्तर-वैकल्य से होता है। इसके प्रतिकूल समनन्तरप्रत्यय कारित्र-प्रभावित है। इस प्रत्यय से जो धर्म फल को प्रतिगृहीत, आक्षिप्त, करता है उसे सर्व धर्म या सब प्राणी इस प्रकार प्रतिबद्ध नहीं कर सकते कि उसके फल का उत्पाद न हो। अतः अर्हत् के चरमचित्त को मनस् कहना युक्त है। यह समनन्तरप्रत्यय नहीं है।

(४) जो धर्म चित्तसमनन्तर हैं अर्थात् जो समनन्तरप्रत्यय चित्तजनित हैं क्या वह चित्त-
[३०६] निरन्तर हैं अर्थात् क्या वह इस चित्त के अनन्तर उत्पन्न होते हैं ?^१

चार कोटि हैं।

१. समापत्ति-प्रवेश-चित्त दो अचित्तक समापत्तियों के (२.४१) व्युत्थानचित्त और चैत का और द्वितीयादि समापत्ति-क्षणों का समनन्तरप्रत्यय है। यह चित्त निरन्तर नहीं है (२.६४ बी)।

२. (१) प्रथम समापत्ति-क्षण के जात्यादि लक्षण (२.४५ सी), (२) सचित्तकावस्था के सर्व चित्त-चैत के जात्यादि लक्षण चित्तनिरन्तर हैं किन्तु इनका कोई समनन्तरप्रत्यय नहीं है।

३. प्रथम समापत्ति-क्षण और सचित्तकावस्था के सर्व चित्त-चैत का समनन्तरप्रत्यय वह चित्त है जिनके वह निरन्तर हैं।

४. (१) द्वितीयादि समापत्ति-क्षण और (२) व्युत्थान चित्त-चैत के जात्यादि लक्षणों का समनन्तरप्रत्यय नहीं होता क्योंकि यह चित्त-विप्रयुक्त (२.३५) धर्म हैं। यह चित्तनिरन्तर नहीं हैं।

आलम्बन प्रत्यय क्या है ?

६२ सी. सब धर्म आलम्बन हैं।^२

सब धर्म, संस्कृत और असंस्कृत, चित्त, चैत के आलम्बन प्रत्यय हैं किन्तु अनियत रूप से नहीं। यथा सब रूप चक्षुर्विज्ञान और तत्संप्रयुक्त वेदनादि चैत के आलम्बन हैं; श्रोत्रविज्ञान का [३०७] शब्द आलम्बन है; घ्राणविज्ञान का गन्ध, कायविज्ञान का स्पृष्टव्य आलम्बन है। मनोविज्ञान और तत्संप्रयुक्त चैत का आलम्बन सब धर्म है। [अतः मनस् के लिये कारिका ६२ सी को अक्षरशः लेना चाहिये।]

जब एक धर्म एक चित्त का आलम्बन होता है तो ऐसा नहीं होता कि यह धर्म

^१ विभाषा, ११, ७ के अनुसार; प्रकरण, ७४ बी १६ से तुलना कीजिये।

^२ [धर्मा आलम्बनं सर्वे]

किसी क्षण में इस चित्त का आलम्बन न हो। अर्थात् यद्यपि चक्षुर्विज्ञान रूप को आलम्बनरूप में ग्रहण नहीं करता (आलम्ब्यते) तथापि यह आलम्बन है क्योंकि चाहे इसका ग्रहण आलम्बनरूप में हो या न हो इसका स्वभाव वही रहना है। यथा इन्धन इन्धन है यद्यपि वह प्रदीप्त न हो।

चित्त के आलम्ब्यलक्षणत्व की दृष्टि से यदि हम प्रश्न का विचार करें तो त्रिविध नियम व्यवस्थापित होता है। चित्त-चैत आद्यतन, द्रव्य और क्षण के नियम से अपने अपने आलम्बन में नियत हैं। (१) आद्यतन-नियम से : यथा चक्षुर्विज्ञान रूपाद्यतन आलम्बन में नियत है; (२) द्रव्य-नियम से : नीललोहितादिरूपाग्राहक चक्षुर्विज्ञान नील-लोहितादि रूपा में (१.१० देखिये) नियत है; (३) क्षणनियम से : एक चक्षुर्विज्ञान एक नीलरूपक्षण में नियत है, अन्य क्षण में नहीं।

क्या चित्त चक्षुरादि आश्रय नियम से भी नियत है ?—हाँ।^१ वर्तमान चित्त सदा स्वाश्रय-प्रतिबद्ध है; अतीत और अनागत अप्रतिबद्ध हैं। दूसरों के अनुसार अतीत और अनागत स्वाश्रय-प्रतिबद्ध है।^२

अधिपतिप्रत्यय क्या है ?

६२ डी. कारणहेतु अधिपति कहलाता है।^३

अधिपतिप्रत्ययता कारणहेतु (२.५० ए) है क्योंकि कारणहेतु अधिपतिप्रत्यय है।

[३०८] दो दृष्टियों में यह संज्ञा युक्त है।—अधिपतिप्रत्यय वह प्रत्यय है जो बहुधर्मों का है और जो बहुधर्मों का पति है (अधिकोऽयं प्रत्ययः, अधिकस्य वा प्रत्ययः)।

१. सब धर्म मनोविज्ञान के आलम्बनप्रत्यय हैं। किसी चित्त के सहभूधर्म उस चित्त के सदा आलम्बन नहीं होते किन्तु वह उसके कारणहेतु हैं। अतः कारणहेतु होने से सब धर्म अधिपतिप्रत्यय हैं, न कि आलम्बनप्रत्यय होने से।

२. स्वभाव को वर्जित कर सब धर्म सब धर्म के कारणहेतु हैं।

कोई धर्म किसी भी नाग से स्वभाव का प्रत्यय नहीं होता। संस्कृत धर्म असंस्कृत धर्म का प्रत्यय नहीं है और विपर्यय भी नहीं होता।

प्रत्युत्पन्न, अतीत, अनागत इनमें से किस अवस्था में वह धर्म अवस्थान करते हैं जिनके प्रति विविध प्रत्यय अपना कारित्र करते हैं ?

हम पहले हेतु-प्रत्यय अर्थात् कारणहेतु को वर्जित कर पाँच हेतुओं की समीक्षा करते हैं।

निश्चयमाने कारित्रं द्वौ हेतू कुशत्स्त्रयः।

जायमाने ततोऽन्यौ तु प्रत्ययौ तद्विपर्ययात् ॥६३॥

^१ ओमित्याह ।—विभाषा, १९७, २

^२ विभाषा, १२, ५ के प्रथम दो मत—तृतीय मत : प्रत्युत्पन्न, अतीत, अनागत चित्त स्वाश्रय-प्रतिबद्ध है।

^३ इस पाद का उद्धरण कठिन है : कारणाख्योऽधिपः स्मृतः।

६३ ए-बी. निरुध्यमान धर्म में दो हेतु कारित्र करते हैं ।^१

‘निरुध्यमान’ का अर्थ ‘प्रत्युत्पन्न’ है । वर्तमान धर्म को ‘निरुध्यमान’ कहते हैं क्योंकि उत्पन्न होकर यह स्वनिरोधाभिमुख होता है ।

वर्तमान धर्म में सहभूहेतु (२.५० बी) और संप्रयुक्तहेतु (५३ सी) अपना कारित्र करते हैं (कारित्रं करोति) क्योंकि वह सहोत्पन्न धर्म में अपना कारित्र करते हैं ।^२

[३०९] ६३ बी-सी. तीन, जायमान धर्म में ।^३

जायमान धर्म अर्थात् अनागत धर्म क्योंकि अनागत धर्म अनुत्पन्न होने से उत्तादाभिमुख है ।

तीन इष्ट हेतु सभागहेतु (२.५२ ए), सर्वत्रगहेतु (५४ ए) और विपाकहेतु (५४ सी) हैं ।

अन्य प्रत्ययों के संबन्ध में :

६३ सी-डी. अन्य दो प्रत्यय, विपर्यय रूप में ।^४

प्रत्ययों में समन्तरप्रत्यय पूर्व उक्त है : यह तीन हेतुओं के तुल्य जायमान धर्म में अपना कारित्र करता है क्योंकि एक क्षण के चित्त-चैत उत्पन्न चित्त-चैतों को अवकाश दान करते हैं ।

आलम्बनप्रत्यय पश्चात् उक्त है : यह दो हेतुओं के तुल्य निरुध्यमान धर्म में अपना कारित्र करता है । यह निरुध्यमान धर्म चित्त-चैत है ; यह आलम्बक हैं जो निरुध्यमान अर्थात् वर्तमान हो वर्तमान आलम्बन का ग्रहण करते हैं ।

अधिपतिप्रत्यय का कारित्र केवल इतना है कि यह अनावरणभाव से अवस्थान करता है (अनावरणभावेन अवस्थानम्) : यह वर्तमान, अतीत, अनागत धर्म में आवरण नहीं करता ।

चतुर्भिर्विचत्तचैता हि समापत्तिद्वयं त्रिभिः ।

द्वाभ्यामन्ये तु जायन्ते नेश्वरादेः क्रमादिभिः ॥६४॥

विदिध प्रकार के धर्म कितने प्रत्ययों के कारण उत्पन्न होते हैं ?

६४ ए. चित्त और चैत चार प्रत्ययों से उत्पन्न होते हैं ।^५

१. हेतुप्रत्यय, ५ हेतु ; २. समन्तरप्रत्यय, अन्य चित्त-चैतों से अव्यवहित उत्पन्न, [३१०] पूर्व चित्त और चैत ; ३. आलम्बनप्रत्यय, रूपादि पंच आलम्बन अथवा मनोविज्ञान के लिये सर्वधर्म ; ४. अधिपतिप्रत्यय, जायमान चित्त-चैतों को वर्जित कर सब धर्म ।

६४ बी. दो समापत्ति, तीन के कारण ।^६

^१ निरुध्यमाने कारित्रं द्वौ हेतु कुस्तः । विभाषा, ३६, ७ के अनुसार ।

^२ शुभान्-चाङ्ग : “क्योंकि उनके कारण सहभूफल कारित्र से सहन्यागत होता है ।”

^३ त्रयः । जायमाने

^४ ततोऽन्यौ तु प्रत्ययौ तद्विपर्ययात् ॥

^५ चतुर्भिर्विचत्तचैता हि—अभिधर्महृदय, २.१७ से तुलना कीजिये ।

^६ समापत्तिद्वयं त्रिभिः ।

आलम्बनप्रत्यय को वर्जित करना चाहिये क्योंकि असंज्ञिसमापत्ति (२.४२) और निरोध-समापत्ति (२.४३) में आलम्बन का ग्रहण, ज्ञान नहीं होता। तीन प्रत्यय यह हैं : १. हेतु-प्रत्यय, दो हेतु, सहभहेतु, (समापत्ति के जात्यादि लक्षण २.४५ सी), सभागहेतु (समानभूमिक अर्थात् यथायोग्य चतुर्थध्यानभूमिक या भावाग्निक, पूर्वोत्पन्न कुशल धर्म); २. समनन्तरप्रत्यय, ससंप्रयोग समापत्ति-चित्त; प्रवेशचित्त का सर्व समापत्ति-क्षणों में से किसी से भी व्ययधान नहीं होता; ३. अधिपतिप्रत्यय, पूर्ववत् ।

इन दो समापत्तियों की उत्पत्ति चित्ताभिसंस्कार, चित्ताभोग से (चित्ताभिसंस्कारज, चित्ताभोगज) होती है : अतः चित्त इनका समनन्तरप्रत्यय होता है। वह चित्तोत्पत्ति में प्रतिबन्ध हैं (चित्तोत्पत्तिप्रतिबन्ध) : अतः वह व्युत्थानचित्त के समनन्तरप्रत्यय नहीं हैं यद्यपि वह उसके निरन्तर हैं (पृ० ३०६ देखिये)

६४ सी. अन्य धर्म दो से उत्पन्न होते हैं ।^१

अन्य धर्म अर्थात् अन्य चित्तविप्रयुक्त-संस्कार और रूपीधर्म (रूप) हेतुप्रत्यय और अधिपतिप्रत्यय के कारण उत्पन्न होते हैं (विभाषा, १३६, ५) ।

[३११] सब धर्म जो उत्पन्न होते हैं पाँच हेतुओं से और चार प्रत्ययों से जिनका हमने निरूपण किया है उत्पन्न होते हैं। ईश्वर, पुरुष, प्रधानादिक एक कारण से सर्व जगत् की प्रवृत्ति नहीं होती।^१ इस वाद को आप कैसे व्यवस्थापित करते हैं ।

यदि आप समझते हैं कि वाद तर्क से सिद्ध होते हैं तो आप अपने इस वाद का परित्याग करते हैं कि जगत् की उत्पत्ति एक कारण से होती है ।

६४ डी. ईश्वर या अन्य किसी कारण से नहीं क्योंकि क्रम आदि हैं ।^२

अनेक हेतुओं से यह वाद अयुक्त है कि भावों की उत्पत्ति एक कारण से, ईश्वर, महादेव या वासुदेव से, होती है ।

१. यदि भावों की उत्पत्ति एक कारण से होती तो सर्वजगत् की उत्पत्ति युगपत् होती किन्तु हम देखते हैं कि भावों का क्रम-संभव है ।

ईश्वरवादी—यह क्रम-भेद ईश्वर की इच्छावश है : “यह इस समय उत्पन्न हो ! यह इस समय निरुद्ध हो ! यह पश्चात् उत्पन्न और निरुद्ध हो !”

यदि ऐसा है तो भावों की उत्पत्ति एक कारण से नहीं होती क्योंकि छन्द-भेद है। पुनः यह छन्द-भेद युगपत् होगा क्योंकि छन्द-भेद का हेतु ईश्वर अभिन्न है और सर्वजगत् की उत्पत्ति युगपत् होगी ।

^१ [द्वाभ्यामन्ये तु जायन्ते ।

^२ व्याख्या : ईश्वर, पुरुष, प्रधान, काल, स्वभाव, परमाणु आदि ।

^३ नेश्वरादेः क्रमादिभिः ॥ बोधिचर्यावतार, ९.११९ से तुलना कीजिये; षड्दर्शनसंग्रह, पृ. ११: सुहृल्लेख (जे पी टी एस. १८८६), ५० इत्यादि ।

अगुत्तर, १. १७३, कारपेंटर, थोइज्म, ५०

ए. ईश्वरवादी—ईश्वर के छन्द युगपत् नहीं हैं क्योंकि इन छन्दों के उत्पाद के लिये ईश्वर कारणान्तर की अपेक्षा करता है ।

यदि ऐसा है तो ईश्वर सर्व जगत् का एक कारण नहीं है । पुनः जिन कारणों की ईश्वर अपेक्षा करता है उनका भी कम-संभव है : अतः जिन कारणों की वह अपेक्षा करते हैं वह स्वयं कारणान्तरों की अपेक्षा करते हैं । अनवस्था-प्रसंग है ।

ईश्वरवादी—मानिये कि कारणसन्तति का आरम्भ नहीं हुआ है ।

इसका यह अर्थ होगा कि संसार अनादि है । आप एक कारणवाद का पस्वित्याग करते हैं और हेतु-प्रत्ययके शाक्यपुत्रीय न्याय का पक्ष लेते हैं ।

[३१२] बी. ईश्वरवादी—ईश्वर के छन्द युगपत् होते हैं किन्तु सर्वजगत् की उत्पत्ति युगपत् नहीं होती क्योंकि उनका उत्पाद यथाछन्द अर्थात् क्रमपूर्वक होता है ।

यह युक्त नहीं है । ईश्वर के छन्दों में पश्चात् कोई विशेष नहीं होता (तेषां पश्चादविशेषात्) । हम इसका निरूपण करते हैं । मानिये कि ईश्वर का यह छन्द है : “यह इस समय उत्पन्न हो ! यह पश्चात् उत्पन्न हो !” । हम नहीं देखते कि क्यों द्वितीय छन्द जो पूर्व समर्थ नहीं है पश्चात् समर्थ होगा, क्यों जो पश्चात् समर्थ है वह पूर्व समर्थ न होगा ।

२. इस महायत्न से ईश्वर को क्या लाभ होता है जिससे वह जगत् की उत्पत्ति करता है ?

ईश्वरवादी—स्वप्रीति के लिये ईश्वर जगत् की उत्पत्ति करता है ।

अतः वह स्वप्रीति के विषय में ईश्वर नहीं है क्योंकि उपाय के बिना वह उसकी निष्पत्ति में अशक्त है । स्वप्रीति के विषय में अनीश्वर होने से वह जगत् के विषय में कैसे ईश्वर होगा ?—पुनः यदि ईश्वर नरकादि में प्रजा की सृष्टि कर बहु इतियों से उन्हें उपद्रुत होते देखकर प्रसन्न होता है तो उसको नमस्कार है ! सत्य ही यह लौकिक श्लोक सुगीत है : “उसे रूद्र कहते हैं क्योंकि वह दहन करता है, क्योंकि वह तीक्ष्ण, उग्र, प्रतापवान् है, क्योंकि वह मांस, शोणित-मज्जा खाने वाला है ।”^१

३. जगत् के एक कारण ईश्वर का पक्षग्राही हेतु और प्रत्ययों का, अंकुरादि के प्रति बीज के प्रत्यक्ष पुरुषकार का, प्रतिषेध करता है ।—यदि अपनी प्रतिज्ञा को बदलकर वह इन हेतुओं के अस्तित्व को स्वीकार करता है और कहता है कि यह हेतु ईश्वर के सहकारी हैं तो कारणों के साथ ईश्वर को कारण कल्पित करनेवाले का यह केवल भक्तिवाद है क्योंकि जिन्हें सहकारी कहते हैं [३१३] उन कारणों से अन्य किसी कारण का व्यापार हम नहीं देखते । पुनः ईश्वर सहकारि-कारणों के विषय में अनीश्वर होगा क्योंकि यह कार्य की उत्पत्ति में स्वसामर्थ्य से व्यापृत होते हैं ।—कदाचित् प्रत्यक्ष हेतुओं के निषेध के परिहार के लिये और ईश्वर की अप्रत्यक्ष वर्तमान

^१ शतस्त्रीय में व्यास का श्लोक (व्याख्या)—महाभारत, ७. २०३, १४०, १३. १६१, ७ : यन्निर्बहति यत् तीक्ष्णो यदुग्रो यत् प्रतापवान् । मांसशोणितमज्जादो यत् ततो रूद्र उच्यते ।
—बर्नूफ, इन्द्रोद्घोषान पृ. ५६८ में यह उद्धरण मिलता है ।

क्रिया की प्रतिज्ञा के परिहार के लिये ईश्वरवादी कहेगा कि आदिसर्ग ईश्वरहेतुक है : किन्तु आदिसर्ग का केवल ईश्वर एक कारण है, वह अन्य कारणों की अपेक्षा नहीं करता। अतः ईश्वरवत् उसके भी अनादित्व का प्रसंग होगा। ईश्वरवादी इसका प्रतिषेध करता है।

जिस प्रकार हमने ईश्वरवाद का निराकरण किया है उसी प्रकार पुत्र, प्रधानादि में भी यथायोग्य योजना करनी चाहिये। अतः कोई धर्म एक कारण से उत्पन्न नहीं होता।

दुःख का विषय है कि लोगों की बुद्धि असंस्कृत है।^१ पशु और पक्षियों के समान पुद्गल यथार्थ में दया के पात्र हैं। वह एक भव से दूसरे भव में संसरण करते हैं और विविध कर्म उचित करते हैं। वह इन कर्मों के फल का आस्वादन करते हैं^२ और उनकी यह विप्रतिभति होती है कि ईश्वर इस फल का कारण है।—^३ इस मिथ्या परिकल्पना का अन्त करने के लिये हमको सत्य का निर्देश करना चाहिये।

हमने देखा है (२. ६४ सी) कि रूपी धर्मों की उत्पत्ति दो प्रत्ययवश होती है—हेतुप्रत्यय, अधिपतिप्रत्यय। इतना विशेष कहना है और देखना है कि भूत-महाभूत और उपादायरूप या भौतिक कैसे परस्पर-हेतु-प्रत्यय होते हैं।

द्विधा भूतानि तद्धेतुर्भौतिकस्य तु पञ्चधा ।

त्रिधा भौतिकमन्योऽयं भूतानामेकधैव तत् ॥६५॥

६५ ए. भूत भूतों के दो प्रकार से हेतु हैं।^४

पृथिवीधातु आदि चारभूत भूतचतुष्क के सभागहेतु और सहभूहेतु हैं।

[३१४] ६५ बी. और भौतिकों के ५ प्रकार से।^५

चार भूत रूप-रसादि भौतिकों के ५ प्रकार से हेतु हैं—जननहेतु, निश्रयहेतु, प्रतिष्ठाहेतु, उपस्तम्भहेतु, उपबृंहणहेतु।^६

जननहेतु, क्योंकि भौतिक भूतों से उत्पन्न होते हैं यथा शिशु अपने माता-पिता से उत्पन्न होता है।^७

^१ अकृतबुद्धयः = परमार्थशास्त्रैरसंस्कृतबुद्धयः । [ध्या २३९. २६]

^२ विपाक और पुरुषकारफल ।

^३ शुभान्-चाङ्ग में यह अधिक है ।

^४ द्विधा भूतानि तद्धेतुः—भूतों पर १. १२, २. २२ देखिये । [ध्या २३९. २८]

^५ [भौतिकानां तु पञ्चधा] ।

^६ शुभान्-चाङ्ग में इतना अधिक है कि यह पाँच हेतु कारणहेतु के प्रकार हैं ।

१. ११ पर व्याख्या देखिये जहाँ आश्रय-संगृहीत भूत और अविज्ञप्तिभौतिक के कार्य-कारणसंबन्ध का निर्देश है ।

^७ यह लक्षण विभाषा, १२७, ६ के अनुसार है।—संघभद्र, ११० ए, अन्य लक्षण और अन्य उदाहरण देते हैं । २. २७७, २९७, सिद्धि, ४४८ देखिये ।

निश्चयहेतु, क्योंकि भौतिक उत्पन्न होकर भूत का अनुविधान करते हैं यथा भिक्षु आचार्य और उपाध्याय का निश्चय लेता है ।

प्रतिष्ठाहेतु, क्योंकि भौतिक भूतों का आधार लेते हैं, यथा चित्र भित्ति का आधार लेता है ।^४

उपस्तम्भहेतु, क्योंकि भूत भौतिकों के अनुच्छेद में हेतु हैं ।

उपबृंहणहेतु, क्योंकि भूत भौतिकों की वृद्धि में हेतु हैं ।

अर्थात् भूत भौतिकों के जन्महेतु, धिकारहेतु, आधारहेतु, स्थितिहेतु, वृद्धिहेतु हैं ।

६५ सी. भौतिक भौतिकों के तीन प्रकार से हेतु हैं ।^५

सहभू, सभाग और विपाकहेतु । हम कारणहेतु का उल्लेख नहीं करते क्योंकि सब धर्म सब धर्म के कारणहेतु हैं ।

१. २. ५१ ए में वर्णित प्रकार (दो संयर) के चित्तानुपरिवर्ति काय-वाक्कर्म जो भौतिक हैं सहभूहेतु हैं ।

[३१५] २. सब उत्पन्न भौतिक सभाग भौतिकों के सभागहेतु हैं ।

३. काय-वाक् कर्म विपाकहेतु हैं : चक्षु-कर्मविपाकादि से उत्पादित होता है ।

६५ डी. तथा भूतों का हेतु एक प्रकार से ।^६

काय-वाक् कर्म भूतों का उत्पाद विपाकफल के रूप में करते हैं; अतः वह विपाकहेतु हैं ।

हमने देखा है कि पूर्व चित्त और चैत अपर चित्त और चैत के समनन्तरप्रत्यय हैं । किन्तु हमने इसका निर्देश नहीं किया है कि कितने प्रकार के चित्त प्रत्येक चित्त-प्रकार के अनन्तर उत्पन्न हो सकते हैं ।

नियम व्यवस्थापित करने के पूर्व चित्त का वर्गीकरण आवश्यक है ।

सर्व प्रथम १२ प्रकार बताते हैं ।

कुशलाकुशलं कामे निवृतानिवृतं मनः ।

रूपारूप्येण्वकुशलादव्यग्रानास्रवं द्विधा ॥६६॥

६६. कामधातु का कुशल, अकुशल, निवृताव्याकृत, अनिवृताव्याकृत चित्त । रूपधातु और आरूप्यधातु का कुशल, निवृताव्याकृत, अनिवृताव्याकृत चित्त । दो अनास्रव चित्त ।^७

^४ ऊपर ५९ डी. पर देखिये—प्रतिष्ठाफल

^५ [त्रिधा भौतिकमन्योन्यम्]

^६ [भूतानाम्] एकधैव तत् ॥ [व्या २४०. १३]

^७ कुशलाकुशलं कामे निवृतानिवृतं मनः ।

रूपारूप्येण्वकुशलादव्यग्रानास्रवं द्वे अनास्रवे ॥

विज्ञानकाय, ६ (फोलियो ५४ वी) और धर्मत्रात के ग्रन्थ में, नैऋजयो, १२८७, फोलियो ९५ वी और फोलियो १०. २९-३४ द्वादश चित्त के बाद का निर्देश है : “कामधातु में चार, रूपधातु और आरूप्यधातु में तीन-तीन तथा शैक्ष और अशैक्ष । इनकी उत्पत्ति का क्रम बताते हैं । कामधातु में कुशल ९ का उत्पाद करता है और ८ से उत्पन्न होता है . . . ।” इसके

कामधातु में चार प्रकार के चित्त होते हैं : कुशल, अकुशल, निवृताव्याकृत, अनिवृताव्याकृत ।
दो ऊर्ध्व-धातुओं में अकुशल को वर्जित कर तीन प्रकार होते हैं ।

[३१६] २. अनास्रवचित्त—शैक्षचित्त और अशैक्ष या अहंत् का चित्त ।

इन १२ चित्तों की उत्पत्ति एक दूसरे के अनन्तर अनियत रूप से नहीं होती है ।

कामे नव शुभाच्चित्ताच्चित्तान्यष्टभ्य एव तत् ।

दशभ्योऽकुशलं तस्माच्चत्वारि निवृतं तथा ॥६७॥

पञ्चभ्यो निवृतं तस्मात् सप्त चित्तान्यनन्तरम् ।

रूपे दशैकं च शुभान्नवभ्यस्तदनन्तरम् ॥६८॥

अष्टभ्यो निवृतं तस्मात् षट् त्रिभ्यो निवृतं पुनः ।

तस्मात् षडेवमारूप्ये तस्य नीतिः शुभात्पुनः ॥६९॥

नव चित्तानि तत् षट्कास्त्रिवृतात्सप्त तत्तथा ।

चतुर्भ्यः शैक्षमस्मात् पञ्चाशैक्षं तु पञ्चकात् ॥७०॥

तस्माच्चत्वारि चित्तानि द्वादशैतानि विंशतिः ।

प्रायोगिकोपपत्त्याप्तं शुभं भित्वा त्रिषु द्विधा ॥७१॥

विपाकजैर्यापथिकशैल्पस्थानिकनैमित्तम् ।

चतुर्धाऽव्याकृतं कामे रूपे शिल्पविवर्जितम् ॥७२॥

६७-६८ बी. पहले हम कामावचर चित्त का विचार करते हैं । कुशल के अनन्तर ९ चित्त उत्पन्न हो सकते हैं; ८ चित्तों के अनन्तर कुशल उत्पन्न हो सकता है । १० चित्तों के अनन्तर अकुशल उत्पन्न हो सकता है; अकुशल के अनन्तर चार चित्त उत्पन्न हो सकते हैं । यही निवृताव्याकृत के लिये है । अनिवृताव्याकृत ५ चित्त के अनन्तर उत्पन्न हो सकता है; अनिवृताव्याकृत के अनन्तर सात चित्त उत्पन्न हो सकते हैं ।^१

१. कामावचर कुशल (शुभ) चित्त के अनन्तर ९ चित्त उत्पन्न हो सकते हैं : (१-४) चार कामावचर चित्त; (५-६) दो रूपावचर चित्त : समापत्तिकाल में कुशल चित्त; निवृताव्याकृत चित्त कामधातु में उपपन्न पुद्गल के कुशल मरणचित्त के अनन्तर प्रति-

अनन्तर (कारिका, ३५-४६) विंशति-चित्त का वाद (कोश, २.७१ बी-७२) आता है जो कारिकाओं में चित्त के उत्पत्ति-क्रम के नियमों का निर्देश करता है । जैसा हम देखेंगे वसुबन्धु केवल भाष्य देखकर सन्तोष कर लेते हैं किन्तु यशोमित्र (पृ० २४५) संग्रह श्लोक देते हैं । कदाचित् यह धर्मत्रात के मूलग्रन्थ का एक अंश है ।

१ (कामे शुभचित्तान् नवचित्ताभ्यष्टभ्य एव तत् ।

अशुभं दशभ्यस्) तस्माच्चत्वारि [निवृतं तथा ॥

पञ्चभ्योऽनिवृतं सप्त चित्तानि तदनन्तरम्] ।

कथावत्थु, १४.१ से तुलना कीजिये जहाँ थेरवादी महासांघिक के विरुद्ध यह मत स्थापित करता है कि कुशल अकुशलादि के अनन्तर नहीं होता ।

सन्धिकाल में रूपावचर अन्तराभव में (३.३८) ; (७) आरूप्यधातु का निवृताव्या-
कृत चित्त, जब कामधातु में मृत पुद्गल आरूप्यधातु में पुनरुपपन्न होता है; कुशल नहीं,
क्योंकि चार दूरताओं से^१ कामधातु से आरूप्य के दूर होने के कारण पुद्गल कामधातु से आरूप्य-
समापत्ति में प्रत्यक्ष नहीं जा सकता; (८-९) सत्याभिसमय-।(६.२७) काल में शैक्ष-अशैक्ष,
२ अनास्रव चित्त ।

[३१७] २. कुशल-कुशलचित्त—इन ८ चित्तों के अनन्तर उत्पन्न हो सकता है : (१-४)
कामावचर चार चित्त (५-६), व्युत्थानकाल में रूपावचर दो चित्त—कुशल और निवृता-
व्याकृत । वास्तव में ऐसा होता है कि क्लिष्टसमापत्ति से उत्पीड़ित हो योगी समाधि से
व्युत्थान करता है : क्लिष्ट (= निवृत) समापत्ति-चित्त के अनन्तर वह अधरभूमिक कुशल-
चित्तका उत्पाद करता है और इस प्रकार अधरकुशल (८.१४) के संश्रयण से वह परिहाणि
को बचाता है; (७-८) सत्याभिसमय-व्युत्थानकाल में शैक्ष-अशैक्ष के दो अनास्रव चित्त ।

३. दो अनास्रव चित्तों को वर्जित कर १० चित्तों के अनन्तर क्लिष्ट अर्थात् अकुशल और
निवृताव्याकृत की उत्पत्ति हो सकती है क्योंकि कामावचर प्रतिसन्धि-चित्त क्लिष्ट होता है
(२.१४, ३.३८) और त्रैधातुक किसी चित्त के भी अनन्तर हो सकता है ।

४. क्लिष्ट के अनन्तर कामधातु के चार चित्त उत्पन्न हो सकते हैं ।

५. पांच चित्तों के अनन्तर अर्थात् कामधातु के चार चित्त और रूपधातु के कुशल के अनन्तर
अनिवृताव्याकृत उत्पन्न हो सकता है क्योंकि रूपावचर कुशल-चित्त के अनन्तर कामावचर निर्माण-
चित्त अर्थात् वह चित्त जिसका आलम्बन कामाप्त अर्थ का निर्माण है उत्पन्न होता है ।

६. अनिवृताव्याकृत के अनन्तर यह सात चित्त उत्पन्न हो सकते हैं : (१-४) कामधातु
के चार चित्त; (५-६) रूपधातु के दो चित्त—कुशल, क्योंकि पूर्वोक्त निर्माण-चित्त के अन-
न्तर रूपावचर कुशल-चित्त की पुनः उत्पत्ति होती है, और निवृताव्याकृत, जब एक पुद्गल, निवृ-
ताव्याकृत मरण-चित्त के अनन्तर रूपधातु में पुनः उत्पन्न होता है जहाँ प्रथम चित्त अवश्य निवृ-
ताव्याकृत (३.३८) होता है; (७) आरूप्यधातु का एक निवृताव्याकृत-चित्त, जब एक पुद्-
गल निवृताव्याकृत मरण-चित्त के अनन्तर आरूप्यधातु में पुनः उत्पन्न होता है ।

[३१८] ६८ सी-६९ बी. रूपधातु में कुशल के अनन्तर ११; ९ के अनन्तर कुशल;

^१ चार दूरता यह हैं : आश्रय, आकार, आलम्बन, प्रतिपक्षदूरता :

ए. आरूप्यावचर आश्रय से किसी कामावचर धर्म का सम्मुखीकरण नहीं होता यथा रूपावचर
आश्रय से कामावचर निर्माणचित्त (२.५३ बी) का सम्मुखीकरण होता है ।

बी. आरूप्यावचर चित्त औदारिक इत्यादि आकारों से (६.४९) कामधातु का आकरण
नहीं करता यथा रूपावचर चित्त करता है ।

सी. आरूप्यावचर चित्त कामधातु को आलम्बन नहीं बनाता यथा रूपावचर चित्त बनाता है ।

डी. आरूप्यावचर चित्त कामधातु के क्लेशों का प्रतिपक्ष नहीं है यथा ध्यान प्रतिपक्ष है ।

चार अन्य दूरताओं पर ५.६२ देखिये । ४.३१, ५.१०६ देखिये

८ के अनन्तर निवृताव्याकृत; निवृताव्याकृत के अनन्तर ६; ३ के अनन्तर अनिवृताव्याकृत; अनिवृताव्याकृत के अनन्तर ६ ।^१

१. रूपधातु के कुशल-कुशलचित्त-के समनन्तर रूपावचर अनिवृताव्याकृत को वर्जित कर ११ चित्त उत्पन्न हो सकते हैं ।

२. कामधातु के दो क्लिष्ट चित्तों को (अकुशल और निवृताव्याकृत) और आरूप्यधातु के अनिवृताव्याकृत को वर्जित कर ९ चित्तों के अनन्तर कुशल की उत्पत्ति हो सकती है ।

३. कामावचर क्लिष्ट द्वय और शैक्ष-अशैक्ष को वर्जित कर ८ चित्तों के अनन्तर निवृताव्याकृत की उत्पत्ति हो सकती है ।

४. निवृताव्याकृत के अनन्तर ६ चित्त अर्थात् रूपावचर तीन चित्त और कामावचर कुशल, अकुशल और निवृताव्याकृत उत्पन्न हो सकते हैं ।

५. तीन रूपावचर चित्तों के अनन्तर अनिवृताव्याकृत की उत्पत्ति हो सकती है ।

६. अनिवृताव्याकृत के अनन्तर ६ चित्त अर्थात् (१-३) तीन रूपावचर चित्त, (४-५) दो कामावचर क्लिष्ट-चित्त (अकुशल और निवृताव्याकृत), (६) आरूप्यावचर क्लिष्ट-चित्त (निवृताव्याकृत) उत्पन्न हो सकते हैं ।

६९ सी-७० बी. आरूप्यधातु में भी अनिवृताव्याकृत के लिये वही पूर्वोक्त नीति है; कुशल के अनन्तर ९ चित्त; ६ के अनन्तर कुशल; निवृताव्याकृत के अनन्तर सात; सात के अनन्तर निवृताव्याकृत ।^२

१. आरूप्यावचर अनिवृताव्याकृत इस धातु के तीन चित्तों के अनन्तर उत्पन्न हो सकता है ।

२. आरूप्यावचर अनिवृताव्याकृत के अनन्तर यह ६ चित्त उत्पन्न हो सकते हैं : (१-३) इस धातु के तीन चित्त, (४-६) कामावचर (दो) क्लिष्ट-चित्त और (एक) रूपावचर चित्त ।

[३१९] ३. कुशल के अनन्तर कामावचर कुशल और कामरूपावचर अनिवृताव्याकृत को वर्जित कर ९ चित्त उत्पन्न हो सकते हैं ।

४. ६ चित्तों के अनन्तर अर्थात् (१-३) तीन आरूप्यावचर चित्त, (४) रूपावचर कुशल, (५-६) दो अनास्रव चित्त के अनन्तर कुशल की उत्पत्ति हो सकती है ।

५. निवृताव्याकृत के अनन्तर सात चित्त अर्थात् (१-३) तीन आरूप्यावचर चित्त, (४) रूपावचर कुशल, (५-६) कामावचर क्लिष्ट-द्वय, (७) रूपावचर क्लिष्ट उत्पन्न हो सकते हैं ।

६. कामावचर क्लिष्ट-द्वय, रूपावचर क्लिष्ट और शैक्ष-अशैक्ष को वर्जित कर सात चित्तों के अनन्तर निवृताव्याकृत उत्पन्न हो सकता है ।

^१ [एकादश शुभाद् रूपे तद् नवसमनन्तरम् । अष्टभ्यो निवृत्तं तस्मात् षट्कं अनिवृत्तं त्रयात् । ततः षट्कम्]

^२ [इयं नीतिरारूप्येऽपि शुभास्रव ॥ चित्तानि तद् भवेत् षट्कान् निवृत्तात् सप्त तत् तथा ।]

७० सी-७१ ए. चार के अनन्तर शैक्ष; शैक्ष के अनन्तर ५; पाँच के अनन्तर अशैक्ष. अशैक्ष के अनन्तर चार ।^१

शैक्ष की—उस आर्य के चित्त की जो अहंत् नहीं है—उत्पत्ति शैक्ष और त्रैधातुक कुशल इन चार चित्तों के अनन्तर हो सकती है ।

शैक्ष के अनन्तर ५ चित्त अर्थात् उक्त चार चित्त और अशैक्ष उत्पन्न हो सकते हैं ।

५ चित्तों के अनन्तर अर्थात् शैक्ष, अशैक्ष और त्रैधातुक कुशल के अनन्तर अशैक्ष की उत्पत्ति हो सकती है ।

अशैक्ष के अनन्तर चार चित्त, अशैक्ष और त्रैधातुक कुशल, उत्पन्न हो सकते हैं ।

इन नियमों के अनुसार १२ प्रकार के चित्त एक दूसरे के अनन्तर उत्पन्न हो सकते हैं ।

७१बी-७२. त्रैधातुक कुशलकोप्रायोगिक और उपपत्तिलाभिक इन दो भागों में, कामावचर अनिवृताव्याकृत को विपाकज, ऐर्यापथिक, शैल्पस्थानिक और नैमित्त इन चार भागों में, रूपा- [३२०] वचर अनिवृताव्याकृत चित्त को शैल्पिक को वर्जित कर तीन भागों में विभक्त करने से १२ प्रकार के चित्त २० होते हैं ।^२

१. प्रत्येक धातु के कुशल को दो प्रकार में विभक्त करते हैं : १. यात्निक, प्रायोगिक^३, २. उपपत्तिलाभिक, उपपत्तिप्रातिलम्बिक^४ ।—अतः कुशल के ६ भेद होते हैं जो प्रथम सूची के तीन भेदों के अनुरूप हैं ।

कामावचर अनिवृताव्याकृत के चार प्रकार हैं : १. विपाकज (२.५७); २. ऐर्यापथिक—चक्रमण, स्थान, आसन, शयन; ३. शैल्पस्थानिक^५; ४. नैमित्त, नैर्माणिकः निर्माण वह चित्त है जिस से ऋद्धिसमन्वागत पुद्गल रूपादि का निर्माण करता है और जिसे अभिज्ञाफल (७.४९) (ऊपर पृ० २६५) कहते हैं ।

^१ [शैक्षं चतुर्भ्य एतस्मात् पञ्चाशक्षं तु] पञ्चकात् ॥ तस्माच्चत्वारि [चित्तानि]

^२ [[द्वादश तानि] विंशतिः ।

द्विधा भिन्वा प्रायोगिकोपपत्तिलाभिकं शुभम् ॥]

विपाकजैर्यापथिकशैल्पस्थानिकनैमित्तम् ।

चतुर्धा व्याकृतं कामे [रूपे शैल्पिकवर्जितम् ॥]

^३ अर्थात् १. श्रुतमय, २. चिन्तामय, ३. भावनामय —कामधातु में १ और २; रूपधातु में १ और ३; आरूप्यधातु में ३, जैसा हम ऊपर पृ० २६५ में देख चुके हैं; पृ. ३२८ से तुलना कीजिये ।

^४ यह वह कुशल है जिसकी प्राप्ति काम और रूपधातुओं के अन्तराभव-प्रतिसन्धिकरण में प्रथमतः उत्पन्न होती है; आरूप्यधातु में उपपत्तिभव में इसकी प्राप्ति उत्पन्न होती है । [व्या २४२.२३]

^५ दिव्यावदान, पृ. ५८. १०० में शिल्पस्थानकर्मस्थान (महाव्युत्पत्ति ७६, ५) की एक सूची दी है: हाथी के सिर पर, घोड़े की पीठ पर सवार होने का शिल्प, धनुष आदि के चढ़ाने का शिल्प ।

रूपावचर अनिवृताव्याकृत तीन प्रकार में विभक्त है क्योंकि इस धातुमें शैल्पस्थानिक का अभाव है ।

आरूप्यावचर अनिवृताव्याकृत का विभाग नहीं हो सकता क्योंकि यह एकान्ततः विपाकज है । अतः अनिवृताव्याकृत के सात भेद हैं जो प्रथम सूची के दो अनिवृताव्याकृतों के अनुरूप हैं । कुशलों को अन्तर्भूत कर पूर्ण संख्या २० की होती है ।

[३२१] ऐर्यापथिकादि तीन अनिवृताव्याकृत के आलम्बन रूप-गन्ध-रस-स्पर्शव्य हैं ।^१ शैल्पस्थानिक का शब्द भी आलम्बन है ।^२

यह तीन अनिवृताव्याकृत मनोविज्ञान ही हैं । पंच विज्ञानकाय ऐर्यापथिक और शैल्पस्थानिक के प्रायोगिक हैं ।^३

एक दूसरे मत के अनुसार^४ एक मनोविज्ञान है जो ऐर्यापथिक^५ से अभिनिर्हृत (उत्पादित) है, जिसका आलम्बन १२ आयतन हैं—चक्षुरायतन यावत् धर्मायतन ।

२. निम्न नियमों के अनुसार यह विंशति-चित्त एक दूसरे के अनन्तर उत्पन्न होते हैं ।

(१) कामधातुः कामावचर ८ प्रकार के चित्त अर्थात् २ कुशल, २ क्लिष्ट (अकुशल, निवृ-ताव्याकृत), ४ अनिवृताव्याकृत ।

१. प्रायोगिक कुशल

के अनन्तर १० : (१-७) अभिज्ञाफल (निर्माणचित्त) को वर्जित कर स्वधातु के सात ;

(८) रूपावचर प्रायोगिक ; (९-१०) शैक्ष और अशैक्ष ।

८ के अनन्तर : (१-४) स्वधातु के चार, २. कुशल और दो क्लिष्ट ; (५-६) रूपावचर प्रायोगिक और अनिवृताव्याकृत ; (७-८) शैक्ष और अशैक्ष ।

[३२२] २. उपपत्तिलाभिक कुशल

के अनन्तर ९ : (१-७) अभिज्ञाफल से अन्यत्र स्वधातु के सात ; (८-९) रूपारूप्यावचर अनिवृताव्याकृत ।

^१ (१) शय्यारूप-शरीररूपादि, (२) शिल्पस्थानरूपादि (धनुर्बाणादि), (३) निर्माण-रूपादि । [व्या २४३.५]

^२ क्योंकि शिल्पोपदेश-शब्द का आलम्बन कर पुद्गल शिल्प सीखता है—यहाँ विपाकज का उल्लेख नहीं है । अतः रूपादि पंच भौतिक इसके आलम्बन हैं ।

^३ वास्तव में चक्रमणादि चित्त, देखकर, अनुभव कर, यावत् स्पर्श कर, होता है ।—शुभान्-चाङ्ग भाष्य का शोध करते हैं : “ऐर्यापथिक और शैल्पस्थानिक के चार और पाँच विज्ञान यथाक्रम प्रायोगिक हैं ।” यह जानना चाहिये कि ऐर्यापथिक में श्रोत्रविज्ञान नहीं होता । [व्या २४३. १४]

^४ विभाषा, १२६, १९—भदन्त अनन्तवर्मन् : (२. ४६ सो-डी की व्याख्या) विभाषा-व्याख्यान में इस मत का निर्देश करते हैं । इसके अनुसार अन्य अनिवृताव्याकृत हैं (७. ५१ में व्याख्यात) जो पूर्वोक्त चार अव्याकृतों में अन्तर्भूत नहीं हैं । [व्या २६३. २६]

^५ शुभान्-चाङ्ग : “ऐर्यापथिक और शैल्पस्थानिक से ।”

११ के अनन्तर : (१-७) अभिज्ञाफल से अन्यत्र स्वधातु के सात; (८-९) रूपावचर प्रायोगिक और अनिवृताव्याकृत; (१०-११) शैक्ष और अशैक्ष ।

३-४. अकुशल और निवृताव्याकृत

के अनन्तर सात स्वधातु के, अभिज्ञाफल को वर्जित कर ।

१४ के अनन्तर : (१-७) अभिज्ञाफल को वर्जित कर स्वधातु के सात; (८-११) प्रायोगिक और अभिज्ञाफल को वर्जित कर रूपधातु के चार; (१२-१४) प्रायोगिक को वर्जित कर आरूप्यधातु के तीन ।

५-६. विपाकज और ऐर्यापथिक

के अनन्तर ८ : (१-६) प्रायोगिक और अभिज्ञाफल से अन्यत्र स्वधातु के ६; (७-८) रूपावचर अनिवृताव्याकृत ।

अभिज्ञाफल से अन्यत्र स्वधातु के, सात के अनन्तर ।

७. शैल्पस्थानिक

के अनन्तर ६, स्वधातु के, प्रायोगिक और अभिज्ञाफल को वर्जित कर ।

अभिज्ञाफल से अन्यत्र स्वधातु के, सात के अनन्तर;

८. अभिज्ञाफल

के अनन्तर दो—स्वधातु का अभिज्ञाफल और रूपावचर प्रायोगिक ।

पूर्ववत् दो के अनन्तर ।

(२) रूपधातु : रूपावचर ६ प्रकार के चित्त अर्थात् दो कुशल, एक क्लिष्ट (निवृताव्याकृत), ३ अनिवृताव्याकृत ।

१. प्रायोगिक कुशल

के अनन्तर १२ : (१-६) स्वधातु के ६, (७-९) कामधातु के तीन—प्रायोगिक कुशल, उपपत्तिलाभिक कुशल, अभिज्ञाफल; (१०) आरूप्यावचर प्रायोगिक; (११-१२) शैक्ष और अशैक्ष ।

१० के अनन्तर : (१-४) ऐर्यापथिक और विपाकज को वर्जित कर स्वधातु के चार; [३२३] (५-६) कामधातु के दो—प्रायोगिक और अभिज्ञाफल; (७-८) आरूप्यधातु के दो—प्रायोगिक और निवृताव्याकृत; (९-१०) शैक्ष और अशैक्ष ।

२ उपपत्तिलाभिक कुशल

के अनन्तर ८ : (१-५) अभिज्ञाफल को वर्जित कर स्वधातु के ५; (६-७) कामधातु के दो—अकुशल और निवृताव्याकृत;^१ (८) आरूप्यधातु का निवृताव्याकृत ।

अभिज्ञाफल से अन्यत्र स्वधातु के ५ के अनन्तर ।

^१ रूपावचर अन्तराभव का प्रथम चित्त ।

३. निवृताव्याकृत

के अनन्तर ९ : (१-५) अभिज्ञाफल से अन्यत्र स्वधातु के पाँच; (६-९) कामधातु के चार—२ कुशल, २ विलुप्त ।

११ के अनन्तर : (१-५) अभिज्ञाफल से अन्यत्र स्वधातु के ५; (६-८) कामधातु के तीन—उपपत्तिलाभिक, ऐर्यापथिक, विपाकज; (९-११) प्रायोगिक को वर्जित कर आरूप्यधातु के तीन ।

४-५. विपाकज और ऐर्यापथिक

के अनन्तर सात : (१-४) प्रायोगिक और अभिज्ञाफल को वर्जित कर स्वधातु के चार; (५-६) कामधातु के दो—अकुशल और निवृताव्याकृत; (७) आरूप्यधातु का एक—निवृताव्याकृत ।

अभिज्ञाफल को वर्जित कर स्वधातु के, पाँच के अनन्तर ।

६. अभिज्ञाफल

के अनन्तर स्वधातु के दो—प्रायोगिक और अभिज्ञाफल ।

पूर्ववत् दो के अनन्तर ।

३. आरूप्यधातु : आरूप्यावचर चार प्रकार का चित्त अर्थात् दो कुशल, निवृताव्याकृत, विपाकज ।

१. प्रायोगिक कुशल

के अनन्तर सात : (१-४) स्वधातु के चार; (५) रूपधातु का प्रायोगिक; (६-७) शैक्ष और अशैक्ष ।

६ के अनन्तर : (१-३) विपाकज से अन्यत्र स्वधातु के तीन; (४) रूपावचर प्रायोगिक; (५-६) शैक्ष और अशैक्ष ।

२. उपपत्तिलाभिक कुशल

के अनन्तर सात : (१-४) स्वधातु के चार ; (५) रूपावचर निवृताव्याकृत; (६-७) कामावचर अकुशल और निवृताव्याकृत ।

[३२४] स्वधातु के चार के अनन्तर ।

३. निवृताव्याकृत

के अनन्तर ८ : (१-४) स्वधातु के चार; (५-६) रूपावचर प्रायोगिक और निवृताव्याकृत; (७-८) कामावचर अकुशल और निवृताव्याकृत ।

इन १० के अनन्तर : (१-४) स्वधातु के चार; (५-१०) रूपकामावचर उपपत्तिलाभिक, ऐर्यापथिक, विपाकज ।

४. विपाकज

के अनन्तर ६ : (१-३) प्रायोगिक को वर्जित कर स्वधातु के तीन; (४) कामावचर निवृताव्याकृत; (५-६) कामावचर अकुशल और निवृताव्याकृत ।

स्वधातु के चार के अनन्तर ।

(४) दो अनास्रव-चित्त :

१. शैक्ष

के अनन्तर ६ : (१-३) तीन धातुओं के प्रायोगिक; (४) कामावचर उपपत्तिजाभिक; (५-६) शैक्ष और अशैक्ष ।

इन ४ के अनन्तर : (१-३) तीन धातुओं के प्रायोगिक ; (४) शैक्ष ।

२. अशैक्ष ।

के अनन्तर पाँच : एक शैक्ष का परित्याग कर अशैक्षानन्तर ५ ।

पाँच के अनन्तर : (१-३) तीन धातुओं के प्रायोगिक, (४-५) शैक्ष और अशैक्ष ।

३. सूचना ।

ए. विपाकज, ऐर्यापथिक और शैल्पस्थानिक कामावचर प्रायोगिक के अनन्तर उत्पन्न होते हैं । किस कारण से इसका विपर्यय सत्य नहीं है ?

विपाकज प्रायोगिक के अनुकूल नहीं है क्योंकि यह दुर्बल है, क्योंकि इसकी प्रवृत्ति बिना यन्त्र के होती है (अनभिसंस्कारवाहित्वात् = अयत्नेन प्रवृत्तेः) [व्या २४६.४]

ऐर्यापथिक और शैल्पस्थानिक प्रायोगिक के अनुकूल नहीं हैं क्योंकि उनकी प्रवृत्ति ईर्यापथ और शिल्प के अभिसंस्करण में है । (ईर्यापथशिल्पाभिसंस्करणप्रवृत्तत्वात्) [व्या २४५. ३३]

इसके विपरीत निष्क्रमण-चित्त अनभिसंस्कारवाही (=अन.भोगवाही [व्या २४६.१६]) है । यह चित्त विपाकज आदि किसी स्वभाव का हो सकता है । इस चित्त से योगी श्रुत, निष्ठा [३२५] आदि प्रायोगिक चित्त-प्रवाह से निष्क्रमण करता है । अतः निष्क्रमण-चित्त का प्रायोगिकचित्त के अनन्तर उत्पाद हो सकता है ।

बी. आक्षेप—यदि प्रायोगिक इसलिये विपाकज आदि के अनन्तर नहीं उत्पन्न होता क्योंकि यह उसके अनुकूल नहीं है तो क्लिष्ट के अनन्तर भी वह उत्पन्न नहीं होना क्योंकि क्लिष्ट विगुण धर्म है ।

क्लिष्ट प्रायोगिक का विगुण है । तथापि जब योगी क्लेश-समुदाचार के परिज्ञान ने क्लेश-समुदाचार से परिखिन्न होता है तब प्रायोगिक का उत्पाद होता है ।

सी. कामावचर उपपत्तिप्रतिलम्बिक कुशल पटु है । अतः यह दो अनास्रव और कामावचर प्रायोगिक के भी अनन्तर उत्पन्न हो सकता है । किन्तु क्योंकि यह अनभिसंस्कारवाही है इसलिये इसके अनन्तर यह चित्त नहीं उत्पन्न होते ।

कामावचर उपपत्तिप्रतिलम्बिक कुशल पटु है । इसलिये यह कामावचर क्लिष्ट के अनन्तर

उत्पन्न हो सकता है। किन्तु रूपावचर उपपत्तिप्रतिलम्भिक कुशल पटु नहीं है और इसलिये वह आरूप्यावचर क्लिष्ट के अनन्तर उत्पन्न नहीं हो सकता।

४. चित्त एक दूसरे के अनन्तर उत्पन्न होते हैं। वह मनस्कारवश (मनसिकरण) उत्पन्न होते हैं। अतः मनस्कार का उपक्षेप करते हैं।

(१) तीन मनस्कार हैं :

१. स्वलक्षण-मनस्कार—यह स्वलक्षण का मनस्करण है। यथा यह संतीरण “रूप का लक्षण रूपण है . . . विज्ञान का लक्षण प्रतिविज्ञप्ति है” (१. १३, १६)।

२. सामान्यलक्षण-मनस्कार—यह अनित्यता आदि सत्य के १६ आकार से संप्रयुक्त है : “संस्कृत धर्म अनित्य हैं।” (७. १० देखिये)।

३. अधिमुक्ति-मनस्कार—यह मनस्कार पूर्व दो मनस्कारों के तुल्य भूतार्थ से संप्रयुक्त नहीं है। यह अधिमुक्ति से प्रवृत्त होता है (अधिमुक्त्या . . . मनस्कारः, पृ. १५४ देखिये)। [३२६] अशुभा (६. ९)^१, अप्रमाण (८. २९), विमोक्ष (८. ३२), अभिम्वायतन (८. ३४), कृत्स्नायतन (८. ३५) आदि भावनाओं में इसका प्राधान्य है।

[प्रथम आचार्यों के अनुसार जिन्हें विभाषा, ११ उद्धृत करती है] इन तीन मनस्कारों के अनन्तर आर्यमार्ग का सम्मुखीभाव हो सकता है और विपर्यय से आर्यमार्ग के अनन्तर इन तीन मनस्कारों का उत्पाद हो सकता है। यह मत इस वचन पर आश्रित है : “वह अशुभासहगत (अर्थात् : अनन्तर) स्मृतिसंबोध्यंग की भावना करता है।”^२

[विभाषा के तृतीय आचार्यों के अनुसार] सामान्यलक्षण-मनस्कार के अनन्तर ही मार्ग का सम्मुखीभाव हो सकता है; मार्ग के अनन्तर तीन मनस्कार का उत्पाद हो सकता है।—प्रथम आचार्यों के उक्त वचन का यह अर्थ लेना चाहिये कि अशुभा भावना से चित्त का दमन कर योगी सामान्यलक्षण-मनस्कार के उत्पाद में समर्थ होता है और सामान्य-मनस्कार के अनन्तर वह आर्यमार्ग का सम्मुखीभाव करता है। सूत्र का अभिप्राय अशुभा भावना की इस पारम्पर्येण क्रिया से है। सूत्र वचन है : अशुभासहगतम् . . . ।

[विभाषा के चतुर्थ आचार्यों के अनुसार] सामान्यलक्षण-मनस्कार के अनन्तर ही योगी मार्ग का सम्मुखीभाव कर सकता है; पुनः आर्यमार्ग के अनन्तर सामान्य-मनस्कार का ही सम्मुखीभाव होता है।

आचार्य तृतीय आचार्यों का प्रतिषेध करते हैं।—यथार्थ में हम देखते हैं कि जो योगी अना-

^१ यथानिश्चय-धारणा के बल से योगी काय को यथाभूत नहीं देखता। वह उसको पूति अस्थि-मात्र का बना देखता है। यह अशुभा भावना है। यथा ऋद्धियों के (७. ४८) अभिनिर्हार कर्म योगी कल्पना करता है कि पृथिवीधनु परीत है, अब्धातु महत् है (दीघ, २. १०८ से तुलना सीजिये)।

^२ स्युक्तागम, २७, १५ : अशुभासहगतं स्मृति संबोध्यङ्ग भावयति [व्या २४७. ६]—मृति आर्यमार्ग में संगृहीत है; सहगत का अर्थ है ‘अनन्तर’।

गम्यादि (अनागम्य, प्रथमध्यान, ध्यानान्तर) भूमिभय के साथ ही प्रयोग (देखिये) में, सम्यक्त्वनियाम में, अवक्रान्त होता है या भाग में अवक्रान्त होता है [३२७] कामावचर सामान्यलक्षण-मनस्कार का प्रयोग प्रयोग में लाया जाता है किन्तु जब योगी द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ ध्यान के समय में मनस्कार प्रयोग में लाता है तो आर्यमार्ग से व्युत्थान कर जिस सामान्यलक्षण-मनस्कार का प्रयोग करता है वह भूमि का हो सकता है? कामावचर सामान्य लक्षण-मनस्कार का प्रयोग प्रयोग में लाया जाता है क्योंकि काम ऊर्ध्व ध्यानों से अतिविप्रकृष्ट है। द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ ध्यान में कामावचर सामान्यलक्षण-मनस्कार का भी संमुखीकरण शक्य नहीं है क्योंकि निर्वेधभागीय से कामावचर सामान्यलक्षण-मनस्कार का प्रयोग) इस मनस्कार का उसने पहले प्रतिफल नहीं लिया था। और फिर निर्वेधभागीय का पुनः संमुखीभाव नहीं कर सकता क्योंकि जिसने फल का प्रयोग नहीं किया है उसे फल का पुनः संमुखीभाव युक्त नहीं है।

किन्तु यह कहा जायगा कि अन्य सामान्य-मनस्कार है जिसकी भावना निर्वेधभागीय के साथ की गई है, जो तज्जातीय हैं [क्योंकि वह सत्य को आलम्बन बनाता है किन्तु वह उनसे इसमें भिन्न है कि वह १६ आकारों को आलम्बन नहीं बनाता] : यथा “सर्व मनस्कार अनात्म हैं”, “सर्व धर्म अनात्म हैं”, “निर्वाण शान्त है” (यह सामान्य-मनस्कार है क्योंकि यह यथोक्तियों को आलम्बन बनाता है) — योगी आर्यमार्ग से व्युत्थान कर इस दूसरे प्रकार के सामान्य-मनस्कार का संमुखीभाव करेगा।

वैभाषिक इसका वर्णन नहीं करते क्योंकि यह अयुक्त है। [वास्तव में तज्जातीय-मनस्कारों की भावना निर्वेधभागीयों से प्रतिबद्ध है] (विभाषा, ११, ९)।

[यथार्थ वाद यह है कि आर्यमार्ग के अनन्तर तीन मनस्कारों का प्रयोग हो सकता है।] जब अनागम्य का निश्चय लेकर (विभाषा, ११, १०) अहं-फल का प्रतिफल होता है या व्युत्थान-चित्त अनागम्यभूमिक या कामभूमिक होता है। जब आकिंचन्य का निश्चय हो उसी फल का प्रतिफल लाभ होता है तो व्युत्थान-चित्त आकिंचन्यभूमिक या भावार्थिक (नेमज्जानानभावना ५१) [३२८] होता है। जब इसी फल का प्रतिफल शेष भूमि का निश्चय हो उसी फल का व्युत्थान-चित्त स्वभूमिक ही होता है।

(२) चार प्रकार का मनस्कार है : उपपत्तिप्रातिर्लम्भिक, श्रुतमय, चिन्तामय, भावनामय। कामधातु में प्रथम, द्वितीय और तृतीय ही संभव हैं क्योंकि भावना धानावस्था नहीं है। रूपधातु में प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ ही संभव हैं क्योंकि इस धातु में चिन्ता करता है वह ध्यान-समापन्न हो जाता है। आरूप्यधातु में प्रथम और चतुर्थ ही संभव हैं। अतः ८ मनस्कार हैं—३, ३ और २ (विभाषा, ११, ९)।

किसी भी धातु के उपपत्तिप्रातिर्लम्भिक-मनस्कार के अनन्तर आर्यमार्ग का प्रयोग प्रयोग नहीं होता क्योंकि आर्यमार्ग प्रयोगप्रतिबद्ध है। अतः कामधातु के दो, रूपधातु के दो, आरूप्य-

धातु का एक, इन पाँच मनस्कारों के अनन्तर आर्यमार्ग का उत्पादन होता है।—किन्तु आर्य-मार्ग के अनन्तर कामावचर उपपत्तिप्राप्तिलम्बिक-मनस्कार उत्पन्न हो सकता है क्योंकि यह पटु है।

क्लिष्टे त्रैधातुके लाभः षण्णां षण्णां द्वयोः शुभे ।

त्रयाणां रूपजे शैक्षे चतुर्णां तस्य शेषिते ॥७३॥

जब १२ प्रकार के चित्तों में से (२. ६७) किसी एक का संमुखीभाव होता है तो कितने चित्तों का लाभ (प्रतिलम्ब) होता है ?

७३ ए-बी. त्रैधातुक क्लिष्ट के साथ यथाक्रम ६, ६, २ चित्त का लाभ होता है ।^१

‘लाभ’ से अभिप्राय उसके समन्वागम के लाभ का है जो पूर्व असमन्वागत था।

(१) कामावचर क्लिष्ट-चित्त के साथ ६ चित्तों का लाभ।

ए. कामावचर कुशल-चित्त का लाभ (१) जब विचिकित्सा संप्रयुक्त क्लिष्ट (४. ८० सी) चित्त से कुशलमूल का प्रतिसंधान होता है; (२) जब परिहाणितः ऊर्ध्व धातु से कामधातु में प्रत्यागमन होता है (धातुप्रत्यागमन)। प्रतिसन्धि-चित्त अवश्य क्लिष्ट (३. ३८) होता है; [३२९] वह इस चित्त के साथ कामावचर कुशल-चित्त का लाभ करता है क्योंकि वह पूर्व उससे असमन्वागत था ।^२

बी-सी. कामावचर अकुशल और निवृताव्याकृत चित्त का लाभ (१) जब ऊर्ध्व धातु से परिहीण हो कामधातु में प्रत्यागमन होता है; क्योंकि तब इन दो चित्तों में से उसका लाभ होता है जिसका संमुखीभाव होता है; (२) जब कामवैराग्य से परिहाण होती है।

डी. रूपावचर निवृताव्याकृत चित्त का लाभ, जब वह आरूप्यधातु से कामधातु में परिहीण होता है। कामावचर क्लिष्ट प्रतिसन्धि-चित्त के साथ वह रूपावचर निवृताव्याकृत चित्त का लाभ करता है।

ई-एफ. आरूप्यावचर निवृताव्याकृत चित्त और शैक्षचित्त का लाभ, जब वह कामावचर चित्त से अर्हत्व से परिहीण होता है।

(२) रूपावचर क्लिष्ट चित्त के साथ ६ चित्तों का लाभ।

कामावचर अनिवृताव्याकृत चित्त (निर्माणचित्त) और रूपावचर तीन चित्त का लाभ, जब आरूप्यधातु से रूपधातु में परिहाण होती है।

आरूप्यावचर निवृताव्याकृत चित्त और शैक्षचित्त का लाभ, जब रूपावचर चित्त से अर्हत्व से परिहाण होती है।

^१ क्लिष्टे त्रैधातुके लाभः षण्णां षण्णां द्वयोः [व्या २४८. १२]

^२ विभाषा में इसका विचार किया गया है कि क्या कुशल-चित्त जिसका लाभ इस प्रकार होता है केवल उपपत्तिप्राप्तिलम्बिक है या प्रायोगिक भी है।

(३) आरूप्यावचर क्लिष्ट चित्त के साथ आरूप्यावचर निवृताव्याकृत चित्त और शैक्षचित्त का लाभ : जब आरूप्यावचर चित्त से अर्हत्व से परिहाणि होती है ।

७३ बी-सी. रूपावचर कुशलचित्त के साथ तीन का लाभ ।^१

रूपावचर कुशलचित्त के संमुखीभूत होने पर तीन चित्तों का लाभ : उसी रूपावचर कुशल का लाभ, कामावचर और रूपावचर अनिवृताव्याकृत चित्त का लाभ—अर्थात् दो धातुओं के निर्माणचित्त का लाभ ।

[३३०] ७३ सी-डी. शैक्ष चित्त के साथ चार का लाभ ।^१

जब प्रथम शैक्षचित्त का अर्थात् दुःखे धर्मज्ञानक्षान्ति का (६.२५ डी) संमुखीभाव होता है तब चार चित्तों का लाभ होता है : (१) वही शैक्षचित्त, (२-३) कामावचर और रूपावचर (निर्माणचित्त) अनिवृताव्याकृत दो चित्त, (४) आरूप्यावचर कुशलचित्त : आर्य-मार्ग के योग से वह मार्ग में (नियामावक्रान्ति ६.२६ ए) प्रविष्ट है और काम-रूप-धातु से विरक्त है।

७३ डी. शेष चित्तों के साथ उन्हीं चित्तों का लाभ ।^१

जिस चित्त का लाभ व्याख्यात नहीं है उसके संमुख होनेपर केवल उसी चित्त का लाभ होता है ।

एक दूसरे मत के अनुसार धातुओं का भेद किये बिना हम यह कह सकते हैं कि :

“यह स्मृत है कि क्लिष्ट-चित्त के साथ ९ चित्तों का लाभ, कुशल-चित्त के साथ ६ का लाभ, अव्याकृत-चित्त के साथ अव्याकृत-चित्त का लाभ होता है ।”^{१३}

कुशल-चित्त के साथ सात का लाभ होता है, ६ का नहीं, ऐसा कहना चाहिये । जब पुद्गल सम्यग्दृष्टि (४.८०) से कुशल-मूल का प्रतिसन्धान करता है तब वह कामावचर कुशल-चित्त का लाभ करता है। जब वह कामधातु से विरक्त होता है तब वह दो अनिवृताव्याकृत, कामावचर और रूपावचर निर्माणचित्त का लाभ करता है । जब वह रूपावचर और आरूप्यावचर समाधि

^१ [शुभे । त्रयाणां रूपजे] ।

^१ [शैक्षे चतुर्णाम्] [व्या २४९.२४]

^२ [तस्य चाधिके ॥]

^३ यह धर्मत्रात के ग्रन्थ की एक कारिका है, नैज्जियो १२८७, फ़ोलियो ८६ ए १७ :

“यदि कोई ९ प्रकार के धर्मों का लाभ करता है तो जानना चाहिये कि यह क्लिष्ट-चित्त के साथ है । कुशलचित्त ६ प्रकार के चित्त का लाभ करता है; अव्याकृत-चित्त अव्याकृत का ।” (संघवर्मन् का अनुवाद) । परमार्थ : “जब क्लिष्ट-चित्त का उत्पाद होता है तो कहा जाता है कि ९ प्रकार के चित्तों का लाभ होता है । कुशल-चित्त के साथ . . . ।”

व्याख्या में तृतीय पाद है :

[लाभः स्यान्नवचित्तानां क्लिष्टे चित्त इति स्मृतम् ।] [व्या २५१.१७]

षण्णां तु कुशले चित्ते [तस्यैवाव्याकृतोद्भवे ॥] [व्या २५१.३४; पाठान्तर-तस्यैवाव्याकृते खलु]

[३३१] का लाभ करता है तब वह इन दो धातुओं के कुशल-चित्त का लाभ करता है । न्याय-मावक्रान्ति में शैक्षचित्त का लाभ; अर्हत्वफल में अशैक्षचित्त का लाभ ।

शेष दो चित्तों के लिये प्रतिलब्ध चित्तों की गणना हमारे पूर्वोक्त व्याख्यान से जानना चाहिये । इस पर एक संग्रह श्लोक है :

“उपपत्ति, समापत्ति, वैराग्य, परिहाणि, कुशलमूलप्रतिसंधान पर पुद्गल उन चित्तों का लाभ करता है जिनसे वह असमन्वागत था ।”^१

^१ उपपत्तिसमापत्तिवैराग्यपरिहाणिषु ।

कुशलप्रतिसन्धौ च चित्तलाभो [ह्य] तद्वत्तः ॥ [व्या २५२.१७]

प्रकाशकीय

आचार्य वसुबन्धु के प्रसिद्ध ग्रंथ अभिधर्मकोष के इस हिंदी रूपांतर को दस खंडों में प्रकाशित करने की हिंदुस्तानी एकेडेमी की योजना है।

पहला खंड भूमिका-भाग होगा। दूसरे से नवें खंडों में ग्रंथ के आठ कोशस्थान रहेंगे। अंतिम खंड परिशिष्ट-खंड होगा जिसमें अनुक्रमणी भी रहेगी। ग्राहक संपूर्ण ग्रंथ ही खरीद सकेंगे। खरीदारी की विशेष सुविधा के लिए जानकारी प्रकाशक से प्राप्त की जा सकती है।